प्रकाशक :
प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय
पाण्डव भवन, माऊण्ट आबू-307501
(राजस्थान)

पुस्तक मिलने का स्थान :
साहित्य विभाग प्र.ब्र.कु.ई.वि.वि.
पाण्डव भवन, आबू पर्वत-307501

प्रथम मुद्रण :
जनवरी, 1996 (5000)

मुद्रक :
ओम शान्ति प्रेस,
ज्ञानामृत भवन,
शान्तिवन, तलहटी
आबू रोड-307026

नैतिक मूल्यों के संदर्भ में आत्मा और परमात्मा के बारे में चर्चा

हरेक वस्तु का माप-तोल किसी निश्चित पैमाने का प्रयोग करके ही किया जाता है। उदाहरण के तौर पर फ़ास्ले का माप मीटर, मिलीमीटर, इंच या गिरह इत्यादि के मान (पैमाने) से होता है। समय की पैमाइश (मान) सैकण्ड, क्षण, उन्मेष इत्यादि के प्रयोग से होता है। इसी प्रकार, उत्तर-दक्षिण की चर्चा भूमध्य रेखा (Equator) के हिसाब से होती है। यद्यपि भूमि के अक्ष (Axis) अथवा धुरी को काटती हुई दो बराबर भागों में बांटने वाली कोई रेखा भूमि पर लगी हुई नहीं है, तो भी भूगोल और खगोल में ऐसी रेखा का अनुमान कर के ही उत्तर और दक्षिण की चर्चा की जाती है। जो नगर या देश भूमध्य रेखा के ऊपर की ओर हैं, उन्हें हम उत्तर में और जो नीचे की ओर हैं, उन्हें हम दक्षिण में मानते हैं। रेखा-गणित (Geometry) में भी X रेखा (X-axis) और Y रेखा (Y-axis) को अंकित कर के ही पूर्व और पश्चिम या प्लस + (Plus) और माईनस - (Minus) की चर्चा करते हैं। यदि हम ऐसा न करें तो हम कैसे कह सकते हैं कि कौन-सा स्थान कितना पूर्व या कितना पश्चिम में हैं? ठीक इसी तरह मेरीडियन रेखा (Meridian; खमध्य) रेखा अनुमानित करते हैं। ग्रीनविच (Greenwich) नामक स्थान से गुज़रती हुई जो रेखा उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव को जाती है और अक्ष रेखा (Equator) को बीचों-बीच काटती है, उसको हम ``0 बजे'' (0 Hrs.) मानकर देश-विदेश के समय को आगे या पीछे मापते हैं और नगरों तथा देशों को पूर्व या पश्चिम में मानते हैं। यदि इस प्रकार का कोई सिल्सिला न बना हुआ हो तो हम कैसे कहेंगे कि लंडन भारत से पश्चिम की ओर है और जापान पूर्व की ओर तथा श्रीलंका दक्षिण की ओर है और तिब्बत उत्तर की ओर और कि लंडन का समय भारत के समय से लगभग 5 घण्टे पीछे का होता है और जापान का समय भारत से इतने घण्टे पहले का होता है? सूर्य जिधर पहले दिखाई देता है, उसे हम पूर्व कहते हैं और जिधर जितना बाद में दिखाई देता है, उसे उतना पश्चिम में मानते हैं। कहने का भाव यह है कि कोई माप-तोल निश्चित करना पड़ता है और उसकी तुलना में ही हम दूसरे किसी स्थान, समय और वस्तु इत्यादि के बारे में कुछ तथ्य कह पाते हैं।

एक बात पर और विचार कीजिए। दिल्ली महानगर उत्तर भारत में है, परन्तु कश्मीर दिल्ली के भी उत्तर में है। भोपाल भूमध्य रेखा के अनुसार तो उत्तर में है, परन्तु यदि भूटान के विचार से पूछा जाए तो भोपाल भूटान के दक्षिण में, भारत में स्थित है। हमारे केन्द्र में एक कमरा सब से बड़ा है परन्तु दूसरे केन्द्र के सभागृह की तुलना में वह छोटा है। इस प्रकार, बड़ा-छोटा, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, हल्का-भारी इत्यादि किसी निश्चित विन्दु या माप-दण्ड के आधार पर ही कहे जाते हैं। **यदि कोई भी विन्दु स्थिर न किया जाए तो कहाँ से किस ओर को हम 'उत्तर' या 'दक्षिण' कह सकेंगे? पाउण्ड, किलो, मील-किलोमीटर, 0 अक्षांश इत्यादि निश्चित कर के ही आगे चर्चा की जाती है। धन-राशि के लिये भी रुपया-पैसा या डालर-सैन्टस् (Cents) या पाउन्ड, पैन्स (Pence) इत्यादि कोई सिक्का निश्चित होता है। यदि मापने का कोई आधार (Frame of reference) ही न हो तो भूगोल, खगोल, भौतिकी (Physics), अर्थ-शास्त्र (Economics) इत्यादि किसी भी अध्ययन-क्षेत्र में हम कुछ गिनती या चर्चा नहीं कर सकेंगे।**

अच्छाई और बुराई का उद्धरण-बिन्दु

ठीक इसी प्रकार, हम जब 'अच्छाई' और 'बुराई' की चर्चा करते हैं, तब उसका भी तो कोई पैमाना या उद्धरण-बिन्दु (Point of reference) होना चाहिये। कोई मान (Referal point) निश्चित किये बिना हम अच्छे-बुरे की बात कैसे कर सकेंगे? 'अल्लाह बख्श' नामक एक व्यक्ति अच्छा है और 'रहीम' नामक व्यक्ति 'अल्लाह बख्श' से भी अच्छा है परन्तु 'मुसीबत हुसैन' 'अल्लाह बख्श' से ख़राब है। 'अल्लाह बख्श' को हमने तुलना के लिये बिन्दु (Point of reference) मानकर ही तो किसी को 'अच्छा' और किसी को 'बुरा' कहा न? इस दृष्टि से हम पूछते हैं कि संसार में सभी व्यक्ति एक-समान 'अच्छे' या 'बुरे' तो हैं नहीं और हरेक व्यक्ति सभी के बारे में जानता भी नहीं, तब हम 'अच्छाई'-'बुराई' की चर्चा किस को सामने रखकर या किस को तुलना-बिन्दु (Referal Point) मानकर करें? यदि मैं आपको कहूँ कि 'करीम' नाम वाला व्यक्ति सब से अच्छा मुसलमान है, तो आप पूछेंगे कि करीम कौन है और उसमें कितनी अच्छाई है? यह 'कितनी' का प्रश्न हल कैसे किया जाए? अन्यश्च, करीम के बारे में आपको कैसे बताया जाए?

इसी अनिश्चितता के कारण नैतिक मूल्यों की चर्चा भी कैसे की जाए? हरेक मनुष्य में नैतिक मूल्यों की धारणा तो कम-ज्यादा है। *विशेष बात यह है कि जिस व्यक्ति में जितनी मात्रा में भी नैतिक गुण हैं, उस मात्रा को कैसे मापा जाए? गुणों को मापने का -सा है? भौतिकी (Physics) में सब से अधिक गति प्रकाश (Light) की आंकी*

और मानी जाती है। और उसी के हिसाब से खगोल विज्ञान (Astronomy) में सितारों के फ़ासले को आंका जाता है और चलने या उड़ने वाली चीज़ों की गति को आंका जाता है। परन्तु नैतिक मूल्यों को कैसे मापा जाए?

गुणों का या गुणवत्ता का माप-तोल

इस संदर्भ में यह जानना ज़रूरी है कि सब से अधिक या सम्पूर्ण गुणवान कौन है और उसके गुण कितनी पराकाष्ठा के हैं। इसके उत्तर में भारत की परम्परा या भारत का प्राचीन अध्यात्म यह कहता है कि श्री नारायण और श्री लक्ष्मी ही गुणवान नर-नारियों में सम्पूर्ण अथवा सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। उनकी गुणवत्ता को 16 कला (16 degree) कहा गया है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये श्री राम और श्री सीता की गुणवत्ता को 14 कला (14 degree) कहा गया है। वस्तुतः, 'कला' (Degree) को स्पष्ट करने के लिये चन्द्रमा के हर रात्रि को बढ़ते हुए प्रकाश की मात्रा या दृश्यमान रेखा को 'कला' कहा गया है। परन्तु आज जो लोग नैतिक मूल्यों की या दिव्यगुणों की चर्चा करते हैं या मनुष्य के व्यक्तित्व विकास (Human resource development) के बारे में बात करते हैं, वे गुणवत्ता या नैतिकता के माप की तो बात ही नहीं करते क्योंकि उन्हें किसी भी ऐसे सम्पूर्ण मानव का पता ही नहीं है जिसमें सभी गुणों का उत्कर्ष हो चुका हो। पुनश्च, उन्हें प्रजापिता ब्रह्मा और जगदम्बा सरस्वती के बारे में यह पता नहीं कि उन्होंने मानव जीवन में सभी नैतिक मूल्य पूर्णतः से धारण किये थे जिनके फलस्वरूप वे ही श्री नारायण और श्री लक्ष्मी पद को प्राप्त हुए थे।

सद्गुणों का स्रोत कौन है?

इसके अतिरिक्त, उन्हें यह भी ज्ञान नहीं है कि जैसे प्रकाश का स्रोत सूर्य है, वैसे ही सद्गुणों का [illegible] स्रोत कौन है? श्री नारायण और श्री लक्ष्मी को भी इन गुणों की प्राप्ति किस से हुई थी, कैसे हुई? जैसे प्रकाश की गति (Speed or Velocity of light) सब से अधिक है, वैसे ही [illegible] कौन है? यद्यपि लोग कहते हैं कि [illegible] सभी गुणों का [illegible] है, परन्तु [illegible] के उत्तर में वे [illegible] नहीं देते।

परन्तु हमें [illegible] कि जैसे प्रकाश [illegible] है और [illegible] अध्यात्म में परमात्मा [illegible]

हैं कि परमात्मा एक सदा-जागति ज्योति है, स्व-प्रकाश (Self-luminous) है, अल्लाह या खुदा एक नूर-ए-रूहानी (Spiritual-light) है, गॉड एक अविनाशी प्रकाश है (God is eternal light), परन्तु उस प्रकाश का स्व-रूप क्या है? — इसके विषय में वे स्पष्ट नहीं जानते। **यदि सभी इस सत्यता को जान लें कि परमात्मा, खुदा, गॉड व वाहे गुरु एक 'ज्योति-बिन्दु' है जो कि सद्गुणों का अनादि-अविनाशी सिन्धु है तो फिर कोई समस्या नहीं रह जाती। तब तो नैतिक मूल्यों अथवा सद्गुणों का एक सर्व-मान्य स्थल या आश्रय-बिन्दु (Point of reference) मिल जाता है। उसी को सामने रखकर हम अच्छाई-बुराई की और नैतिक मूल्यों की चर्चा कर सकते हैं। परन्तु खेद है कि आज लोग परमात्मा की चर्चा को एक ओर रखकर नैतिक मूल्यों की चर्चा करते हैं।**

दूसरी बात यह है कि मनुष्य के कर्म (actions) अन्य प्रकार की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से भिन्न हैं। भौतिकी (Physics) में हम जिन क्रियाओं (actions) की चर्चा करते हैं, वे फ़िज़िकल एक्शन (Physical actions) हैं। रसायन विज्ञान (Chemistry) में हम जिन क्रियाओं की चर्चा करते हैं, वे केमिकल (Chemical) क्रियाएं हैं। इंजिनियरिंग में हम जिन क्रियाओं की चर्चा करते हैं वे मेकेनिकल (Mechanical), इलैक्ट्रिकल (Electrical) इत्यादि क्रियाएं होती हैं। उन क्रियाओं का नैतिक मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। **मनुष्य जो अपनी कर्मेन्द्रियों का प्रयोग करता है या पूर्वोक्त किसी क्रिया का प्रयोग करता है, उसका सम्बन्ध नैतिक मूल्यों से है, क्योंकि मनुष्य में सोचने और निर्णय करने की योग्यता है और उसमें संवेग (emotions) भी हैं तथा सीखने की योग्यता (Memory) भी है और उसमें 'भलाई' और 'बुराई' का इरादा (intention या motive) भी होता है।** इसलिये, मनुष्य एक नैतिक योग्यता वाला प्राणी है। वह चेतन है। चेतन उसे कहते हैं जिसमें पूर्वोक्त योग्यताएं हैं। प्रकृति की किसी भी वस्तु में या उसके किसी भी तत्व में यह क्षमता नहीं है। इसलिये वह 'अचेतन' या जड़ है। उनका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। चेतन होने के कारण मनुष्य में अनुभवशीलता (feeling or experience) की योग्यता है। अत: उसे सुख-दु:ख की अनुभूति होती है। हम चेतन मनुष्य ही से आशा करते हैं कि वह अच्छाई-बुराई को सोचकर कर्म करे ताकि न उसे अर्थात् स्वयं को दु:ख हो, न ही उससे किसी दूसरे को दु:ख हो। **अत: नैतिक मूल्यों के प्रसंग में चेतन 'आत्मा' की चर्चा करना ज़रूरी है। चेतना (consciousness) के बिना नैतिकता की चर्चा करना ही व्यर्थ है।**

एक बात और है। हरेक छोटा बच्चा भी कुछ संस्कार लिये होता है। एक ही घर में लालन-पालन मिलने के बावजूद भी दो एक-साथ-जन्में शिशुओं (Twins) के स्वभाव तथा कर्मों में भी अन्तर होता है। **उन संस्कारों को सुधारना भी नैतिक मूल्यों की**

धारणा में सम्मिलित है। हरेक के संस्कारों को ध्यान में रखे विना उसे भला नैतिक शिक्षा कैसे दी जा सकती है? संस्कारों को सुधारे-विना भी कोई व्यक्ति नैतिकता-सम्पन्न कैसे वन सकता है? संस्कारों की बात जड़ पदार्थों के प्रसंग में तो हो ही नहीं सकती; यह तो चेतन आत्मा ही के प्रसंग में हो सकती है जिंसने कि पहले भी जन्म लिया हो और कर्म किये हों और उनके आधार पर कुछ आदतें बनाई हों। अतः जन्म-पुनर्जन्म लेने वाली चेतन-सत्ता (आत्मा) को माने और समझे विना नैतिक मूल्यों की चर्चा करने से कोई चिरस्थायी और पूर्ण लाभ नहीं हो सकता।

अन्यश्च, यदि पुनर्जन्म को न माना जाए तो प्रश्न उठता है कि 'अनैतिक' अथवा 'बुरे' कर्म करने के बाद यदि कोई व्यक्ति मर गया तो उसका क्या होगा? जीते-जी वह चोरी करके घी खाता रहा, बढ़िया मकान बनाता रहा, हवाई जहाज़ों में सैर करता रहा, लोगों को लूटता-खसूटता और दु:खी करता रहा, तो क्या वह अब दण्ड पाये बिना यों ही शरीर से फ़रार (absent) होकर कहीं रूपोश (hide; underground) हो जाएगा? तब तो नैतिकता का पाठ हम किसी को कैसे पढ़ा सकेंगे? यदि बुराई में ही लाभ है तो अच्छा बनना मूर्खता है। यदि हम किसी ऐसी चेतन सत्ता को मानते होंगे जो कि जन्म पुनर्जन्म लेती होगी और अपने नैतिक कर्मों के फलस्वरूप सुख अथवा अपनी अनैतिकता के कारण दु:ख भोगती होगी, तभी तो उसीके लिये ही नैतिक शिक्षा देना विवेक-सम्मत और सप्रयोजन है? परन्तु खेद है कि आज आत्मा और परमात्मा की बात को एक ओर रखकर नैतिक मूल्यों की चर्चा हो रही है। प्रकाश लाकर अन्धेरा मिटाने के बजाय लाठी मारकर अन्धेरे को बाहर निकालने के-जैसा पुरुपार्थ हो रहा है।

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर ही नैतिक मूल्यों और दिव्यगुणों से सम्बधित यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही हैं।

— ब्र.कु. जगदीश चन्द्र

अमृत सूची

प्रश्न सद्गुणों का

इस जीवन में कई ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं जिनमें विभिन्न प्रकार के दैवी गुणों का आपस में आमना-सामना होता है और मनुष्य को चुनना पड़ता है कि वह किस दिव्य गुण को मुख्यता दे। मान लीजिए कि हमसे कोई अन्याय करता है। हमारी उपेक्षा और अवहेलना करता है। हमें कई प्रकार के सुअवसरों से वंचित करता है अथवा हमारी प्रगति में जाने-अंजाने प्रत्यक्ष (Direct) अथवा अप्रत्यक्ष (Indirect) रीति-से बाधा बनता है या कम-से-कम हमारी बजाए दूसरों को आगे बढ़ाने की कोशिश करता है यद्यपि वे योग्यताएं स्वयं हममें अथवा अन्यान्य में भी हैं जिनकी भी जाने-अंजाने अवहेलना होती है। ऐसी परिस्थिति में दो प्रकार के दिव्य गुण सामने आते हैं। एक ओर यह विचार आ सकता है कि सहन करो। सहनशीलता से आत्मा का बल बढ़ेगा। किसी दूसरे की भूल अथवा उसके निकृष्ट कर्म को मत देखो। (See no evil) नकारात्मक (Negative) मत सोचो। जो कुछ भी होता है, उसे अपने पूर्व जन्मों का फल समझो। इसे सृष्टि-ड्रामा की भावी समझते हुए साक्षी होकर देखो। जो होता है, होता रहे, तुम निश्चिन्त रहो। सभी आत्माएं अपूर्ण हैं उनकी कम्पलेन्ट (शिकायत) न करके तुम स्वयं को सम्पूर्ण (Complete) बनाने का पुरुषार्थ करो। देहधारी आत्माओं की तरफ ध्यान न देकर सदा बाबा की ओर देखो।

दूसरी ओर मन में यह विचार आ सकता है कि यह अन्याय, अव्यवस्था अथवा प्रशासनिक त्रुटि है और इसमें सुधार होना चाहिए। इसे सहन करना अव्यवस्था अथवा त्रुटि को बढ़ावा देना है। इसे सहन करना सहनशीलता रूपी सद्गुण नहीं, बल्कि साहस का अभाव है और "मैं दूसरों को कहीं अप्रिय न लगूँ" — इस प्रकार का भय है। यह किसी देहधारी को देखने की बात नहीं बल्कि किसी की अक्षमता, अकुशलता अथवा संस्कारिक त्रुटि से हो रहे अनर्थ को ठीक करने की दिव्य चेष्टा है, संसार को भला बनाने की शुभ भावना है और संसार से अन्याय को समाप्त करने का दृढ़-संकल्प है। किसी के साथ जो अन्याय हो रहा है, उसके साथ यह सहानुभूति है और सहानुभूति का होना मानवीय कर्त्तव्य है। इसमें भाग्यविधाता की बजाए कर्मठता, क्रियाशीलता, समस्याओं को ठीक करने की भावना, आंखे मूंद लेने की बजाए जागृत होकर विघ्न-विनाशक बनने का संकल्प है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समस्या के होने पर एक पक्ष कहता है कि सहनशील बनो, किसी के अवगुण न देखो, बल्कि स्वयं सम्पूर्ण बनो। ड्रामा की भावी और कर्म सिद्धान्त को सामने रखो आदि-आदि। और ज्ञान का दूसरा पक्ष कहता है कि संसार और समाज को बेहतर बनाने की सेवा करो, विघ्न-विनाशक बनो आदि-आदि। इस प्रकार दोनों ओर दिव्य गुण ही आपस में सामना करते हुए दिखाई देते हैं। ऐसा लगता है कि अगर सहन करते हैं तो साहस मर जाता है, विघ्न का विनाश नहीं होता, बुराई न मिटकर पनपती है। इसके विपरीत यदि हम साहस करते हैं तो हमारी असन्तुष्टता प्रगट होती है। हम प्रयत्न बुराई को दूर करने का करते हैं परन्तु वह व्यक्ति ही हमसे दूर होने लगता है। हम न्याय स्थापन करना चाहते हैं परन्तु दूसरा व्यक्ति हमें अपना विरोधी मानकर एक के साथ अन्याय करते हुए हमारे साथ विरोध और करने लग पड़ता है। प्रतीत ऐसा होता है कि अगर हम दोनों में से कोई एक भी दिव्य गुण धारण करते हैं तो दूसरी ओर कोई-न-कोई बुराई उपजती है।

अत: प्रश्न उठता है कि क्या दिव्य गुणों में भी कोई मुख्य और कोई गौण है – कई परमावश्यक (Basic), कई आवश्यक (Compulsory) और कई वैकल्पिक (Optional) अथवा अनावश्यक हैं। जब किसी के साथ अन्याय होता है, तब हम उसके साथ सहानुभूति करें, साहस धारण करें, सहयोग दें या सहन करते हुए अपनी साधना तेज करें?

इस विषय में एक और बात ध्यान देने के योग्य है। वह यह कि जो विपरीत परिस्थितियाँ पैदा होती हैं अथवा विघ्न हमारे सामने आते हैं, वे किसी के मनोविकार ही से पैदा हुए होते हैं। उदाहरण के तौर पर, अगर कोई अन्याय करता है तो अवश्य ही वह पक्षपात करता है या जिसके साथ वह अन्याय करता है, उसके साथ उसका द्वेष-भाव है। अगर कोई अनजाने से अन्याय करता है, तो उसका कारण यह हो सकता है कि वह आलस्य करता है अथवा उपेक्षा करता है; वह इस बात का प्रयत्न नहीं करता कि वह थोड़ा परिश्रम करके यह मालूम कर ले कि जिस व्यक्ति को वह बार-बार प्रगति का सुअवसर देता है, उस जैसी योग्यताओं वाला कोई और भी अधिकारी (Deserving) व्यक्ति है या नहीं। कम-से-कम अन्याय करने वाले व्यक्ति को इतना तो मालूम होना ही चाहिए कि वह अन्य योग्य व्यक्तियों की जो बार-बार अवहेलना या उपेक्षा करता है, उससे वह दूसरों को उनके अधिकार से वंचित करता है और उसके जीवन के सफल होने

में रुकावट-सा बना हुआ है। बाबा ने कहा हुआ है कि चांस (Chance) लेने से व्यक्ति चांसलर (Chancellor) बनता है। अतः अगर कोई व्यक्ति किसी को चांस से वंचित करता है तो गोया वह उसके चांसलर बनने में रुकावट डालता है। इससे स्पष्ट है कि अगर कोई अनजाने से भी किसी के साथ अन्याय करता है तो उसका यह अंजानपन भी दूसरे के लिए तो घातक जैसा ही है। तो प्रश्न उठता है कि योग्य व्यक्तियों का इस प्रकार से अपने अधिकार से वंचित होते रहने के सिलसिले को बंद तो करना ही होगा न। जब हम जानते हैं कि यह पक्षपात से, द्वेष से, आलस्य से या अन्य किसी त्रुटि से ही पैदा होता है तो क्या उसका सुधार आवश्यक नहीं।

अगर यह कहा जा सकता है कि जिसके साथ अन्याय हो रहा है, उसके कर्मों की गति या हिसाब-किताब ऐसा ही होगा, तब यह भी तो कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अन्याय कर रहा है वही अब निकृष्ट कर्म कर रहा है और नया हिसाब-किताब जोड़ रहा है। सदा यही क्यूं कहा जाए कि जिसके साथ अन्याय हो रहा है, दोष उसके कर्मों का है? यह क्यों न कहा जाए कि जो अन्याय कर रहा है, दोष उसके कर्मों का है?

यह बात ठीक है कि किसी के अवगुण को न देखा जाए। संसार के हरेक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अवगुण हैं। हम उनके अवगुणों को नहीं देखते। परन्तु हम यह तो कहते हैं कि अब कलियुग है, माया का राज्य है, चहुँ ओर अंधकार है। क्या इसका यह भाव नहीं हुआ कि भले ही हम किसी व्यक्ति के अवगुण न देखें परन्तु सभी में गुण देखते हुए क्या हम यह नहीं मानते कि यह धर्म ग्लानि अथवा गुणों के ह्रास का समय है? यह जानकर कि यह आसुरी सम्पदा है, हम उनके कुसंग से बचते हैं या उनको सतसंग के द्वारा सुधारते हैं। अगर हम इस ओर ध्यान ही न दें कि संसार में दुर्गुणों का दौर चल रहा है तो हम उससे बचाव कैसे कर सकेंगे? अथवा उनको सुधारने की सेवा में कैसे तत्पर होंगे? यदि हम किसी के अवगुण को देखेंगे नहीं तो उसको सुधारेंगे कैसे?

हम लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के तो अवगुण नहीं देखते परन्तु जब किसी के दुर्गुण का डण्डा हमारे अपने सिर पर लगता है तब तो वह स्वतः ही दिखाई देता है। आगे के लिए तो हर कोई उससे बचाव करना ही चाहता है। उदाहरण के तौर पर हमें कोई पानी मिला दूध देता है। क्या हम उसके इस अवगुण को नहीं देखेंगे? जब हमारी अपनी ही खेती में से कोई फ़सल काट कर ले जाने का यत्न करता है, कोई हमारे घर में जगते हुए बल्ब को पत्थर मारकर तोड़ देना चाहता है तो क्या हम उसकी इस हरकत पर ध्यान

नहीं देते? हम उस समस्या का कैसे समाधान करते हैं? वह अलग बात है, परन्तु हम उसे समस्या तो मानते हैं और उसे समस्या मानने में हमारा ध्यान उस दूसरे की हरकत की तरफ ज़रूर जाता है।

हमने ऊपर एक ही प्रकार का उदाहरण दिया है। केवल अन्याय से पैदा होने वाली परिस्थिति में दो प्रकार के दिव्य गुणों में जो संघर्ष है अनेक प्रकार की परिस्थितियों में अलग-अलग रूप से हो सकता है। प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थितियों में क्या किया जाए?

लेख कुछ अधिक विस्तृत हो गया है। अत: संक्षेप में ही बताना ठीक होगा।

निश्चय ही यदि कहीं अन्याय होता है तो उसे तत्काल अथवा भविष्य में रोकने के लिए प्रयत्न किए जाने में कोई आपत्ति नहीं है। अगर कोई जान-बूझकर अन्याय करता है तो भी स्थिति का सुधार करने से एक तो उनका भला होगा जिसके साथ अन्याय होने की सम्भावना होगी और दूसरे उसका भी भला होगा जो पक्षपात, द्वेष अथवा अपने किसी भी हीन संस्कार के कारण अन्याय करने में प्रवृत्त है। उसके अन्याय की प्रवृत्ति का संशोधन करने से वह भी बुरे कर्मों से बच जाएगा और स्वयं हमारे द्वारा भी एक अच्छी सेवा हो जाएगी। परन्तु इसमें मुख्यत: ४ बातों का ध्यान रखना ज़रूरी है –

१. अन्याय न हो – इसके लिए प्रयत्न करते हुए हमें यह भी ख्याल रखना चाहिए कि जहाँ हम न्याय, साहस, सहानुभूति इत्यादि दिव्य गुण धारण कर रहे हैं, वहाँ हम भी अन्यायकर्त्ता के प्रति घृणा, द्वेष, क्रोध, अशुभ भावना से उत्प्रेरित न हों अथवा उकसाए न जाएं। यदि हम इन कुत्सित भावों के वशीभूत होकर स्ट्राइक, गुटबन्दी, घृणा फैलाने के कुप्रयास इत्यादि में फँस जाते हैं तो गोया हम एक दुर्गुण को दूर करते-करते अन्य दुर्गुणों को बढ़ावा देने लग जाते हैं। स्वत: सिद्ध है कि हमारा यह तरीका ग़लत है। यदि हम कटुता को छोड़कर मधुरता, घृणा को छोड़कर स्नेह, दुर्भावना को छोड़कर सद्भावना को मन में रखते हुए अन्याय का अन्त करने का प्रयत्न करते हैं तो निश्चय ही डरपोक बनकर सहन करने वाले अथवा कोरे भाग्यवादी व्यक्ति से हमारा पुरुषार्थ अच्छा है।

२. दूसरी बात यह है कि कई बार परिस्थिति ऐसी भी होती है कि उस बात को उस समय सहन करने में कल्याण होता है। सभी के सामने क़िसी क़ा अपमान न करने, अमर्यादा फैलाने के निमित्त न बनने या इस बात की खोज़ पड़ताल करने कि किसी ने जान-बूझकर अन्याय किया भी है या नहीं, या जिस द्वारा अन्याय हुआ, पहले स्वयं उसी

से दिव्यतापूर्ण बातचीत करने के लिए कई बार सहन भी कर लेना पड़ता है। गोया वहाँ साहस को प्रधानता न देकर सहनशीलता को मुख्यता देनी पड़ती है। और दूसरों के प्रति सन्मान और स्नेह और सम्बन्धों में मर्यादा को प्रधानता देना आवश्यक होता है। इनको व्यवहार में न लाने से संसार में मर्यादा नष्ट होती है, संघर्ष बढ़ता है, मन-मुटाव और मलीनता को बढ़ावा मिलता है। अतः अनेक परिस्थितियों में सामना करने की बजाए समाने के गुण को व्यवहार में अपनाना श्रेयस्कर होता है।

३. तीसरे, हमें यह भी ख्याल रखना चाहिए कि आज संसार में कहीं अन्याय हो रहा है तो कहीं असत्यता का व्यवहार, कहीं वैर-विरोध तो कहीं कटुता और कड़ी आलोचना। यदि हम इन सबको ठीक करने का ठेका अपने ऊपर ले लें तो हम साधना और योगाभ्यास को छोड़ बैठेंगे। आसुरीयता से जूझते-जूझते स्वयं हमारे जीवन में दिव्यता नष्ट होने लगेगी क्योंकि दिव्यता को जन्म और पोषण देने वाला जो योग है, उसी की ओर से हमारा ध्यान हट जाएगा और हमारा अधिकतर समय अपने जीवन में सम्पूर्णता लाने के प्रयास से परे होकर दूसरों ही को सुधारने की चेष्टा में लग जाएगा।

४. हमें यह भी ख़्याल रखना चाहिए कि कई बार केवल साहस ही नहीं, धीरज और सन्तोष भी धारण करना पड़ता है। किसी ने भूल से कोई बात कर दी तो उसकी उस भूल को भुला देना भी गुण है। धीरज़ का फल मीठा होता है और सन्तोष से स्थिति ठीक बनी रहती है। धीरज, सन्तोष, मधुरता, सद्भावना और सहनशीलता को धारण करते हुए परिस्थिति का सामना करना, सुधार करना अथवा परिवर्तन करना – यही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है।

इन बातों का ध्यान रखने से अधिकांश सद्गुण बने रहते हैं और हमारे अपने जीवन में भी आसुरीयता का प्रवेश नहीं होता। केवल सहनशीलता अधूरी है, केवल साहस भी अधूरा है और इनमें से किसी के साथ यदि कोई दुर्गुण मिल जाए तो बात और भी खराब है। अपने ही स्वार्थ को सामने रखते हुए साहस न करना और केवल सहन कर लेना अथवा अपने ही स्वार्थ के कारण सामना करना और सहनशीलता को बिल्कुल छोड़ देना – यह भी ग़लत है। सबका भला हो – उसमें हमारा भी भला हो – और उसके लिए हम सद्गुणों को अपनाते हुए विघ्न को विनाश और परिस्थिति को परिवर्तन करें – यही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है।



सभी पापों की जड़

मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के पाप-कर्म कर लेता है; सभी पाप कर्मों की जड़ विकार हैं। इन विकारों में भी **'देह-अभिमान'** नाम का जो विकार है, वह सभी पापों का मूल है। स्वयं को आत्मा की बजाय 'देह-निश्चय' करना, यही सबसे बड़ी भूल है, इससे ही अन्य सभी भूलें पैदा हुई हैं। आप नोट कीजिये कि जब मनुष्य 'देहाभिमान' के कारण 'पुरुष-पन' अथवा 'स्त्री-पन' के भान में आ जाता है तो वह 'काम' रूपी विकार के वशीभूत होता है। स्वयं को देह मानने के कारण ही अन्य देह-धारियों से मोह का सम्बन्ध जुटता है और उनके शरीर छोड़ने पर मनुष्य दुःख मनाता है। 'देह-अभिमान' के कारण ही मनुष्य स्वयं को बड़ा मानकर क्रोधान्वित होता है। इस प्रकार आज सभी **नर-नारी** देह-अभिमानी अर्थात् आसुरी स्वभाव वाले हो चुके हैं और एक दूसरे के शत्रु हो गए हैं। **देह-अभिमान ने सभी की दृष्टि, वृत्ति और स्मृति को विकारी बना दिया है।**

साधु, सन्त, महात्मा भले ही यह तो मानते हैं कि आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न सत्तायें हैं। परन्तु, वे भी प्रैक्टिकल जीवन में देह-अभिमानी ही हैं, तभी तो वे स्त्री के देह-रूपी चोले को देख मानसिक पवित्रता को स्थिर नहीं रख सकते और आत्मा को भुला देने के कारण ही वे स्त्री के निकट 'काम-विकार' से रहित नहीं रह सकते और उनमें से लगभग सभी में थोड़ा-बहुत अभिमान, लोभ और क्रोध भी होता है।

अतः यह 'देह-अभिमान' रूपी शत्रु तो आज यत्र-तत्र-सर्वत्र है। इसी कारण ये पांचों विकार ही सर्वव्यापी हैं। अब आप ही सोचिए कि भला इन विकारों से बड़ा शत्रु और कोई हो सकता है? दूसरे जो शत्रु हैं, वे सर्वव्यापी नहीं हैं, परन्तु इन विकारों रूपी शत्रुओं ने सभी को अपने फन्दे में डाल रखा है। इन्होंने तो आज भाई-भाई को, पिता-पुत्र को, स्त्री-पुरुष को भी आपस में शत्रु बना दिया है। यह तो घर का शत्रु है और इसकी सेना तो देखिये, कितनी बड़ी है। यह शत्रु तो बड़ी मज़बूती से जमा हुआ है, क्योंकि इसने तो शताब्दियों से डेरे अथवा डोरे डाल रखे हैं। इस सर्वव्यापी शत्रु पर विजय प्राप्त करने वाला नर सारे विश्व का मालिक बन सकता है — इतनी बड़ी प्राप्ति होती है इसको पराजित करने में।

हमारा महाशत्रु 'काम' है

भले ही पाँच विकार हमारे शत्रु हैं और देह-अभिमान उनका मूल है परन्तु उन सभी का सरदार यह **'काम-विकार'** ही है। इस सेनापति को जीतने से अन्य सभी सैनिक हथियार डाल देते हैं। नाम इसका 'काम' है परन्तु यह सभी काम बिगाड़ने वाला शत्रु है। यह किसी काम का नहीं, परन्तु पता नहीं क्यों इसका नाम 'काम' रख दिया गया है। यदि देह-अभिमान को नर्क की दहलीज कहें तो यह **'काम'** ही नर्क का मुख्य द्वार है।

मनुष्य को पावन से पतित करने वाला अथवा आसमान से खाई में गिराने वाला शत्रु यही है। ईश्वरीय आनन्द और आत्मिक सुख के ख़जाने को लूट कर खाली करने वाला और मनुष्य का देवपद छीनने वाला महाशत्रु यह काम ही है। मनुष्य के स्वास्थ्य और उसकी आयु को नष्ट करके उसको काल के पंजे में डालने वाला तथा उसकी तकदीर को लकीर लगाने वाला विकार भी यही है। काम ही मनुष्य को कायर, कमज़ोर, उत्साहहीन और निकम्मा बना देने वाला है।

अतः यह ललाट पर लिख देने योग्य और याद रखने योग्य बात है कि ईश्वर की ओर जाने वाला मनुष्य यदि 'काम' का भोग कर लेता है तो उसकी हड्डी-पसली ऐसी बुरी तरह टूट जाती है कि फिर उसे जोड़ने में भी बहुत ही समय और मेहनत लगती है, अर्थात् वह मनुष्य ईश्वरीय पथ पर काफ़ी समय चलने के अयोग्य हो जाता है। संसार में जो अनेक प्रकार के विष हैं, उनसे तो मनुष्य की एक बार मृत्यु होती है, परन्तु काम विकार को भोगने वाला मनुष्य तो बारम्बार मृत्यु भोगता है। अग्नि से जला हुआ मनुष्य तो एक बार ही दुःख पाता है, परन्तु यह काम रूपी जो अग्नि है, यह तो बार-बार मनुष्य को बहुत ही जलाती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि — 'हे वत्स! इस काम रूपी विष-पान को बन्द करो और ज्ञानामृत पीकर भोगी से योगी बनो।'

अमृत और विष एक-दूसरे के शत्रु हैं। अमृत में थोड़ा भी विष मिल जाय तो वह अमृत नहीं रहता। अतः जो मनुष्य यह मानता है कि वह ज्ञानामृत भी पीता रहेगा और काम-वासना भी पूर्ण करता रहेगा वह बिल्कुल ही भूला है। जैसे तपे हुए तवे पर पानी ठहर नहीं सकता बल्कि उड़ जाता है, वैसे ही 'काम' से तपे हुए मनुष्य की बुद्धि में भी ज्ञान नहीं ठहर सकता। जैसे कोई गँवार हाथ में आये अनमोल रत्नों को गँवा देता है, वैसे ही मानों कामी मनुष्य भी विषयों में पड़कर अपने अनमोल जीवन को नष्ट कर डालता

है। ऐसे मनुष्य को एक दिन खून के आंसू बहाकर पछताना पड़ेगा, परन्तु तब तो समय रूपी चिड़िया, जीवन रूपी खेत चुग चुकी होगी। इसलिए विचारवान् मनुष्य को चाहिए कि वह अभी से ही ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करे। यह याद रखने की बात है कि – **'काम' को भोगने से कभी भी काम-वासना की तृप्ति नहीं होती, बल्कि 'काम-वासना' भोगते-भोगते मनुष्य का अपना ही काम तमाम हो जाता है।** अत: आज ही से छोड़ने की बजाय कल पर 'काम' को छोड़ा तो कल **'काम'** आपको नहीं छोड़ेगा।

ब्रह्मचर्य की महिमा

ब्रह्मचर्य के आधार पर ही जीवन की अट्टालिका खड़ी है। ब्रह्मचर्य के पालन से ही मनुष्य निरोगी और सुखी रहता है। यदि कोई मनुष्य जीवनमुक्ति प्राप्त करना चाहता है और यम के दण्ड से बचना चाहता है तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना उसका यह मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्यु और बुढ़ापे के कष्ट से बचाने वाला, मनुष्य के मन को परमात्मा की स्मृति में टिकने-योग्य बनाने वाला और मनुष्य को ज्ञान की धारणा के योग्य बनाने वाला यदि कोई पुरुषार्थ है, तो यह **ब्रह्मचर्य** ही है। **ब्रह्मचर्य के पालन से ही मनुष्य को आध्यात्मिक शक्ति मिलती है, जिससे कि वह क्रोध इत्यादि विकारों से भी युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त कर सकता है। अत: मनुष्य को काम-वासना से छुटकारा प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि 'काम' ही सर्वनाश करने वाला है।** काम एक ऐसा घुन है जो कि मनुष्य को भीतर से खाकर खोखला कर देता है, प्रगति को गतिहीन और मनुष्य को मृत-प्राय बना देता है और मनुष्य की बुद्धि को विपरीत, आलस्य-प्रिय और निरुत्साहित करके उसे किसी काम का नहीं रखता। वह मनुष्य को रक्त-हीन और दीन बना देता है।

परन्तु जैसे कुत्ता हड्डी को चबाकर अपने ही जबड़े से निकलने वाले खून में रस मानते हुए उसे चबाते ही चला जाता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य भी हड्डी-माँस के पिण्ड को भोगने में ही सुख मानता है। ओहो! एक मिनट के मायावी सुख के लिए वह स्वर्ग के ताज़ और तख्त को अथवा जन्म-जन्मान्तर के लिए दैवी राज्य और भाग्य को भी लात मार देता है और ईश्वरीय आनन्द की अनमोल भेंट को भी स्वीकार न करके अपने वर्तमान और भविष्य को मिट्टी में मिला देता है। माँस, मज्जा और मल-मूत्र से भरे हुए मिट्टी के खिलौने पर मोहित होकर उसके बदले में वह अपनी मौत को मोल ले लेता है।

परन्तु आज माया इतनी बलवान् है कि दिव्य साक्षात्कार करने और इस रहस्य को

समझने पर भी करोड़ों मनुष्यों में से कोई विरला ही भगवान् की इस श्रेष्ठ सम्मति का पालन करता है। कोई विरला ही इस पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करता है। परन्तु, निःसन्देह जो मनुष्यात्मा इस **'काम'** रूपी शैतान को ज्ञान रूपी तलवार से जीत लेता है, वह स्वर्ग के स्वराज्य को अनेकानेक जन्मों के लिए प्राप्त कर लेता है। वह ऋषियों से और मुनियों से, सन्तों से और महात्माओं से, राजाओं से और महाराजाओं से भी महान् है। वह इन सभी के लिए वन्दनीय है। उसका जीवन धन्य-धन्य और कृत्य-कृत्य है। वास्तव में वह ही संसार का सर्वोत्तम वीर और धीर है। और जो मनुष्य 'काम' रूपी शत्रु का सामना करने से डर कर **काम-वासना** के आगे हथियार डाल देता है, वह ही नपुंसक, नर-जाती को कलंकित करने वाला और महापापी है, जो कि विष्ठा के कीड़े के समान विषय-भोग में रत रहता है! वह नर तुच्छ है!! उस नर को सौ-सौ बार धिक्कार है!!!

यदि कोई मनुष्य जीवनमुक्ति प्राप्त करना चाहता है और यम के दण्ड से बचना चाहता है तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना उसका यह मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्यु और बुढ़ापे के कष्ट से बचाने वाला, मनुष्य के मन को परमात्मा की स्मृति में टिकने-योग्य बनाने वाला और मनुष्य को ज्ञान की धारणा के योग्य बनाने वाला यदि कोई पुरुषार्थ है, तो यह ब्रह्मचर्य ही है।

मानवीय मूल्य

जब किसी मनुष्य को किसी अन्य मनुष्य से वांछित व्यवहार नहीं मिलता तो प्राय: हम यह कहते हुए सुनते हैं कि 'उस मनुष्य में तो मनुष्यता ही नहीं है' अथवा कि 'वह तो इन्सानियत से ही गिर चुका है।' आज के वातावरण में जबकि लोग दूसरों का हक छीनते हैं, बर्बरता-पूर्ण व्यवहार करते हैं और अश्लीलता तथा नग्नता को साहित्य, समाचार पत्रिकाओं, कला-कृतियों, चलचित्रों और नाट्यगृह के मंचों पर देखना पसन्द करते हैं, तब भी हम कुछ लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि — 'अब तो मानव दानव बन गया है' अथवा कि 'अब तो वह पशु-तुल्य हो गया है।'इससे भी अधिक जब एक देश दूसरे देशों के नगरों में 'वहाँ के हस्पतालों पर, धर्म-स्थानों पर, बसे हुए जन-स्थानों पर अपने बम फेंकते हैं तब हम जन-जन के मुख से इस वाक्य का उच्चारण सुनते हैं कि — 'अब इन्सानियत का तो जनाज़ा ही उठ गया है' अथवा कि 'अब तो इन्सान हैवान से भी बदतर, पूरा शैतान बन गया है।'दूसरे अवसरों पर जब पड़ोसी-पड़ोसी के परस्पर व्यवहार की बात आती है अथवा मिल-मालिकों के अपने मजदूरों के साथ या धनवान लोगों के निर्धन लोगों के साथ सम्बन्ध की चर्चा होती है तब हमें प्राय: यह सुनने को मिलता है कि — ''अब तो इन्सान का दिल ऐसा पत्थर का-सा हो गया है कि गरीबों के बच्चों को भूख से बिलबिलाते देखकर या उन्हें जून की आफत की गर्मी और कड़ाके की धूप में पत्थरों पर पड़े देखकर भी उसे दया नहीं आती!'' या जब हम देखते हैं कि महानगरों के फुटपाथ पर दाँत बजाने वाली सर्दी के मौसम में जमीन पर ठिठुराते देखकर भी देश के कर्णधार, नेता या धनवान लोग करुणा-प्लावित हुए बिना वहाँ से चले जाते हैं, तब भी यही कहा जाता है कि ''अब न जाने मानवता कहाँ खो गई है!''

इस सब चर्चा-परिचर्चा के परिपेक्ष में प्रश्न उठता है कि मानव और दानव में, मानव और पशु में अथवा इन्सान और शैतान में क्या मुख्य अन्तर है? दूसरे शब्दों में कौन-कौन से ऐसे मूल्य अथवा गुण हैं जिनके कारण मानव का दर्जा हमने सबसे ऊंचा रखा है जिनकी वजह से यह कहा जाता है कि समस्त ईश्वरीय रचना में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी अथवा 'अशरफ-उल-मुखलूकात' (The best of the creation) है।

मुख्य मानवीय मूल्य

ऊपर हमने मानवी व्यवहार के वारे में जो कुछ कहा है उससे कुछेक ऐसे मानवीय मूल्य तो स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ जाते हैं जिनके कारण मनुष्य को 'मनुष्य' —

अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ – माना जाता है अथवा दानव, शैतान या हैवान से उच्च माना जाता है। फिर भी हम संक्षेप में कुछेक विशेष मानवीय मूल्यों का यहाँ उल्लेख कर रहे हैं।

क्षमाशीलता, दया अथवा करुणा

हम पीछे मानव और पशु की तुलना कर रहे थे। पशु में बर्बरता होती है। वह दूसरे के हित का कभी भी चिंतन नहीं करता। शेर, चीता, भेड़िया आदि दरिन्दे अपना पेट भरने के लिए दूसरे को शिकार बनाते हैं और अपने लिए दूसरे को पीड़ा देते हैं, वे प्रहार करके, हिंसा करके, अन्य का रक्तपात करके, निर्दयतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इसके विपरीत मनुष्य से आशा की जाती है कि वह 'जियो और जीने दो' (Live and let live) अथवा 'न दु:ख दो न दु:ख लो' की नीति के अनुसार संसार में जीवन-यात्रा करेगा। वह दूसरे का हक नहीं छीनेगा बल्कि न्याय से व्यवहार करेगा। इसलिए आप देखेंगे कि जब कोई मनुष्य दूसरों के साथ अन्याय और अत्याचारपूर्ण व्यवहार करता है अथवा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस (Might is right) की नीति अपनाता है तो लोग कहते हैं कि 'इसमें इन्सानियत तो रही ही नहीं।' इसका अर्थ यही हुआ की मानव-मात्र के प्रति सद्भावना, न्याय, सहानुभूति, अहिंसा और दया मानवीय मूल्य हैं। इनमें क्षमा तो सम्मिलित हो ही जाती है क्योंकि क्षमा के बिना दया की सीमा संकुचित हो जाती है। ध्यान दिया जाए तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि करुणा (Compassion) में पूर्वोक्त सभी मानवीय गुण एक साथ आ जाते हैं क्योंकि जहाँ करुणा है, वहाँ हिंसा, पर-पीड़ा, स्वार्थपरता, अनाधिकार चेष्टा, अन्याय आदि हो ही नहीं सकते बल्कि उनका स्थान **सहअस्तित्व, सहनशीलता, सहकारिता, सहयोग, सहानुभूति** आदि ले लेते हैं और मनुष्य दूसरों के कल्याणार्थ **त्याग, सेवा** आदि मानवीय मूल्य स्वत: ही अपना लेता है।

वैसे भी हम व्यवहार-जगत में झाँक कर देखें तो आज कोई भी मानव सर्वगुण सम्पन्न तो है ही नहीं। अत: हरेक में कोई-न-कोई कमी है और हरेक से कोई-न-कोई भूल होती ही है। अत: अपनी भूल के लिए प्रायश्चित करना और उसका सुधार तथा दूसरे की भूल को क्षमा कर उसे भुला देना (To forgive & forget), स्वयं भी सुखपूर्वक जीने की नीति अपनाना और दूसरे को भी अपना मित्र बनाने की विधि है। इस प्रकार स्नेह न कि घृणा, क्षमा न कि प्रतिशोध ही मानवीय मूल्य है। **स्वयं को बदलकर दिखाने में ही मानवता की पराकाष्ठा है, बदला लेना मानवता का पतन है। 'अपकारी पर भी उपकार'** (परोपकार) करना ही मानवीय मूल्य है, तिरस्कार करना अमानवी है।

शुभ-चिंतन और शुभ-चिंतक

मानव और दानव में भी अथवा मनुष्य और शैतान – दोनों स्वयं भी दु:खी होते हैं और दूसरों को भी दु:खी करते हैं। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे दूसरे का ज़रा भी हित-चिंतन या शुभ-चिन्तन नहीं करते। उनका व्यवहार दूसरों के लिए भयकारक और अहंकारपूर्ण होता है। उनमें सौहार्द, स्नेह (Love) और विधि-विधान (Law) का अभाव होता है। वे चरित्र, नियम और मर्यादा की सहिंता का सदा उल्लंघन करते हैं। दानव वह है जिसके लिए ईमानदारी, वफ़ादारी, फर्मानबरदारी और शालीनता (Royalty or civility) का कोई मूल्य नहीं परन्तु मानव के लिए तो यह मौलिक गुण हैं। दानव के स्वभाव में क्रूरता और कर्कश कर्मों का समावेश रहता है जबकि मानव में संतुलन, अनुशासन और मधुरता का समावेश होता है। अत: **ईमानदारी** (Honesty), **वफ़ादारी** (Faithfulness), **चारित्रिक दृढ़ता** (Integrity),**शालीनता** (Civility and Etiquette), **आत्म-नियंत्रण** (Discipline or Self Control) तथा **मानसिक सन्तुलन** (Balanced Mind) मानवीय गुण हैं। इनसे ही पारस्परिक व्यवहार में शान्ति और प्रेम बने रहते हैं वरना इनके अभाव में संसार में लड़ाई-झगड़ा, कलह-क्लेष और अशान्ति पनपते हैं।

शान्ति, निरहंकारिता और निर्विकारिता

अब यदि मानव और शैतान के अन्तर पर विचार करें तो हम देखते हैं कि जो उच्छृंखल, अमर्यादित, और अत्याचारी है, वही शैतान है। शैतान अपराध करता है। वह समाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त करता, तोड़-फोड़ करता तथा दूसरों की शान्ति को भंग करता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार मानव को शैतान बनाने वाले हैं क्योंकि कामी मनुष्य भी छेड़-छाड़ (Eve-teasing) और कामघात (Criminal Assault), अपहरण (Abduction), पर स्त्रीगमन (Promiscuity), वेश्यागमन आदि अपराधों अथवा पापों में प्रवृत्त होकर समाज में अनाचार, दुराचार और अशान्ति फैलाता है; क्रोधी तो अपनी क्रोध की अग्नि को लिए हुए यत्र-तत्र-सर्वत्र आग और धुएं से सभी के अश्रुपात का और मानसिक पीड़ा का निमित्त बनता है। वह अपने ज़हरीले 'शब्द बाणों'से, अपनी रक्तिम ज्वालामयी दृष्टि से, अपने उबलते हुए मन से न जाने कितने अपराध कर डालता है। ऐसे ही कर्म वह करता है जिस पर **लोभ, मोह या अहंकार** का भूत सवार होता है। अत: यदि देखा जाय तो **निरहंकारिता** और **निर्विकारिता** ही मानवी मूल्य हैं और अहंकार तथा अन्य सभी विकार शैतान के लक्षण हैं। बाइबिल में कहा गया है कि भगवान ने इन्सान को अपने अनुरूप बनाया (God

Created man in His own image) तो अवश्य ही भगवान ने जो मनुष्य बनाया वह भी भगवान की तरह निर्विकार ही होगा, अर्थात् दैवी स्वभाव वाला ही होगा। **आदम** (Adam), जो कि आज के **आदमी** (Man) का पूर्वज था अथवा 'मनु'जो मनुष्य का आदि-पूर्वज था, में इन सभी मूल्यों की विद्यमानता स्वीकार की जाती है परन्तु हम देखते हैं कि इन्हीं मूल्यों के ह्रास के कारण यह संसार **स्वर्ग** (Paradise) से **नरक** (Hell) बन गया है। अत: अब इन्हीं मूल्यों की पुनर्स्थापना द्वारा ही सतयुग का अभ्युदय हो सकता है। विशेष बात यह है कि मनुष्य एक मननशील प्राणी है। अन्य प्राणियों की तुलना में उसकी यह भिन्नता है कि वह भाषा जानता है, जो कुछ सीखना चाहे सीख सकता है और स्वयं में महान् गुण धारण करके पवित्र, महान अथवा पूज्य बन सकता है। वह स्वयं के, विश्व-नाटक के तथा परमिपता परमात्मा के बारे में सत्यता को जान सकता है। वह लोक-परलोक की पहेली को समझ सकता है। अत: आध्यात्मिक **विद्योपार्जन** (Spiritual Education) तथा उस द्वारा चारित्रिक उत्कर्ष ही सभी मानवी मूल्यों की नींव है। इसके बिना मानव और दानव, अथवा मानव और पशु या मानव और शैतान का अन्तर पूर्णत: नहीं मिटता। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि मैं एक ज्योतिस्वरूप आत्मा हूँ और अन्य सभी भी आत्माएं ही हैं और हम सभी परमपिता परमात्मा की अमर सन्तानें हैं, तभी उसमें सही रूप में **भ्रातृत्व, सहानुभूति, प्रेम, क्षमा, दया, करुणा, उदारता, त्याग** आदि-आदि मानवी मूल्य उभर पाते और टिक पाते हैं। प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग द्वारा अनुभूति कराके इन मानवी मूल्यों की पुनर्स्थापना की सेवा में तत्पर है।



''किसी को भी बताना नहीं!''

हर मनुष्य के जीवन में ऐसे कई अवसर आते हैं जब वह किसी को कोई बात किसी अन्य के विषय में सुनाता है और सुनाने के बाद कहता है कि ''यह बात मैंने केवल आपको बताई है। अब आप समझ तो गए हैं कि उस व्यक्ति ने क्या-क्या ग़लत काम किये हैं अथवा वह कैसा आदमी है। अब यह बात आप अपने तक ही रखना, उसे बताना नहीं।'' दूसरे किसी अवसर पर हम कोई ऐसी बात, जो किसी व्यक्ति-विशेष के बारे में न भी हो, परन्तु गोपनीय हो, हम किसी को सुनाते हैं और फिर कहते हैं कि ''यह बात मैंने आपको ही सुनाई है; आप इसे फैलाना नहीं, किसी को सुनाना नहीं।'' हम यह भी देखते हैं कि कई बार इस आदत से काफ़ी नुकसान होता है, परन्तु फिर भी हम इस आश्चर्यवत् व्यवहार को सुधार नहीं पाते। हाँ, कोई बात ऐसी होती है जो एक निश्चित व्यक्ति को उससे परिचित करने के लिए बतानी भी पड़ती है और साथ-साथ उसे यह भी कहना पड़ता है कि यह बात गुप्त (Confidential) है। परन्तु मनुष्य प्राय: ऐसे लोगों को भी कोई रहस्य बता देता है जिन्हें बताना नहीं चाहिए परन्तु जिन्हें वह अपनी आदत से मज़बूर होकर बता देता है या उन्हें अपना घनिष्ठ मित्र समझकर सुना देता है और तत्काल ही उसे यह भी आभास होता है कि इसका परिणाम खराब भी निकल सकता है। प्रश्न उठता है कि समझदार मनुष्य भी ऐसा क्यों कर बैठता है?

यदि हम मनुष्य के इस व्यवहार का विश्लेषण करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि एक तो उस मनुष्य का अपने मन पर काबू नहीं है जो न बताने योग्य बात को अवान्छित अथवा अनावश्यक लोगों को बताता है। जैसे किसी व्यक्ति को अपनी कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं होता, वैसे ही उस व्यक्ति में आत्म नियन्त्रण की कमी है अथवा उसका मन निरंकुश है। किसी कार की ब्रेक फेल हो जाने पर जैसे वह रुक नहीं पाती, बल्कि दुर्घटनाग्रस्त होती है, वैसे ही उसके मन की लगाम ढीली होने से उसकी ज़बान भी नहीं रुक पाती।

हम यह भी देखते हैं कि आदत से मज़बूर होकर भी मनुष्य कई अनुचित कार्यों से रोके जाने पर भी नहीं रुकता। शराबी शराब की आदत से मज़बूर होता है, वह अपने मन में समझता है कि शराब पीना ख़राब है और कि एक दिन उसकी आदत का पता

उसके घर वालों को चल ही जाएगा, परन्तु फिर भी वह छिप-छिप कर शराब पीता है, क्योंकि उसके मन में एक उकसाहट-सी होती है जिसे वह अपनी आत्मिक दुर्बलता के कारण रोक नहीं सकता। ऐसी ही हालत सिगरेट से सिगरेट लगाकर पीने वाले व्यक्ति की होती है। यह जानते हुए भी कि तम्बाकु का स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, उसका हाथ सिगरेट के पैकेट की ओर बढ़ जाता है। समझाने पर भी वह ढीठ और निर्लज्ज भले ही बन जाता है परन्तु अपनी आदत को नहीं छोड़ पाता। किसी ने सच कहा है कि जब आदत पक्की हो जाती है तो अनेक धागों से बटे एक रस्से की तरह उसका टूटना भी मुश्किल हो जाता है।

तीसरी बात यह है कि वह जिन्हें बात बताता है उन्हें वह निकटवर्ती, विश्वासपात्र और 'अपना' मानता है। वह यह भूल जाता है कि जैसे वह उसका विश्वासपात्र और अपना मित्र है, वैसे उस व्यक्ति के भी विश्वासपात्र और अपने मित्र होंगे जिनको वह 'गुप्त' बातें भी बता दिया करता होगा। और, जैसे कि वह अपने ज़बान की लगाम खो बैठता है, वैसे उस दूसरे व्यक्ति की ज़बान पर भी सदा कुण्डा नहीं लगा रहता होगा। तब उसकी अपने मन पर अंकुश लगाने की चेष्टा कैसे सफ़ल हो सकती है?

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि मनुष्य कोई गुप्त बात केवल किन्हीं एक-दो व्यक्तियों को बताने तक तो सीमित नहीं रहता। जिसकी ज़बान खुल जाती है, वह फिर जल्दी से मुँह में बन्द नहीं होती। जिन्हें बातें सुनने का चस्का है, वे उससे किसी न किसी तरह से राज़ निकाल ही लेते हैं, क्योंकि वह तो पहले से ही सुनाने को तैयार बैठा होता है कि कोई पूछे और मैं झट उसे बताऊं। चस्कुआ व्यक्तियों को राज़ सुनाने वालों की खोज होती है और बातूनी व्यक्तियों को चस्कुआ लोगों की खोज़ होती है जो क़ान देकर के उनकी बातें सुने।

वह यह भी नहीं सोचता कि जो व्यक्ति आज विश्वासपात्र है, स्नेही है अथवा निकटवर्ती है, कल उसके भाव बदल भी सकते हैं और वह बताई हुई बात का नाजायज़ प्रयोग भी कर सकता है।

इस प्रकार मूल बात यह है कि इस बीमारी की जड़ वास्तव में शब्द संयम का अभाव है अथवा गम्भीरता रूपी दिव्य गुण की कमी है। ध्यान देने पर हम यह महसूस करेंगे कि हरेक दिव्य गुण मनुष्य को मानसिक नियन्त्रण की ओर आगे बढ़ाता है और उस में व्यावहारिक कुशलता उत्पन्न करता है तथा उसके सदाचार को पुष्ट करता है। गम्भीरता

रूपी दिव्य गुण मनुष्य की इस मानसिक कमज़ोरी को मिटाता है। जैसे ब्रह्मचर्य मनुष्य को कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करने में सफ़ल बनाता है वैसे गम्भीरता मनुष्य को ज़बान पर काबू रखने में सक्षम बनाती हैं। गम्भीर व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है और वास्तव में लोग उसे ही अपना विश्वासपात्र मानते हैं। यदि मनुष्य गम्भीर न हो तो जैसे सिगरेट पीने वाला व्यक्ति वातावरण को दूषित करता है अथवा शराबी बेकाबू होकर न कहने वाली बातें भी बक देता है वैसे ही वह भी अकथ्य को कहकर तनाव, हलचल, मानसिक टूट फूट, भावनात्मक वैमनस्य से वातावरण को बिगाड़ देता है, जिनसे उत्पन्न होने वाली अशान्ति, मानसिक बीमारियाँ और शारीरिक रोग कोई सिगरेट और शराब से कम घातक नहीं होते। अत: मनुष्य को चाहिए कि बात को अमानत समझकर अपनी बुद्धि रूपी तिजोरी (Safe) में सम्भाल कर रखें ताकि थोड़ी-सी बात से बतंगड़ न बन जाये। और कितने ही लोगों का समय और श्वास व्यर्थ बातों में व्यय न हो। क्योंकि ऐसा व्यय वास्तव में अपव्यय है।

आदत को मिटाने की भी आदत होनी चाहिए। हमारा यह एक स्वभाव बन जाना चाहिए कि हममें जो दुर्गुण है, उसको हम निकाल कर ही रहेंगे। यदि हमारी यही मनोवृत्ति होगी तो हमारी दूषित वृत्तियाँ शीघ्रातिशीघ्र या शनैः शनैः ठीक अवश्य होने लगेंगी। "यह हमारी आदत है" – ऐसा कहकर अपनी बुराई को तूल अथवा ढील देने की आदत ठीक नहीं। "हम ऐसा बोल देते हैं, परन्तु हमारा भाव ऐसा नहीं था" – यह कोई दलील नहीं। पटरी से उतरने की बजाय पटरी बदलना ठीक होता है। क्योंकि पटरी से उतरने का अर्थ दुर्घटना और पटरी बदलने का अर्थ दिशा बदलना है। हमें भी अपनी बोलचाल की गाड़ी को इसी नियम के अनुसार चलाना चाहिए। किसी दूसरे को यह कहने की बजाय "यह बात किसी को मत बताना", हमें स्वयं भी वह किसी को नहीं बतानी चाहिए, क्योंकि दूसरों पर नियन्त्रण लगा लेने से पहले हमें अपने ऊपर नियन्त्रण लगा लेना चाहिए।



बात रूठने की

आज यदि आप संसार पर चहुं ओर दृष्टि डालें तो आप देखेंगे कि 'इष्ट देव' सर्वव्यापक नहीं हैं, 'रुष्ट देव' सर्वव्यापक हैं। आज सास बहु से रूठी है, बेटा बाप से रूठा हुआ है, भाई-भाई से रूठ रहा है और एक देश दूसरे देश के व्यवहार से रुष्ट है। मदारी वाला भी बन्दरों के खेल में डुगडुगी बजा कर, गुनगुना कर, रूठने ही का गीत अलाप रहा है। फिर, पीपल, नीम या बड़ के पेड़ के इतने पत्ते नहीं होंगे जितने रूठने के प्रकारान्तर हैं। न्यायालयों में चल रहे सारे मुकदमे रूठने ही का तो रूपान्तर हैं! मिल-मालिक और मज़दूरों के झगड़े, मिल की तालाबन्दी (Lock out) या उनमें नाराबाज़ी और आन्दोलन रूठने ही की तो अभिव्यक्ति है। हड़ताल, प्रदर्शन, धरना, घेराव, अनशन – ये सभी बाबा रूठन देव ही के पुत्र-पौत्र अथवा वंशज हैं। डाँट-डपट, कहा-सुनी, धक्का-धमकी – इन सारे नाटकों के कथानक का मूल प्रेरक रूठन स्वामी ही तो है। एक-दूसरे की निंदा नुक्ताचीनी, टीकाटिप्पणी तथा निन्नयानवे प्रकार से किसी के पोल को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न रूठन महाराज ही की तो भिन्न-भिन्न टीकाएँ एवं व्याख्याएँ हैं। मुंह फेरना, भेंगी ऑख बनाना, नाक के नथुने फुलाना, मुट्ठी बन्द कर लेना, टेढ़ी व तनी आंखों से देखना, होठों में ही बुड़बुड़ाना – ये कठपुतली के खेल रूठन शाह ही कराते हैं। श्रीमान रूठन राम तो बड़ी-बड़ी सभाओं में बहुमत से निर्वाचित हैं; संसार में कोई घर, कोई कारखाना, कोई दफ़्तर, कोई कोना ऐसा नहीं मिलेगा जहाँ रूठन सरकार का प्रतिनिधि अथवा दूत न पहुंचा हो।

बड़ी मुसीबत है!

बच्चा रूठ जाता है तो दूध का गिलास उठाकर फेंक देता है, बस्ता पटक देता है, सिरहाने को छड़ी से पीटता है, खाना नहीं खाता, बोलता तक नहीं या तो घर छोड़कर भाग जाता है। सास बहु रूठ जायें तो उस आदमी के लिए मुसीबत है जो एक का बेटा और दूसरी का पति है। जून के महीने में बिजली कम्पनी के कर्मचारी रूठ जायें तो सारी जनता के लिए मुसीबत है। रेल कर्मचारी हड़ताल कर दें तो यात्रियों के लिए और डॉक्टर स्ट्राईक कर दें तो रोगियों के लिए मुसीबत है। इस प्रकार, आप देखेंगे कि संसार में कितनी ही अशान्ति इस रूठने की बीमारी के कारण से है।

रूठने के कारण

प्रश्न उठता है कि एक व्यक्ति दूसरे से रूठता क्यों है? इसके उत्तर में कई कारण गिनाए जा सकते हैं परन्तु एक शब्द में हम यह कहेंगे कि यदि कोई स्वयं में अथवा किसी दूसरे से सन्तुष्ट न हो, तभी वह रूठता है। इस बात की गहराई में जाने से मालूम होगा कि जो मनुष्य स्वार्थी अथवा ईर्ष्यालु हो, वही अधिक रुठता है और स्वार्थी वह होता है जो आत्म-तृप्त न हो, जिसके पास आन्तरिक खुशी का खजाना भरपूर न हो अथवा जिसमें अभिमान हो। बहुत बार गलत फहमी के कारण भी मनुष्य रूठ जाता है परन्तु गलत फहमी होने का भी एक कारण प्रायः उसके अपने ही स्वभाव की अस्थिरता तथा आत्म-तुष्टि की कमी होती है।

कारण कुछ भी हो, योगाभ्यास के लिए आत्म सन्तुष्टता का होना बहुत ज़रूरी है वरना इसके बिना तो चित्त की अनुकूल भूमिका ही नहीं बनती। जो व्यक्ति दूसरे से रूठा हुआ होता है, वह स्वयं भी परेशान रहता है और दूसरों के लिए एक बला अथवा मुसीबत बन जाता है। गोया वह स्वयं भी दुःखी होता है और दूसरों को भी दुःखी करता है। सारे वातावरण में तमोगुणी ही प्रकम्पन (वायब्रेशन) फैलाता है। वनस्पति-विज्ञान-वेत्ता भी कहते हैं कि मनुष्य के मन की वायब्रेशन पौधों को भी प्रभावित करती हैं। यदि कोई व्यक्ति किन्हीं पौधों के प्रति शुभ-भावना या हर्ष का भाव नहीं रखता तो वे पौधे भी मुर्झाने लग जाते हैं। एक रूठा हुआ व्यक्ति भी अपने चहुँ ओर के वायुमण्डल में उदासी पैदा करने वाले प्रकम्पनों का संचार करता रहता है। जिन से वह रूठता है, उनके ध्यान को भी अपनी ओर खिंचवाता है और उनके लिए एक समस्या पैदा करता है।

फिर, कुछ लोग ऐसे हैं जो ऐसे रूठते हैं कि रूठने का कारण भी नहीं बताते। कोई बात पूछी जाय तो उसका उत्तर ही नहीं देते। मिलना-जुलना या नमस्ते कहना भी छोड़ देते हैं। वे एक-आध घड़ी ही रूठ कर स्वयं को ठीक कर लें, ऐसा भी उनके लिए सम्भव नहीं होता बल्कि वे कई दिनों या महीनों तक नाराज ही रहते, रूठे ही रहते हैं। एक व्यक्ति से रूठने से उनकी मानसिक अवस्था (Mood) ऐसी तनी हुई, चिड़ी हुई या असन्तुष्ट होती है कि वे हरेक से शीघ्र ही बिगड़ जाते हैं, और ऊंचा-ऊंचा चिल्लाते हैं। इस प्रकार, रूठना, जो कि घृणा, क्रोध, स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि का समन्वित रूप है और प्रेम, सहनशीलता, शीतलता, संतोष तथा करुणा के अभाव का सूचक है, एक बड़ा रोग है जो आत्मा को भीतर से कचोटता रहता है, मन को उबालता रहता है, संस्कार को काले रंग में रंगता रहता है और बहुत बार खतरनाक सिद्ध होता है। फीलिंग (Fee[illegible]) केवल फ्लू (Flue) की बीमारी नहीं बल्कि यह हृदय रोग भी है, मस्तिष्क

रोग भी और नेत्र रोग भी। फिर, किसी-किसी का तो रूठन रूप बुखार जल्दी उतरता ही नहीं और यदि उतरता है तो शीघ्र ही दोबारा चढ़ जाता है। कुछेक तो मनुष्यों से रूठते-रूठते आखिर भगवान् से भी रूठ जाते हैं और अच्छी संस्था को भी छोड़ देते हैं, वे अच्छे लोगों का संग छोड़ देते हैं और एक दिन वे अपने भाग्य को भी रूठा बैठते हैं।

जब व्यक्ति किसी दूसरे से रूठा होता है तो वह कभी-न-कभी शब्द संयम खोकर उसके विरुद्ध, जिससे वह असन्तुष्ट है, कुछ ग़लत भी कह बैठता है। जब उसका मन भरा होता है तो एक दिन छलक जाता है। इससे वह दूसरों के मन में भी जहर भरता है, उनकी बुद्धि को भी दूषित करता है, उनकी ज्ञान-बेल को बढ़ने नहीं देता और इस प्रकार अनेक व्यक्तियों के अकल्याण का निमित्त बनता है। वह अपने पुरुषार्थ के मार्ग में तो खाई खोदता ही है परन्तु दूसरों को भी उस खाई में सिर के बल गिरने के लिए प्रेरणा देता है या धकेलता है।

हमारे विचार में रूठना एक बहुत ही बड़ा विकार है, इसने ज्ञान के कई गज-जैसे सुदृढ़ पुरुषार्थियों को भी ग्राह बन निगल डाला है। रूठते-रूठते कितने ही लोग आज भगवान् से रूठ गये।

निवारण

सब से अच्छा तो यही है कि जिसके प्रति कोई गलत-फहमी हो, असन्तुष्टता हो या अनबन हो, स्वयं ही स्नेह पूर्वक, मित्र भाव से तथा विनम्र होकर बात कर ली जाय। इससे मनुष्य की गलतफहमी दूर हो जाती है और परस्पर स्नेह बढ़ता है। दूसरों के द्वारा प्रयत्न करने से मनुष्य अपना मान गंवाता है और जिससे वह असन्तुष्ट है, उनका भी।

यदि मनुष्य को डायरेक्ट बात करने की हिम्मत न हो या उसकी मानसिक दशा इसके अनुकूल न हो या इसके लिए उसके मन में आत्म-विश्वास न हो या सफल होने की आशा न हो तो भी योगाभ्यासी अथवा योगाभिलाषी व्यक्ति को चाहिए कि वह अपना अधिक समय इसमें न गँवाये और घृणा, उद्वेग इत्यादि की अवस्था में अपने श्वांस वृथा न करे बल्कि ईश्वरीय स्मृति द्वारा इस सारे काण्ड को ही विस्मृत कर दे तथा दूसरे के प्रति मन में करुणा, मैत्री, स्नेह के भाव जागृत करके, उसके गुणों को मन में सामने लाकर मुदित अवस्था में स्थित हो।

मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि रुष्ट हुए रहना स्वयं अपने को ही हानि पहुँचाना, अपने ही संस्कार बिगाड़ना, अपनी ही खुशी को नष्ट करने तथा स्वयं को दूसरों की निगाह में गिराना है। जो बार-बार रुष्ट होता, उसका संग करने से हर कोई संकोच करता है। ऐसे दुर्वासा ऋषि से सभी लोग डरे रहते हैं। सभी लोग उससे बात करते स

घबराते हैं कि कहीं रुष्ट होकर शापित न कर दे। अत: जबकि हम राजऋषि बन रहे हैं, हमें दुर्वासा ऋषि का या कैकयी का संस्कार छोड़ देना चाहिए और स्वयं को, दूसरों को तथा प्रभु को अपने जीवन से संतुष्ट करना चाहिए। याद रहे कि मुस्कुराहट की रेखा कभी भी आपके मुख से न मिटे, भृकुटि का बल्ब कभी भी न बुझे, खुशी का स्टाक कभी भी खाली न हो, करुणा की किरण सदा निकलती रहे, स्नेह का नाता कभी न टूटे; सभी से हँसते, मिलते ही यह जीवन-यात्रा पूरी हो और सब हमसे सन्तुष्ट हों तथा सबसे हम सन्तुष्ट हों, तब यह प्राण तन से निकले।

जो मनुष्य स्वार्थी
अथवा ईर्ष्यालु हो, वही
अधिक रूठता है और
स्वार्थी वह होता है जो
आत्म-तृप्त न हो,
जिसके पास
आन्तरिक खुशी का
खजाना भरपूर न हो
अथवा जिस में
अभिमान हो।

इस विधि काहे न कर्म करें?

सभी आध्यात्मवादी लोग परमात्मा को 'शान्ति का सागर' मानते हैं। अब यदि शान्तिस्वरूप परमात्मा की सन्तति होने पर भी हमारे मन में अशान्ति तथा मानसिक तनाव इत्यादि पैदा होते हैं तो स्पष्ट है कि हमारे कर्म करने की विधि में कोई-न-कोई भूल है, क्योंकि यह एक सर्व-मान्य नियम है कि **विधि** ठीक न होने से ही **सिद्धि** नहीं होती अथवा **युक्ति** न होने से ही दु:ख से भी **मुक्ति** नहीं मिलती। अत: मानसिक बोझ (Strain), थकान या तनाव (Tension) से छुटकारा पाने के लिये भी कर्म के विधि-विधान को ठीक रीति से जानना ज़रूरी है।

परमपिता परमात्मा शिव ने मानव मात्र के कल्याणार्थ कर्म करने के लिये सोलह ऐसे विधि-विधान बताए हैं कि जिनको व्यवहार में लाने से मनुष्य का जीवन शान्तिमय अथवा तनाव-रहित रह सकता है। वे सोलह विधि-विधान ऐसे हैं कि उनका पालन करने से मनुष्य 'सोलह कला सम्पूर्ण' बन सकता है। वह पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अधिक ज्योर्तिमान होकर शीतलतामय चाँदनी बिखेरता हुआ दूसरों को भी शान्ति और रस प्रदान कर सकता है। वे सोलह युक्तियाँ निम्नलिखित हैं।

१. देही-निश्चय में स्थित होकर कर्म करो

मानसिक तनाव पैदा होने का एक कारण यह है कि मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ अपने वास्तविक 'सम्बन्ध' को नहीं जानता। सम्बन्ध न जानने के कारण एक तो उसमें स्नेह पैदा नहीं होता और दूसरे, वह अपने कर्त्तव्य को भी नहीं पहचानता। स्नेह न होने के कारण अथवा कर्त्तव्य-बोध न होने के कारण मनुष्य में क्रोध, द्वेष इत्यादि उत्पन्न होता है जो ही वास्तव में तनाव के निमित्त बनते हैं। इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना अच्छा रहेगा।

'किशन चन्द्र' नाम वाले एक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ रेलगाड़ी में देहली से 'सोजत रोड' स्टेशन जा रहे थे। उनके पिता एक छोटे ज़मींदार थे और अलवर में रहते थे। उन्होंने पहले से ही अपने पिता जी को लिख दिया कि वह फलाँ दिन, फलाँ गाड़ी में देहली से रवाना होंगे और कि वे भी उसी गाड़ी में उनके साथ चलें। उनके पिता 'विशनचन्द' ने किशन चन्द को लिख दिया था कि वे चलेंगे।

किशन चन्द जी की शादी अभी थोड़े दिन पहले हुई थी और उनकी पत्नी घूँघट किया करती थीं। उन्होंने अपने ससुर विशन चन्द जी को अच्छी तरह देखा नहीं था; इसलिये वे उन्हें पूरी तरह पहचानती भी नहीं थीं। विशनचन्द भी अपनी बहू को नहीं

पहचानते थे।

जब गाड़ी अलवर स्टेशन पर पहुँची तो किशन चन्द जी उतरकर विशनचन्द जी को ढूँढ़ने के लिये गार्ड के डिब्बे की दिशा में गये परन्तु विशनचन्द जी इन्जन की तरफ से किशन को ढूँढ़ते आ रहे थे। इतने में गार्ड ने हरी झंडी दिखा दी और इन्जन ने भी सीटी बजा दी। विशनचन्द जी जिस डिब्बे के सामने पहुँचे थे, उसी में बैठने के लिये उन्होंने कोशिश की। दरवाज़े के पास बैठी झाँक रही एक युवती से उन्होंने आवेदन किया कि वह अन्दर आने दे। परन्तु वह युवती कड़क कर बोली – 'अरे बुड्ढे तुम्हें दिखता नहीं। यहाँ भला कोई जगह रखी है? कहाँ, मेरे सिर पर बैठेगा!! क्या तेरे अकल काम करती है या नहीं।'

बुड्ढे विशनचन्द ने कहा – "अरी गाड़ी चलने की है। खड़ा हो जाने दे। यह औरत तो कोई ज़िद्दी है और बदज़ुबान है।"

इस प्रकार दोनों एक-दूसरों को न पहचानने के कारण और सम्बन्ध को न जानने के कारण तनाव के वशीभूत होकर अनापशनाप बोल ही रहे थे गार्ड की सीटी सुनकर किशनचन्द जी दौड़ते हुए वापस अपने डिब्बे के दरवाज़े पर आ पहुँचे। देखते क्या हैं कि पिता जी और बहू में तनाव से बात हो रही है।

किशनचन्द्र जी बोले – 'अरी पगली, तुझे पता नहीं, यही तो तेरे ससुर हैं!' यह सुनते ही उनकी पत्नी एकदम चुप हो गयी और उसने घूँघट कर लिया। उनके ससुर भी – "वाह भाई वाह!" ऐसा कहकर और कुछ नहीं बोले। बाप और बेटा दोनों ही गाड़ी में चढ़ आये और उस युवती ने दोनों को अदब से बैठने की जगह दे दी।

भला सोचिये तो सही कि इतना अन्तर कैसे पड़ गया! **सम्बन्ध को जानने से ही तो कर्त्तव्यबोध हुआ?** सम्बन्ध का पता चलने से ही तो क्रोध करना बन्द किया? परन्तु इन दोनों में तो दैहिक नाता था, इसलिये एहसास हुआ; संसार में अन्य सभी में तो ऐसा दैहिक नाता होता ही नहीं; तब भला उनके लिये '**सम्बन्ध बोध**' का क्या अर्थ है और उनमें परस्पर स्नेह कैसे पैदा हो?

इसका उत्तर यह है कि वास्तव में तो हम एक परमपिता परमात्मा के अमर पुत्र हैं। अतः हम सभी आपस में भाई-भाई हैं। यह तो अमिट नाता है। इस सम्बन्ध के कारण तो हम सभी का आपस में बहुत स्नेह होना चाहिये और हम सभी की एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और सहयोग की भावना होनी चाहिये। यदि हम इस बात को स्मृति में रखते हुए व्यवहार करेंगे तो निश्चय ही तनाव पैदा नहीं होगा। तनाव तो **तन में आओ** (तन में आने) से पैदा होता है; जब हम आत्मा के स्वरूप, स्वधर्म और स्वधाम की स्मृति में

स्थित होंगे तो हममें शान्ति ही होगी, क्योंकि आत्मा स्वयं तो शान्ति स्वरूप है, शान्ति ही उसका स्वधर्म है और उसके धाम में भी शान्ति ही है। शिव बाबा ने हमें समझाया है कि **यदि इस धारणा पर हमारी अटेन्शन** (Attention) **होगी तो हमें टेन्शन** (Tension) **नहीं होगी। इस प्रकार यदि स्वस्थिति में टिककर हम हरेक परिस्थिति (पर-स्थिति)** का सामना करेंगे तो हर समस्या का शान्ति से समाधान हो जायेगा।

२. निराकारी, निर्विकारी और निरहंकारी स्थिति

शिव बाबा ने हमें समझाया है कि जब मनुष्य स्व-स्थिति में अर्थात् **निराकारी** आत्मा की स्थिति में नहीं टिका होता, तब उसमें कोई-न-कोई **विकार** पैदा हो जाता है। या तो उसकी दृष्टि-वृत्ति ऐसी हो जाती है उसमें 'काम' विकार उत्पन्न हो जाता है कि जिसे भोगने से मनुष्य में आत्मिक, नैतिक, मानसिक और शारीरिक दुर्बलता आती है और कमज़ोर व्यक्ति में तो शीघ्र ही क्रोध तथा तनाव पैदा हुआ ही करता है या कामी मनुष्य की वासनापूर्ति में बाधा पड़ने पर भी उसमें क्रोध उत्पन्न होता है, उससे भी उसमें तनाव आता है। इसी प्रकार, देह-दृष्टि द्वारा ही माता-पुत्र, पति-पत्नी इत्यादि में मोह पैदा तथा स्थिर होता है और उस मोह के कारण मुनष्य में 'अपने और पराये का भाव', फिर अपनों के लिये पक्षपात, अन्याय करके भी उनका काम पहले करना, उनके लिये धन इकट्ठा करने के प्रयत्न में दूसरे के हित की परवाह न करना, उनको अपना मानकर, स्वयं को पुत्रों-पौत्रों , नाती-नातों वाला मानकर '**अभिमान**' करना इत्यादि भाव मनुष्य में जागृत हो जाते हैं। इस प्रकार, मनुष्य निराकारी स्थिति में न रहने से निर्विकारी स्थिति में भी नहीं रहता और उसमें स्थित न होने से निरहंकारी भी नहीं होते और इस सभी का परिणाम तनाव तथा कलह-क्लेश ही होता है। अत: विश्रान्ति (State of relaxation) में रहने के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह आत्मिक स्थिति अर्थात् निराकारी स्थिति में स्थित होकर कर्म करे।

३. कर्मेन्द्रियों का राजा बनो

शिव बाबा ने हमें यह भी समझाया है कि जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों के अधीन हो जाता है, वह भी सुख की नींद नहीं सोता। जैसे शराबी शराब के बिना, अफ़ीमची अफ़ीम के बिना, धूम्रपान वाला सिग्रेट-बीड़ी के बिना परेशान हो जाता है, ऐसे ही इन्द्रियों के वशीभूत हुआ मनुष्य भी संयम में नहीं रहता। उसका मन और तन दोनों ही मर्यादा को लाँघ जाते हैं। वे दूसरों के अधिकारों पर भी आक्रमण कर बैठते हैं तथा सीमा का अतिक्रमण कर लेते हैं। उदाहरण के तौर पर जिस व्यक्ति में 'शब्द संयम' नहीं होगा वह

वाक्-विलास के अधीन होकर हँसी-मज़ाक, अनाप-शनाप, अनियन्त्रित रीति से ही बोलता रहेगा। किसी से दिल-लगी की बातें करेगा तो अन्य किसी की आलोचना। एक की निंदा कर बैठेगा तो दूसरे का अपमान। वह स्वादेन्द्रिय के वश होकर किसी से ईर्ष्या कर बैठेगा तो बुरी दृष्टि के वश होकर कोई उल्टा काम। इस प्रकार, वह अपने लिये कोई-न-कोई उलझन, समस्या या मामला पैदा कर लेगा जिससे कि परेशानी और तनाव हो। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह 'कमल नेत्र', 'कमलमुख' और 'कमल हस्त' बनें, अर्थात् किसी भी कर्मेन्द्रिय के वशीभूत होकर विकारों की दलदल में न फँस जाय, क्योंकि विकार ही टकराव और तनाव का कारण बनते हैं। परन्तु याद रहे कि कर्मेन्द्रियों पर शासन करना अर्थात् उनका राजा बनने के लिए मनुष्य को मन का राजा बनना होता है और मन का राजा बनने के लिये राजयोग रूप अनुशासन का अभ्यास करना पड़ता है। राजयोग के लिए आत्मिक स्मृति का तिलक लगाना पड़ता है, नियमों रूपी सिंहासन पर बैठना पड़ता है, दिव्य गुणों का ताज पहनना पड़ता है तथा लोक-कल्याण का छत्र लगाना पड़ता है। ऐसा करने पर प्रकृति अपने सभी सुख-साधनों सहित मनुष्य की दासी हो जाती है। तब तनाव तो धरातल में धंस जाता है और कहीं भी नज़र नहीं आता है।

४. इच्छा मात्रम् अविद्या

यदि गहराई से देखा जाय तो मनुष्य की निरंकुश इच्छाएं ही उसे परेशान करती हैं। किसी ने सच कहा है कि – "यदि इच्छाएं घोड़ों के रूप में होतीं तो केवल मूर्ख लोग ही उन पर बैठते।" चूँकि इच्छाएं रूकती नहीं, काबू में नहीं आती, लगाम ही तोड़ देती हैं तो आप सोचिये कि ऐसे सरपट घोड़े एवं बे-लगाम पर तो केवल वह बैठेगा जिसने अपना सिर तुड़वाना हो। इच्छाओं को जितना भोगा, उतना ही इच्छाएं और बढ़ती ही हैं। तभी तो कहावत है कि – "आप भया बूढ़ा, तृष्णा भई जवान।" राजा भरतृहरि ने भी कहा है कि – 'तृष्णा न जीर्ण वयमेव जीर्णा', अर्थात् तृष्णा कमज़ोर नहीं होती, बल्कि उनको भोगते-भोगते हमारे दाँत, कान, नेत्र तथा अन्य सभी इन्द्रियाँ जीर्ण-शीर्ण तथा कमज़ोर हो जाते हैं। अत: अपने आपको तृष्णा वा इच्छाओं के हवाले कर देना बिना ब्रेक वाली, चलती हुई मोटर गाड़ी में बैठ जाना है। उसकी तो अवश्य ही किसी से टक्कर होगी। तब क्या हादसा नहीं होगा? टक्कर नहीं होगी? तब क्या तनाव या अशान्ति से हम वच जायेंगे?

मनुष्य की इच्छाएं तो इतनी होती हैं जितने की आसमान में तारे अथवा रेगिस्तान में रेत के कण। यों इच्छाओं को लोकेष्णा, वित्तेष्णा, और पुत्रेष्णा – इन तीन शीर्षकों के —र्गत बांटा गया है परन्तु इनमें से हरेक के अगण्य प्रकारान्तर हैं। उन सभी को पूर्ण

करने की कोशिश करना अविद्या की बात करना है। जो सुख सन्तोष में है, वह और किसी में नहीं है। त्याग ही मनुष्य के भाग्य का निर्माता है; भोग तो स्वयं मनुष्य को भी भोग लेता है। अत: मनुष्य को चाहिये कि ऐसी अवस्था बनाए कि इच्छा ही उसके लिये अविद्या हो जाय।

नि:स्सन्देह जब तक मनुष्य इस ज़ान (शरीर) और ज़हान में है तब तक उसमें 'इच्छा' भी बनी रहती है। परन्तु 'योगी' और 'भोगी' की इच्छाओं में दिन-रात का अन्तर होता है। जबकि भोगी की इच्छाएं सैंकड़ों-हज़ारों होती हैं और वह सभी स्थूल, सांसारिक विषयों ही के पीछे-पीछे पगला हुआ भागता रहा है योगी सादगी का जीवन व्यतीत करते हुए, सदाचार को अपनाकर अपने मन में केवल यही इच्छा रखता है कि लोगों की अधिकाधिक सेवा करूँ और दिव्य बनूँ तथा पवित्र बनूँ। ऐसे व्यक्ति का न किसी से टकराव है न ईर्ष्या-द्वेष आदि।

वास्तव में तो हम एक परमपिता परमात्मा के अमर पुत्र हैं। अत: हम सभी आपस में भाई-भाई हैं। यह तो अमिट नाता है। इस सम्बन्ध के कारण तो हम सभी का आपस में बहुत स्नेह होना चाहिये और हम सभी की एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और सहयोग की भावना होनी चाहिये। यदि हम इस बात को स्मृति में रखते हुए व्यवहार करेंगे तो निश्चय ही तनाव पैदा नहीं होगा। तनाव तो तन में आओ (तन में आने) से पैदा होता है; जब हम आत्मा के स्वरूप, स्वधर्म और स्वधाम की स्मृति में स्थित होंगे तो हममें शान्ति ही होगी, क्योंकि आत्मा स्वयं तो शान्ति स्वरूप है।

दृढ़ संकल्प

हमारी भलाई और महानता दिव्य गुणों की धारणा ही में है। परन्तु दिव्य गुण अनेक हैं और उनकी धारणा की चोटी, जहाँ तक हमें पहुँचना है, वह भी बहुत उच्च है। पुनश्च, हरेक गुण भी अपनी जगह महत्वपूर्ण है, गोया हम यह भी नहीं कह सकते कि अमुक गुण को तो अवश्य धारण करना ही है और अमुक गुण को छोड़ा जा सकता है। परन्तु फिर भी यह अनुभव-सिद्ध बात है कि दृढ़ता के बिना अन्य दिव्य गुण भी हमारे आचरण में स्थायी रूप से स्थापित नहीं हो सकते। अत: दृढ़ता सर्व-प्रधान अथवा परमावश्यक है।

जिस मनुष्य का मनोबल (Will-Power) कम हो, जिसके संकल्प में दृढ़ता न हो, वह कोई भी महान् कार्य सफ़लतापूर्वक नहीं कर सकता। वह आज अपने जीवन में कोई अच्छाई धारण करता है तो कल उसे छोड़ देता है। वह प्रात: कोई प्रतिज्ञा करता है तो शाम तक उसे भंग कर देता है। उसमें अच्छा बनने की इच्छा (Will) तो होती है, परन्तु उसे पूर्ण करने की शक्ति (Power) उसमें नहीं होती। अत: पुरुषार्थ के लिये ज़रूरी है कि मनोबल अथवा दृढ़ता बढ़े। परन्तु स्पष्ट है कि मनुष्य में, स्वयं में तो बल है नहीं, अवश्य ही यह बल उसे किसी से लेना होगा। अच्छाई के लिये आत्म-बल अथवा शक्ति तो परमपिता ही से प्राप्त हो सकती है क्योंकि एक वह ही सर्वशक्तिमान् है। उससे शक्ति लेने के तरीके को ही 'योग' कहा जाता है। योग से बल निश्चय ही प्राप्त होता है।

मनोबल में वृद्धि के लिये अनुकूल विचार-धारा

दूसरी बात यह है कि जब मनुष्य प्रतिज्ञा करने के बाद उसे निभा नहीं पाता तो न केवल उसका मन दु:खित होता है, बल्कि आगे के लिये उसके संकल्पों में दृढ़ता भी नहीं रहती। उसकी वृत्ति में निराशा बनी रहती है और आत्म-विश्वास भी नहीं रहता। इसकी वजाय, यदि मनुष्य थोड़ा समय भी अपने भीतर की दूषित इच्छाओं के तीव्र वेग का दृढ़ता-पूर्वक सामना कर ले तो उससे थोड़ी भी सफ़लता से उसका उत्साह, आत्म-विश्वास तथा मनोवल इतना बढ़ेगा कि वह बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का, आलोचना का तथा मानसिक तूफ़ानों का भी सामना कर सकेगा। इसके लिए यह ज़रूरी है कि मनुष्य

यह याद रखे कि मेरे सामने जो परीक्षाएं आ रही हैं वे सफ़लता की सीढ़ियाँ हैं, और जो कठिनाइयाँ अथवा आलोचनाएं हैं, वे क्षणिक (Passing phase) हैं। उनको गुज़ार लेने के बाद तो सदा मौज-बहार ही है।

अखण्ड प्रतिज्ञा से ही अखण्ड राज्य

हम दिव्य गुणें की धारणा द्वारा अटल, अखण्ड, निर्विघ्न, अतिसुखकारी राज्य-भाग्य प्राप्त करने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। अतः यदि हम अपने इरादों में अटल नहीं रहेंगे और यदि हमारी प्रतिज्ञाएं अखण्ड नहीं रहेंगी तो हम ऐसा सम्पूर्ण स्वराज्य कैसे प्राप्त कर सकेंगे? यदि हम विघ्नों को पार ही नहीं करेंगे तो निर्विघ्न दुनिया में जाने के अधिकारी कैसे बनेंगे? यदि यहाँ हमारे सामने कठिनाइयों की अति नहीं होगी तो अति सुखकारी कैसे होंगे? यदि हमारी पवित्रता खण्डित हो जायगी तो हम अखण्ड राज्य कैसे पायेंगे? यदि हम सभी अटल विहारी नहीं बनेंगे तो सतयुग में 'विहारी' कैसे बनेंगे? इस प्रकार, हम दृढ़ता के महत्त्व को पहचानते हुए अब अपने संकल्पों में योग द्वारा बल भरें।



विकारों और दु:खों की निवृत्ति का एक मात्र उपाय

आज संसार में असंख्य प्रकार के दु:खों के रूप-रूपान्तरों की यदि एक सूची बनाने बैठें तो जीवन बीत जायेगा, लेकिन सूची नहीं बन पायेगी। अनगिनत दु:खों के कारण ही इस संसार को 'दु:खधाम', 'मृत्युलोक', 'शोक सागर', 'फारेस्ट ऑफ थार्न्स' (Forest of Thorns;कांटों का जंगल) 'फानी दुनिया' कहा गया है। अब प्रश्न उठता है कि इन दु:खों से निवृत्ति कैसे प्राप्त हो सकती है?

अब परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा यह समझाया है कि संसार में जितने भी प्रकार के दु:ख हैं उन सभी का कारण हैं — छ: विकार जिन्हें 'षट-रिपु' या 'छ: दोष' भी कहा जाता है। आज हर-एक मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और सुस्ती में से एक-न-एक विकार थोड़ा-बहुत अवश्य है।

इन छ: विकारों का भी मूल क्या है? जैसे डाक्टर लोग किसी रोगी का रक्त आदि लेकर अणुवीक्षण (Microscope) आदि द्वारा उसका निरीक्षण करते हैं कि इसमें कौन-सा गंदा मादा (Virus) है और उस गंदगी अथवा विष में कौन-से कीटाणु (Germ) हैं और तब वे उन कीटाणुओं को नाश करने वाली तथा उस विषैले माद्दे को भी निकालने की कोशिश करते हैं। वैसे ही हमें भी अब यह देखना चाहिए कि इन पांच विकारों रूपी विषैले माद्दे में भी रोग का 'कीड़ा' कौन-सा है जिसने आत्मा को दु:खी कर रखा है। ईश्वरीय ज्ञान अथवा विवेक रूपी अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर आप इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि इन छ: विकारों का भी मूल कारण अथवा कीटाणु है — 'देह-अभिमान'। इस देह-अभिमान (Body-Consciousness) के कारण ही मनुष्य को अनेकानेक दु:ख हैं।

अत: अब परमपिता परमात्मा शिव कहते हैं कि — हे वत्सो, यदि आप सदा के लिए सम्पूर्ण सुख और शान्ति चाहते हैं तो इस देह-अभिमान रूपी विष या कीटाणु को नाश करने का उपाय करो और इस उद्देश्य से देही-निश्चय अथवा आत्म-निष्ठ बनो और सब देहधारियों की तरफ़ से मन की आसक्ति हटाकर एक मुझ ज्योति-स्वरूप परमात्मा शिव ही की स्मृति में स्थित होवो। इस सहज युक्ति से संसार के क्लेश मिट जायेंगे और सतयुगी दैवी सृष्टि स्थापित हो जायेगी अर्थात् यह संसार सुखधाम, वैकुण्ठ, गार्डन ऑफ फ्लावर्स (फूलों का बगीचा), 'खीर-सागर' बन जायेगा।

संस्कारों की क्रान्ति

देवता बनने के लिए पुरुषार्थी मनुष्यात्माओं को दैवी संस्कार धारण करने से ही दैवी जन्म मिल सकता है अर्थात् दैवी तन, दैवी धन और दैवी लोक की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए हमें कलियुगी आसुरी संस्कारों को छोड़, सतयुगी दैवी संस्कारों को धारण करते जाने का पूरा-पूरा ध्यान रखना है। अशुद्ध संस्कार ही अपने वेग से मनुष्य से अशुद्ध वचन, अशुद्ध कर्म करा देते हैं और मनुष्य को जन्म-मरण द्वारा दुःख का भोगी बनाते हैं। इसलिए जीते-जी संस्कारों को पलटना अर्थात् शूद्र से ब्राह्मण बनना बहुत ही आवश्यक है।

पुराने संस्कारों को मिटाने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि संस्कार बनते कैसे हैं और मिटते कैसे हैं और उनको मिटाने के लिए किन सावधानियों की आवश्यकता है। वाणी अथवा शरीर द्वारा कर्म करने से पहले तो मन में संकल्प उठता है। यह तो ठीक बात है कि उस संकल्प का अथवा उस द्वारा हुए कर्म का अच्छा अथवा बुरा फल भोगना पड़ता है परन्तु ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि संकल्प जितना ही वेग से उठता है, वह उतना ही गहरा संस्कार छोड़ जाता है। बार-बार उस प्रकार के संकल्प उठने से वह संस्कार दृढ़ होता है। इसलिए संस्कारों को बदल, पवित्र बनने के पुरुषार्थी लोगों को यह जानना चाहिए कि अगर संकल्प इतना तीव्र हो कि वचन अथवा शरीर से भी कर्म करा दे तो उसका संस्कार बहुत दृढ़ हो जाता है। और, अगर मन में उठे हुए उस संकल्प को, कर्म में आने से पहले ही, पुरुषार्थ से, ज्ञान द्वारा हटा दिया जाय तो धीरे-धीरे इस प्रकार के संस्कार मिट जाते हैं। तो समझना यह है कि बार-बार अशुद्ध संकल्प को हटाने से वो मिट जाते हैं। असावधानी, निर्बलता, और अज्ञानता के संस्कार अशुद्ध बन जाते हैं और सावधानी, ज्ञान तथा योग शक्ति धारण करने से वह संस्कार पीछा छोड़ जाते हैं और उनकी जगह नये, शुद्ध संस्कार बनते हैं परन्तु इस पुरुषार्थ के लिए शुद्ध संस्कारों वालों का संग बड़ा ज़रूरी है।

संग का भी रंग संस्कारों पर चढ़ता अवश्य है। शुद्ध संग में बुरे संकल्प नहीं उठते अथवा उठ कर मिट जाते हैं अथवा मनुष्य को सावधानी मिल जाती है। एक-दूसरे के वाचक और शारीरिक कर्मों को शुद्ध देख पुरुषार्थी मनुष्यों के अपने संकल्प भी शुद्ध रूप धारण करते जाते हैं। इसलिए अगर आप सत्यस्वरूप परमात्मा के ज्ञान दण्ड में , ज्ञान अंकुश द्वारा, संकल्पों को शुद्ध बनाने का पुरुषार्थ करते रहेंगे और निरंतर सत्यस्वरूप

परमात्मा से संग (योग) रखेंगे तो आपके संस्कार सम्पूर्ण शुद्ध अवश्य होते जायेंगे।

संस्कार पलटने के लिए ज्ञान-मुरली की आवश्यकता के बारे में मुरली मनोहर परमात्मा शिव की मनोहर मिसाल

जैसे गन्द में पड़े हुए कीड़े को भ्रमरी निकाल कर अपने स्थान पर ले जाती है और अपनी भूँ-भूँ से उसे भी भ्रमरी बनाकर, फर्श (पृथ्वी) से अर्श (आकाश) में उड़ना सिखा देती है वैसे ही मनुष्यात्माएँ जो कि मानो बुरे संस्कारों की गन्दगी के कीड़े बन गई हैं और उन विकर्मों के बोझ के कारण उड़कर परमधाम को नहीं लौट सकतीं, उन्हें परमात्मा ही अपने साकार रूप (ब्रह्मा) द्वारा ज्ञान की मुरली सुनाकर अपने समान बनाता है। इस संसार में, कीड़े को भ्रमरी बनाने वाले तो अनेक स्थान हैं और भ्रमरियाँ हैं । परन्तु मनुष्यात्माओं को फर्श से उड़ाकर अर्श अर्थात् मुक्तिधाम ले जाने वाले अथवा मनुष्य से देवता बनाकर स्वर्गधाम ले जाने वाले एक अविनाशी परमपिता परमात्मा ही हैं जो कि अनेक आत्माओं को अपने समान बना देते हैं। इसलिए संस्कार बदलने के लिए पारसनाथ की मुरली और उनकी यज्ञशाला और उन्हीं का संग अर्थात् योग आवश्यक है। इनके बिना मनुष्यात्मा के संस्कार पूर्ण रीति कदापि पलट नहीं सकते।

पत्थर-बुद्धि आत्मा का पारसनाथ परमात्मा के साथ योग

जब तक परमात्मा के साथ मनुष्य का युक्तियुक्त योग नहीं जुटा है तब तक उसके संस्कार पूर्ण रीति दैवी हो ही नहीं सकते क्योंकि जैसे चकमक (चुम्बक) लोहे को अपने संग से चकमक बना देता है अथवा पारस अपने संग से लोहे को सोना बना देता है वैसे ही सब आत्माओं में परमप्रिय परमात्मा ही एक ऐसे 'पारसनाथ' हैं जो कि मनुष्यात्मा की बुद्धि को पत्थर से पारस अथवा संस्कारों को आसुरी से दैवी बना देते हैं। जितना-जितना कोई मनुष्य योग-युक्त रहता है, उतना-उतना ही उसकी बुद्धि अथवा संस्कार पावन होते जाते हैं।

संस्कारों को पलटने के लिए, प्रभु के यज्ञ में स्वाहा होने की ज़रूरत

परमात्मा द्वारा स्थापित किया हुआ ज्ञान यज्ञ ही अश्वमेध यज्ञ है, जिसमें कि मन रूपी घोड़े को स्वाहा करने, अर्थात् मरजीवा बनने से ही संस्कार पूर्ण रीति पलट सकते हैं। परन्तु आप जानते हैं कि यज्ञ में विघ्न तो पड़ते ही हैं। अथवा, कमाई में बाधाएँ तो आती ही हैं। तो इस अश्वमेध यज्ञ द्वारा सतयुगी स्वराज्य प्राप्त करने के सर्वोत्तम पुरुषार्थ

में भी पुराने संस्कार विघ्न डालते अवश्य हैं। जब तक यह संस्कार, किसी-न-किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप में कम या ज्यादा रहे पड़े हैं तब तक मनुष्य अपनी सम्पूर्ण दैवी अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए, सम्पूर्ण निर्विकारी बनने के समय तक पिछले संस्कार जागते अवश्य रहेंगे। मन में विकारों का तूफान उठेगा अवश्य, क्योंकि अब जबकि आप उनको जीतने के लिए युद्ध करते हैं तो यह भी पूर्ण रीति आपका सामना करेंगे परन्तु आपको सावधान रहना चाहिए ताकि ये संस्कार जागने पर भी कर्म में न आएँ वरना यह और भी दृढ़ हो जायेंगे। अतः इन पुराने संस्कारों अथवा संकल्पों-विकल्पों को नष्ट करने के लिए सदा ज्ञान की गदा धारण किये ही रहना चाहिए, ज्ञान का मनन करते ही रहना चाहिए।

प्रभु से ज्ञान-नेत्र प्राप्त करके जागते रहने की सावधानी

ज्ञान का मनन करते रहने वाले मनुष्य के मन में पुराने संस्कार नहीं जागते, कर्म जागते हैं अथवा दुर्बल होने के कारण शीघ्र भाग जाते हैं, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश में वे अशुद्ध संस्कार रूपी चोर खड़े नहीं हो सकते। अशुद्ध संकल्प तो चोर की न्याई अज्ञान-अन्धकार में ही आते हैं जबकि मनुष्य विस्मृति की निन्द्रा में सोया पड़ा हो। इसलिए ज्ञान के नेत्र को सदा खोल के रखना चाहिए।

बुरे संस्कार मानो एक प्लेग की बीमारी के कृमियों की तरह हैं, जोकि ज्ञान के इन्जेक्शन (टीके) से ही दूर हो सकते हैं। जैसे सपेरा बीन (वीणा) बजाकर साँप को मस्ती में लाकर, उसके दाँत निकालकर उसे अहिंसक बना देता है, वैसे ही परमात्मा (गीता का भगवान्) जादूगर भी ज्ञान की मुरली बजाकर विकारी संस्कारों वाली मनुष्यात्माओं के अशुद्ध संस्कार रूपी विष निकाल देता है। इस लिए जब तक ईश्वरीय यज्ञ (पाठशाला) में, कोई परमात्मा की ज्ञान-मुरली न सुने, परमात्मा के अर्पण होकर उनका संग न करे, अथवा परमात्मा द्वारा परमात्मा से योग-युक्त न हो, तब तक किसी के संस्कार आसुरी से दैवी हो ही नहीं सकते। इसलिए कलियुग के अन्त में, जब सब मनुष्यों के संस्कार आसुरी हो जाते हैं, जिसको ही धर्मग्लानि कहा जाता है, तब परमात्मा ही ब्रह्मा रूप द्वारा ज्ञान-यज्ञ स्थापन करा करके प्रायः लोप हुआ आदि सनातन ज्ञान तथा योग सिखाकर फिर से सतयुगी दैवी संस्कारों वाले मनुष्यों की सृष्टि रचते हैं। इसी कर्तव्य को आदि सनातन देवी-देवता धर्म की पुनः स्थापना भी कहा जाता है। यह अलौकिक कर्तव्य अन्य कोई मनुष्य कर ही नहीं सकता।

मंगलाचरण

भारत वर्ष में प्रचलित प्रथा के अनुसार तथाकथित 'धार्मिक' लोग, किसी भी शुभ कार्य को आरम्भ करते समय, अपने इष्ट की स्तुति में पद गाते हैं। वे अपने कार्य में सफलता पाने के लिए प्रार्थना करते हैं। इस संकल्प अथवा कर्म को 'मंगलाचरण' कहते हैं।

परन्तु किसी भी कार्य को करने से पूर्व उसके यथार्थ रूप, सत्य लक्षण तथा वास्तविक रीति पर विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि अयथार्थ रीति से किया हुआ कर्म विकर्म होता है और मिथ्या लक्ष्य के लिए किया गया कार्य विकार होता है, जिसका फल न सफ़लता होता है और न सुख। अतः पहले 'मंगलाचरण' के सिद्धान्त के मूल में जो प्रेरणायें हैं, उन पर विचार करते हैं। इससे उसके यथार्थ रूप, उद्देश्य तथा रीति का सम्यक् साक्षात्कार हो जायेगा।

सर्व प्रथम, यह तो निश्चित है कि मंगलाचरण शुभ कार्य अथवा सत्कर्म ही के लिए किया जाता है क्योंकि 'सत्यमेव जयते' के अनुसार बुरे कर्म अथवा अशुभ कर्म के लिए तो प्रार्थना करना ही भ्रममूलक और निरर्थक है। असत्यकर्म के लिए न्यायकारी एवं धर्मरक्षक परमात्मा से प्रार्थना करना तो मानो एक कर्त्तव्य-परायण नेकनियत कोतवाल से यह प्रार्थना करना है कि "साहिब, आप शक्ति-सम्पन्न हैं, बड़े बुद्धिमान हैं, हमसे महान् हैं, इसलिए हमें चोरी करने में सहायता दीजिये।" अधर्मियों, विधर्मियों, कुकर्मियों के लिए तो परमात्मा धर्मराज हैं एवं दंड-विधाता है। अतः मंगलाचरण की अभिलाषा वालों के लिए विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे सदा ऐसा कार्य हाथ में लें जो शुभ हो, ऐसा कर्म करें जो सत् हो। बस, यदि वह अपनी कृपा अपने ऊपर करेंगे तो भगवान् की कृपा उन्हें अवश्य प्राप्त है ही।

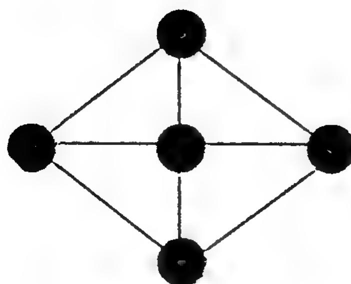
दूसरे, मंगलाचरण इस उद्देश्य से किया जाता है कि जो कार्य प्रारम्भ होने जा रहा है, उसकी सिद्धि हो, वह पूर्णता को प्राप्त हो। परन्तु यह तो सभी विचार शील मनुष्य जानते हैं कि शुभ आचरण अथवा शुभ कर्म का व्यक्त शुभ होना एक ध्रुव नियम है। इसलिए ज्ञानी अथवा योगी के लिए हितकर बात यह है कि "कर्मणयेव अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्" के अनुसार वह फल के लिए निश्चिन्त होकर शुभ इच्छा तथा शुभ रीति से शुभ कर्म में तत्पर रहे। मनुष्य को चाहिए कि सत्य रीति से सत्कर्म करता जाये। ज्ञान स्वरूप परमात्मा अपना कर्त्तव्य जानता है और उसे करने में समर्थ भी है। उसे जताने की न आवश्यकता है और न माँगने से अनुचित कार्य के लिए सफ़लता मिल ही जाती

है। अतः शुभ कर्म ही 'मंगलाचरण' है।

तीसरे, जो 'मंगलाचरण पद' गाये जाते हैं अथवा ईश्वर की जो स्तुति की जाती है, उससे परमात्मा का तो कोई प्रयोजन नहीं। परमात्मा के गुणों का मनन इसीलिए किया जाता है कि वे ईश्वरीय लक्षण हममें भी आयें। ईश्वर ज्ञान स्वरूप, परमपवित्र, शान्ति स्वरूप, आनन्द स्वरूप, प्रेम स्वरूप इत्यादि गुणों वाला है – यह जानकर स्वयं अपने जीवन में वह ज्ञान, पवित्रता, शान्ति आनन्द और अलौकिक प्रेम लाने में ही कल्याण है, केवल मुख से उच्चारण करने अथवा पन्ने पर लिखने से नहीं। या फिर, ईश्वर की स्तुति अथवा उसके गुणों का गायन उन लोगों के सम्मुख किया जाता है जो ईश्वर के स्वरूप से अपरिचित हों। अतः मंगलाचरण वास्तव में परमात्मा के स्वरूप का मनन करना, उसके लक्षणों को अपने जीवन में धारण करना तथा दूसरों का कल्याण करना ही है।

चौथे, जनसाधारण प्रायः निजी कार्य के लिए ही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। अन्यथा, ईश्वरीय कार्य को सिद्ध करना तो ईश्वर जानता ही है? वह सर्वशक्तिमान् अपने कार्य को सम्पन्न करने की सामर्थ्य तो रखता ही है। ईश्वर के कार्य की पूर्ति के लिए मनुष्य का प्रार्थना करना तो अज्ञानजनित है।

'मंगलाचरण' से अभिप्राय है – मंगल आचरण। शुभ सोचना, शुभ बोलना, शुभ कार्य में तन, मन, धन लगाना ही मंगलाचरण है जिससे कि मनुष्य का जन्म-जन्मान्तर के लिए कल्याण हो जाता है।



झूठ और सत्य

कुछ समय पहले मैंने अंग्रेज़ी की एक पत्रिका में एक समाचार पढ़ा था जिसमें बताया गया था कि एक वैज्ञानिक ने झूठ की जाँच करने वाली मशीन (Lie detector) के द्वारा पांच हजार व्यक्तियों का परीक्षण किया, परन्तु उनमें से उसे एक भी सच बोलने वाला व्यक्ति नहीं मिला। मुझे मालूम नहीं कि उसने किस-किस वर्ग के व्यक्तियों पर यह तजुर्बा किया लेकिन मेरा विचार है कि उस वैज्ञानिक ने शिक्षित अशिक्षित बहुत-से आर्थिक वर्गों, व्यवसायों और आयु-श्रेणियों (Age-groups) के लोगों पर ये तजुर्बे किये होंगे, क्योंकि वैज्ञानिक लोग ठीक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रायः अपनी सर्वेक्षण पद्धति में विभिन्न वर्गों को सम्मिलित किया करते हैं। इसके अतिरिक्त, मेरे अपने सार्वजनिक जीवन में अनेक लोगों से जो सम्पर्क होता है, उसके आधार पर भी मेरा यह मन्तव्य है कि उस वैज्ञानिक ने यह तजुर्बा अनेक वर्गों के लोगों पर किया होगा। उसकी मशीन ने जो बात उसके सामने ला दी वह बात प्रतिदिन हम देखते और सुनते हैं। दफ़्तरों में काम करने वाले कितने ही लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि वे प्रायः झूठा कारण बताकर ही छुट्टी लेते हैं वर्ना उनके लिए छुट्टी मिलना मुश्किल हो जाता है। व्यापारी वर्ग बड़े तपाक से कहता है कि – "बाबूजी आज सच बोलने से इतना कहाँ कमा सकते हैं कि घर का खर्च भी चला सकें और बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और ब्याह-शादी का भी प्रबन्ध कर सकें?" यह सबको मालूम है कि इन्कमटैक्स के बोझ से बचने के लिए वे झूठा हिसाब बड़ी सफाई से बनाते और धड़ल्ले से दिखाते हैं। डाक्टर लोग रोगी के रोग का निदान न भी कर सकें तो भी वे यह कहते हैं कि यह दवाई खा लो तो ठीक हो जाओगे। पुलिस वाले दूसरों के बारे में तो यही कहते हैं कि अगर किसी व्यक्ति की 200 रुपये की चोरी हो जाए तो वे 2000 से कम की रिपोर्ट नहीं लिखवाते क्योंकि वह यह सोचता है कि लोग कहीं यह न सोचें कि उसके घर में कोई कीमती सामान ही नहीं है। और स्वयं पुलिस वाले कितना सच बोलते हैं – इसके लिए कुछ न कहें तो भी ठीक नहीं और कहें तो भी ठीक नहीं। फिर छोटे बच्चों के लिए तो मशहूर ही है कि वे ऐसी मासूमियत से झूठ बोलते हैं कि जल्दी ही उनका झूठ पकड़ा जाता है। उनके विषय में एक उदाहरण प्रसिद्ध है कि एक बच्चे ने स्कूल में यह कहकर छुट्टी ली कि मेरे दादा जी की मृत्यु हो गई है। उसके घर पहुँचने से पहले ही स्कूल में

दादा जी बच्चे को किसी कारण से छुट्टी दिलवाने के लिए आ गये और जब अध्यापक को उसने बताया कि वे उस बच्चे के दादा हैं तो उसने कहा — "श्रीमान जी, आप तो यहाँ तशरीफ ले आये हैं और वह बच्चा तो आपकी मृत्यु की बात बताकर पहले ही छुट्टी लेकर चला गया है; कमाल है!" ऐसे बहाने तो दफ़्तरों में काम करने वाले कई बाबू लोग भी बनाया करते हैं, परन्तु उनके पिछले कुछ वर्षों की छुट्टी की फाईल कोई खोलकर देखे तभी तो उनके झूठ का भेद खुले।

क्या झूठ के बिना काम नहीं चलता?

ज़माना ऐसा आ गया है कि लोग खुल्लम-खुल्ला कहने लगे हैं कि — "बाबूजी, आज झूठ के बिना भला काम कहाँ चलता है? यदि वकील लोग सच बोलें तो उनकी वकालत ही ठप्प हो जाए। यदि राजनीतिक लोग इलेक्शन में अपना सच्चा परिचय बतायें और अपने प्रतिपक्षी के बारे में सच बतायें तो न वे इलेक्शन जीत सकेंगे और न वे मन्त्री बन सकेंगे। यदि अपनी कम्पनी के माल की बिक्री की बढ़ोती (Sales Promotion) के व्यवसाय में लगा हुआ व्यक्ति किसी खरीदार को सच-सच बता दे कि उसकी कम्पनी के माल में फलां-फलां नुक्स होता है और दूसरी कम्पनी के माल में अमुक-अमुक अच्छाई होती है तो उसका माल भला लेगा ही कौन? इसी प्रकार यदि वकील यह साफ़-साफ़ बता दे कि जिस पक्ष से वह मुकदमा लड़ रहा है वह वास्तव में जुर्मवार है अथवा कि उसके पक्ष में फलाँ-फलाँ कानूनी कमज़ोरी है तो वह मुकदमा जीतेगा ही कैसे और उसको भविष्य में कौन अपना वकील नियुक्त करके फीस देना पसन्द करेगा"। अत: हर व्यक्ति अपने दही को मीठा बताता है, चाहे वह खट्टा हो। कहने का भाव यह है कि हर व्यक्ति अपने झूठ बोलने के बारे में सफाई (Justification) पेश करता है और झूठ का धन्धा इतना चल निकला है कि लोग न्यायालयों में शपथ लेकर जो बयान (Affidavit or Statement or Oath) देते हैं उसमें वे यह स्पष्ट कहते हैं कि "मैं जो कुछ कहूँगा बिल्कुल सच कहूँगा" (I shall speak the truth and nothing but truth) अथवा कि "जहाँ तक मुझे ज्ञान है और मेरा विश्वास है (To the best of my knowledge and belief) मैं सच कह रहा हूँ," परन्तु प्राय: लोग मन में जानते हैं कि वास्तविकता इसके विपरीत ही होती है। इस युग की ऐसी दशा देखकर [illegible] कहा गया है कि कलियुग में झूठ ही का बोलबाला होता है। वास्तव में इन [illegible] [illegible] कहा गया है — 'झूठी काया, झूठी माया, झूठा सब संसार' [illegible]

यहाँ झूठ ही झूठ है, सत्य की रत्ती भी नहीं।

व्यवहार और परमार्थ में झूठ

दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो आज केवल पारस्परिक व्यवहार में ही झूठ का सिक्का नहीं चल रहा बल्कि पारमार्थिक में भी सोने के नाम से मुलम्मा मिल रहा है। आज संसार में पारमार्थिक सत्ता (आत्मा, परमात्मा, परलोक इत्यादि) के बारे में इतने मत-वाद हैं कि जिसकी गणना करना भी मुश्किल है और उनमें से हरेक बाकी सबको झूठ बता रहा है। वास्तव में सभी सत्य हो भी तो नहीं सकते। हालत यह है कि जो व्यक्ति भगवान् कहा जा रहा है, जो व्यक्ति अवतारवाद का निषेध करता है, स्वयं उस व्यक्ति को 'अवतार' घोषित किया जा रहा है। हमारे इस कथन के समर्थन के लिए भारत का धार्मिक इतिहास साक्षी है क्योंकि यद्यपि गौतम बुद्ध ने न भगवान् के अस्तित्व को आवश्यक माना न अवतारवाद को स्वीकार किया लेकिन लोग 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का मन्त्र पढ़ते हैं और धार्मिक साहित्य में विष्णु के अवतारों में बुद्ध की भी अवतार के रूप में परिगणना की जाती है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति भगवान् को स्वयं से भिन्न एक सर्वोपरि सत्ता मानता है, उसे भी जनता 'भगवान्' शब्द से सम्मानित कर रही है। उदाहरण के तौर पर व्यास ऋषि ने गीता के वक्ता को 'भगवान्' मानते हुए गीता के प्रारम्भ में 'भगवानुवाच' लिखा है, लेकिन आज अनेक पण्डित, पुजारी, कथावाचक और भक्त व्यास के बारे में ही कहते हैं कि गीता 'भगवान् व्यास' ने लिखी। और बात देखिये, आज लोग भगवान् के नाम पर ही कसम खाकर कहते हैं – "मैं भगवान् को हाज़िर और नाज़िर मानकर कहता हूँ" परन्तु जबकि वास्तव में उनमें से प्रायः किसी ने भी यह नहीं देखा कि भगवान् सब जगह हाज़िर और नाज़िर है, न ही वे अपने जीवन में भगवान् को सदा हाज़िर-नाज़िर मानकर सत्य आचरण ही करते हैं। इस पर भी विशेष बात यह है कि वे लोग दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि 'आत्मा ही परमात्मा है' जिसका भाव यही होता है कि उनसे भिन्न कोई नाज़िर परमात्मा नहीं है। तब भला हाज़िर-नाज़िर मानने का क्या अर्थ हुआ? आश्चर्य है कि एक ओर वे कहते हैं कि आज सब जगह भ्रष्टाचार, पापाचार, अत्याचार, विकार, चोर बाज़ार और धोखेबाजी है, दूसरी ओर वे ही लोग कहते हैं कि सब जगह भगवान् विराजमान हैं और उनके हुक्म के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। अप्रत्यक्ष रूप में इसका भाव तो यही निकलता है कि सब जगह हाज़िर परमात्मा ही की इच्छा से सब जगह भ्रष्टाचार है परन्तु ऐसे तो शायद वे स्वयं भी मानने को तैयार नहीं होंगे, जिसका

भाव यह हुआ कि वे पारमार्थिक सत्य को भी नहीं जानते। हम इस लेख के शुरू में कह आये हैं कि वैज्ञानिक ने 'झूठ-जांचक मशीन' (Lie detector) द्वारा जब पांच हजार आदमियों का परीक्षण किया तो उनमें से एक भी सच्चा नहीं निकला। इसका निष्कर्ष तो यह निकला कि आज झूठ सर्वव्यापक है। परन्तु लोग कहते हैं कि सत्य स्वरूप परमात्मा सर्वव्यापक है। वे इतना भी नहीं सोचते कि जब हम परमात्मा को सत्य (Truth) कहते है तो इस कथन से ही वाकी सब झूठ ठहरते हैं।

अतः झूठ और सत्य की चर्चा में सबसे ज्यादा खेद की बात तो यही है कि आज सत्य स्वरूप परमात्मा के बारे में भी झूठ प्रचलित है और सतयुग के देवताओं पर भी झूठे कलंक लगाये जाते हैं। फिर इस झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए बड़े-बड़े तर्क प्रस्तुत करते हैं और सुनने वाले कहते हैं कि उनकी इस बात में बड़ा वजन है। हाँ, आइनस्टाइन के सापेक्षवाद के अनुसार तो ऊर्जा (Energy) का भी वजन है तब झूठी बात का भी वजन तो होगा, क्योंकि ध्वनि भी ऊर्जा का रूप है।

अब किया क्या जाये?

अब प्रश्न उठता है कि आज के वातावरण में सत्य बोलने की इच्छा वाला मनुष्य क्या करे? जब उसके आस-पास, चहुँ ओर, दफ़्तर में, व्यापार में, बाज़ार में, झूठ ही पनप रहा है तो ऐसी स्थिति में योग रूपी अनुशासन के अनर्गत एक धर्म-प्रेमी व्यक्ति जिसके यम-नियमों में महत्वपूर्ण स्थान है सत्य का पालन कैसे करे?

आज व्यावहारिक रूप में लोग देखते हैं कि कई परिस्थितियों में सत्य बोलने का जो परिणाम उनके सामने आता है वह सुनने वाले और बोलने वाले, दोनों के लिए दुःखद होता है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए कि एक व्यक्ति किसी से पूछता है, "बताइये भाई साहब मेरे बारे में आपका क्या विचार है?" अब यदि वह उसे स्पष्ट शब्दों में कह दे कि वह उस व्यक्ति को ठीक नहीं समझता और कि उसके फलाँ फलाँ कारण हैं तो [illegible] ही। और, यदि वह प्रश्न-कर्ता भी दूसरे के बारे में ऐसा ही कुछ कह दे तो दोनों के सम्बन्ध में तनाव ही पैदा होगा। तो क्या ऐसी परिस्थिति में हम सत्य को [illegible] दें या सम्बन्ध को, पारस्परिक स्नेह को या शान्ति को? इसी प्रकार, मान लीजिए कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे को अपने यहाँ किसी अवसर पर पधारने के लिए निमंत्रण देता है, परन्तु वह आमन्त्रित व्यक्ति प्रथम के पास जाना ही नहीं चाहता क्योंकि वह उसे [illegible], तब क्या वह उसे सच-सच बता दे कि वह उस व्यक्ति को [illegible]

नहीं समझता या उसकी बजाय यह झूठ कह दे कि उस दिन किसी और जगह जाने के लिए पहले से उसके पास निश्चित कार्यक्रम है जैसे कि मन्त्रीगण प्रायः निमन्त्रण कर्ताओं को लिखा करते हैं। (I regret my inability to attend because of earlier commitments)? क्या ऐसी परिस्थिति में मनुष्य भद्रता और शिष्टता (Politeness) को महत्व दे या सीधे शब्दों में सच कह दे कि वह आमन्त्रणकारी व्यक्ति या संस्था के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता? मान लीजिए कोई व्यक्ति बार-बार आपको किसी काम को करने के लिए आग्रह करते हैं और आप नम्रतापूर्वक अपनी असमर्थता और विवशता प्रगट करते हैं अथवा समय के अभाव की बात कहते हैं। परन्तु फिर भी वह आग्रह अथवा अनुरोध नहीं छोड़ता तो आप शिष्टता को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि "अच्छा कोशिश करूँगा," यद्यपि आप जानते हैं कि आप ये शब्द केवल उससे पीछा छुड़ाने के लिए ही कह रहे हैं। इसी प्रकार यदि कोई रोगी किसी डाक्टर से पूछता है कि — "डाक्टर साहब, मैं इस रोग से कब छूटूंगा? डाक्टर जी, मैं बचूंगा भी या नहीं?" अब यह जानते हुए भी कि उसका रोग बड़ा क्रूर और दुस्साध्य है, डाक्टर उसे ढाँढ़स बंधाने के लिए कह देता है कि — "बस अब जो मैं दवाई दे रहा हूँ, इससे आप ठीक होना शुरू हो जायेंगे और निश्चय रखिये, आपका रोग कोई इतना विकट नहीं है जितना आप समझ रहे हैं। इससे ज़्यादा उग्र रोग से पीड़ित लोगों को भी मैंने कई बार ठीक किया है।" प्रश्न उठता है कि ऐसी परिस्थिति में जबकि रोगी की जीवन और मृत्यु की समस्या है तब सत्य ज़्यादा महत्वपूर्ण है या झूठ से ही रोगी को अधिक स्वास्थ्य लाभ हो सकता हो तो झूठ बोल दिया जाय?

ऐसे कितने ही उदाहरण और दिये जा सकते हैं। मनोवैज्ञानिक और शिक्षा शास्त्री कहते हैं कि जब एक निकम्मे और मन्द-बुद्धि विद्यार्थी को समय-समय पर यह कहा जाता है कि — "तुममें बहुत विशेषताएं और योग्यताएं हैं और यदि तुम थोड़ा-सा पुरुषार्थ करो तो बहुत-से विद्यार्थियों से आगे निकल सकते हो," तो वह मन्द-बुद्धि विद्यार्थी भी कुछ-न-कुछ तो उन्नति करता ही है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि किसी राही के यह पूछने पर कि फलाँ स्थान कितनी दूर है, बुजुर्ग लोग उसे यह नहीं कहते कि अभी उसकी मंज़िल ३ मील या ४ मील या इतनी दूर है, बल्कि वे यह कहते हैं कि — "बस, अब तो आप निकट आ पहुँचे हैं; थोड़ा ही दूर और जाना है," यद्यपि वे जानते हैं कि वे झूठ कह रहे हैं।

अधिक उदाहरणों को छोड़कर अब हम इस प्रश्न को लेते हैं कि क्या ऐसी-ऐसी

परिस्थितियों में झूठ बोलना ठीक है? इसके बारे में आपको प्राय: दो विचारों के लोग मिलेंगे। कई तो यह कहेंगे कि झूठ किसी भी हालत में नहीं बोलना चाहिए चाहे उससे दंगा और फसाद भी हो जाए और हज़ारों लोगों का खून भी बह निकले। दूसरे लोग यह कहेंगे कि सत्य बोलना नि:सन्देह अच्छा है परन्तु हमें यह भी देख लेना चाहिए कि किसी परिस्थिति में सत्य कहने से कहीं अनर्थ, हिंसा, घृणा इत्यादि दोषों को बढ़ावा तो नहीं मिलेगा? उनका कहना यह है कि अगर डाक्टर के यह बोलने से रोगी का जीवन बच सकता है तो डाक्टर के झूठ बोलने में कोई हर्ज़ नहीं।

प्रश्न तो यह है कि किसी परिस्थिति में हम यह कैसे जानें कि हमें इस अवसर पर सच कहना चाहिए या झूठ? कुछ लोग इसका एक उत्तर यह दे सकते हैं कि हमें ग़लत तरीके से धन कमाने के लिए, मिथ्या वचन द्वारा अपने व्यक्तिगत सांसारिक लाभ के लिए तो झूठ नहीं बोलना चाहिए, परन्तु दूसरों के प्रति कल्याण भावना रखते हुए उनके साथ शिष्टता, मधुरता और नीतियुक्त वचन बोलने चाहिए। दूसरों के विचार इससे थोड़ा भिन्न, रूक्षणता और कट्टरवादिता को लिए हुए भी हो सकते हैं। इसके बारे में किसी के विचार कुछ भी हो, मेरा मन्तव्य यह है कि दोनों हालतों में [illegible] से करनी चाहिए। **इस दृष्टिकोण से अपने आपको** [illegible] सबसे पहला झूठ है। सत्य तो यह है कि इस शरीर में विराजमान [illegible] हैं और [illegible] सत्य के स्वरूप में स्थित होना सत्य की ओर [illegible] है। [illegible] परमात्मा को और परलोक को यथार्थ रूप से [illegible] सत्य के पथ पर चलना है। इस प्रकार के [illegible] में स्वत: ही आने लगता है। इससे [illegible] स्वरूप परमात्मा से योग-युक्त होकर [illegible] अवसर पर दूसरों के कल्याण के [illegible]

निन्दा

जो छः प्रसिद्ध विकार हैं, उनको जीतने की ओर तो हरेक ज्ञानवान व्यक्ति का ध्यान रहता ही है। परन्तु दुस्तर माया से युद्ध करते-करते, मनुष्य कई बार माया के किसी अन्य रूप से परास्त हो जाता है। माया का ऐसा एक रूप दूसरों में दोष ढूंढ कर उनकी निन्दा कराता है। बहुत लोगों को देखा गया है कि वे जीवन में संयम का पालन करना चाहते हुए भी 'शब्द संयम' खो बैठते हैं। वे अपनी जिह्वा को अपने नियन्त्रण में नहीं रख पाते। पाँच छः फुट लम्बे मनुष्य होते हुए भी वे तीन इन्च की ज़ुबान से पराजित हो जाते हैं। प्रसंग न होने पर भी तथा उस व्यक्ति के अनुपस्थित होने पर भी वे अपने ओष्ठों को धनुष बनाकर उस द्वारा ज़हरीले शब्द रूपी बाण छोड़ते रहते हैं। हरेक की निन्दा करना उनका एक मनोरन्जन (Hobby) बन जाता है।

क्या हम यथा-सत्य बात न कहें?

जो व्यक्ति निन्दा करने में लगा रहता है, उसे यदि आप समझायें कि यह कर्म ठीक है तो वह कहता है – "मैं तो सच्ची बात कह रहा हूँ; मैं इस बात की सत्यता प्रमाणित भी कर सकता हूँ। भले ही आप अन्य किसी से पूछ लें कि अमुक व्यक्ति का जो अवगुण मैंने बताया है, वह उसमें है या नहीं। आपको सभी बतायेंगे कि हाँ, उस व्यक्ति में यह त्रुटि है। तब भला मुझे यह कहने से रोका क्यों जाता है? मैं रुकूँगा; नहीं नहीं मुझे किसी का डर थोड़े ही है। क्या किसी के बारे में यथा-सत्य बात कहना भी गुनाह है?"

अतः प्रश्न उठता है कि यदि किसी में सचमुच कोई कमज़ोरी या अवगुण हो तो क्या उसका वर्णन करना निन्दा रूप पाप है या इसे 'यथार्थ बोध' एवं 'यथा-सत्य' वर्णन ही कहेंगे? क्या केवल झूठी निन्दा करना पाप है या किसी के व्यक्तित्व अथवा कार्य में दोषों का सही वर्णन भी वाणी का व्यर्थ विलास है तथा अपने ही अवगुणों की वृद्धि करना है?

कुछ लोग कहते हैं – "किसी की महिमा ही करते रहना तो गोया चापलुसी करना अथवा चमचागिरी करना है; हम तो इस आदत के विरुद्ध हैं। ऐसे मनुष्य को तो हम खतरनाक मानते हैं; अतः हम तो खरी-खरी बात कहना चाहते हैं। हम महिमा ही करते रहने को तो व्यक्ति-पूजा (Personality Cult) मानते हैं। आज की दुनिया में कोई भी मनुष्य सम्पूर्ण गुणवान या पूर्ण देवता तो है ही नहीं; अतः जबकि उसमें दोष हैं, तब बताना तो स्वाभाविक है; इस बात को बुरा क्यों माना जावे?" वे कहते हैं कि जैसे किसी

वे सत्तारूढ़ दल (Parity in Government) की कड़ी आलोचना करें और उनके दोष बतायें, वैसे ही जीवन के दैनिक व्यवहार में भी हम जिनके सम्पर्क में आते हैं, उनके दोषों का वर्णन करना तो एक प्रकार से भलाई करना है। यह तो आलोचक की सतर्कता, जागरूकता और सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।"

चार विचारणीय बातें

जिसे हम 'यथा-सत्य कथन' की संज्ञा दे रहे हैं, उससे किसी की भलाई होगी या उससे व्यक्ति और समाज में गिरावट हो आयेगी? – इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिये चार बातें विचारणीय हैं –

१. **स्व-स्थिति** – इससे हमारा अभिप्राय वक्ता की अपनी मानसिक अवस्था से है। जब कोई व्यक्ति अन्य किसी के कार्य की आलोचना करता है तो पहली विचारणीय बात यह है कि उसकी अपनी मनोस्थिति कैसी है? प्राय: देखा गया है कि दूसरे की कटु आलोचना करने वाले के मन में 'अहंकार' होता है। वह स्वयं को दूसरों से अधिक कुशल, अधिक बुद्धिमान और अधिक समझदार मानता है। उसी नशे में ही वह अभद्र रीति से दूसरों की ग्लानि करता है। भले ही वह जो बात कह रहा हो वह सत्य हो परन्तु उस सत्य को अहंकार की पुट दी हुई होती है। साथ-साथ यह भी देखा गया है कि उसके मन में ईर्ष्या भी होती है। जब वह देखता है कि अन्य लोग एक व्यक्ति की प्रशंसा किया करते हैं तो उससे यह सहन नहीं हो सकता। अत: डाह के वशीभूत होकर वह उसकी त्रुटियां बताने लगता है। वह कहता है – "हाँ, उस मनुष्य में अमुक अच्छाई तो है परन्तु आपको क्या बतायें, उसमें फलाँ-फलाँ जो बातें हैं, वह बहुत बुरी हैं......।" इस प्रकार, वह उस व्यक्ति को दूसरों की नज़रों से गिराने का ही यत्न करता है। उसके अपने मन में यह सूक्ष्म भावना होती है कि लोग मुझे समझदार व्यक्ति मानें अच्छा कार्यकर्ता मानें तथा मेरी बात को भी मूल्य दिया करें। इस प्रकार के दूषित मन वाला वह व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा (Conscience) पर पट्टी बान्धकर भी अकथ्य को कहे चला जाता है और वातावरण में तामसिक वाइब्रेशन्स अथवा लहर फैलाता है। उसके मन में घृणा का मनोभाव होता है और उस नफ़रत तथा द्वेष के वशीभूत हुआ-हुआ वह दूसरों के मन में भी उस व्यक्ति के लिये घृणा का विष भर देता है और फिर कहता है – "मेरी कोई उस व्यक्ति से शत्रुता थोड़े ही है, मैं तो वैसे ही यथा-सत्य बात बता रहा हूँ; मैं कोई उस व्यक्ति का विरोध थोड़े ही कर रहा हूँ, मैं तो इसलिये ही यह कह रहा हूँ कि उनके कार्य में संशोधन हो और वह पहले से अच्छा हो...।" अपने नशे में चूर उस व्यक्ति को यह नहीं पता कि वास्तव में मन के किसी अन्धेरे कोने में छिपा हुआ यह मेरा

अभिमान, घृणा, द्वेष, डाह रूपी भूतों का गिरोह बोल रहा है! वह अनुशासन को भंग करके, संयम-नियम को ताकपर रखकर, गम्भीरता को तिलांजलि देकर, वाक-विलास से मतवाला हुआ-सा जिह्वा के पीछे-पीछे वैसे ही चलता है जैसे कोई ऊंट नकेल पकड़े हुए चूहे के पीछे चलता है। परन्तु फिर भी वह समझता यह है कि मैं तो बहुत ऊंचा हूँ। हाय, हाय वह प्रभु के गुण गाने की बजाय, अपने अवगुण निकालने की बजाय, पर-चिन्तन के पचड़े में पड़कर अपने श्वास व्यर्थ गँवाने में मिथ्या रस लेता है जो कि वास्तव में घातक विष का रस है।

दृष्टिकोण और विधि

यदि किसी व्यक्ति के मन में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार आदि नहीं हैं तो उसके कहने का तरीका ही अलग होता है। वह सहानुभूति से, स्नेह से, दूसरे को उसकी बुराई से छुड़ाने के लिए उसे मधुर शब्दों में सुझाव देता है; वह चुभोने या बदनाम करने के भाव से बात नहीं कहता। उसके चेहरे पर अट्टहास या रोष के चिह्न नहीं होते। वह आत्म-चिन्तन की स्थिति में होते हुए दूसरे की भलाई के लिए, उसे ईश्वरीय ज्ञान के नियम या दिव्य मर्यादा का बोध कराने के लिये ही बात कहता है। वह दूसरे को मान देते हुए उसके गुणों को भी ध्यान में रखते हुए ही जो उचित हो और जितना उचित हो सो कहता है। उसके मन का भाव दूसरे को हीन बताना या उसके कार्य की कमियाँ बताकर स्वयं का मनोरन्जन करना नहीं होता, बल्कि वह सहयोगी बनकर, स्नेह का सबूत देते हुए ही हित की बात कहता है।

देश और काल

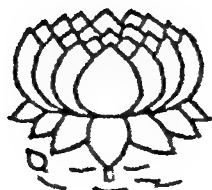
दूसरे की भलाई के लिये, उसकी उन्नति के भाव से यदि कोई उसकी कमियों का वर्णन करता है तो वह स्थान, समय और प्रसंग को ध्यान में रखकर ही करता है। वह हर आये दिन, सब जगह, जहाँ वहाँ उठता-बैठता है, बिना प्रसंग या आवश्यकता के यों ही अनियन्त्रित बात नहीं करता। वह हर बार निष्ठा-पूरक शब्दों को भिन्न-भिन्न रीति से दोहराता नहीं रहता। जहाँ उसका मान रखवाना हो वहाँ वह उसको बढ़ाता भी है और जहां उसे त्रुटी बतानी हो वहाँ ही वह उसे बताता है। यदि वह देखता है कि अब इस व्यक्ति की कमियाँ बताने से इसकी मानसिक स्थिति बिगड़ेगी तो वह नहीं बताता बल्कि चुप रहता है और उसे पता तक भी नहीं लगने देता कि इसके मन में कुछ ऐसी बात है। वह गम्भीरता रूप दिव्य गुण को नहीं छोड़ता। जब दूसरा व्यक्ति अपने बारे में उससे [illegible] करता है या जब कोई प्रसंग ऐसा आता है या अनुकूल परिस्थिति होती है तब

वह उस व्यक्ति की कमियों को उसे बताता है।

व्यक्ति

वह हरेक व्यक्ति को उसकी कमियाँ या दोष नहीं बताता रहता, बल्कि सबसे पहले तो सुहृद की न्यायीं उसे ही बताता है जिसमें वह कमियाँ हैं। उसके अतिरिक्त वह केवल उन्हीं को ही बताता है जो उसे शिक्षा दे सकें या तो उससे बड़े हों। या तो वह उन्हीं को ही उसकी कमियाँ बताता है जिनका उससे कार्य का सम्बन्ध हो। उन्हें भी वह इसलिये ही बताता है कि जिससे वे परिचित होकर सुचारू रूप से काम कर सकें। हाँ, जब कोई व्यक्ति एक-दो चार-आठ, दस-बार बताये जाने के बाद भी बुरी आदत को नहीं छोड़ता तब उसे ठीक करने के लिए कुछेक स्वजनों के सामने भी उसकी भूल को बताना पड़ता है, परन्तु तब भी बताने का तरीका शिष्ट, हितपूर्ण और अहंकार-रहित ही होना चाहिये।

वर्ना यदि कोई स्वाभिमानवश, ईर्ष्या या द्वेष वश, घृणा से आक्रान्त होकर, शब्द संयम को अथवा अनुशासन को तोड़कर, अभद्र रीति से, अट्टहास या नीचा दिखाने की भावना से बेमौका या असमय पर, ऐसे व्यक्तियों के सामने जिनका कोई मतलब ही न हो, दूसरे की निन्दा करता है तो मानना चाहिये कि वह स्वयं माया के वशीभूत होकर अपने पाप बढ़ा रहा है। वह कर्त्तव्य नहीं अकर्त्तव्य कर रहा है, भलाई नहीं बुराई कर रहा है; वह समीक्षक या आलोचक नहीं, बल्कि निंदक है; वह जागरुक या सूक्ष्म द्रष्टा नहीं, बल्कि माया की निद्रा में सोया हुआ तथा अवगुण-द्रष्टा तथा पर-चिन्तन करने वाला है।



अच्छाई और बुराई में अन्तर

कुछ लोगों को जब आहार, व्यवहार और आचार की शुद्धि के नियम का पाल करने के लिए कहा जाता है तो वे अंग्रेज़ी के एक वाक्य का उद्धरण देते हु कहते हैं कि 'अच्छाई' और 'बुराई' में मूलत: कोई 'अन्तर' ही नहीं अन्तर केवल एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के सोचने के तरीके के कारण दिखाई दे है – There is nothing good or bad, only thinking makes it so. आज संसार एक ऐसी हवा-सी फैल गई है कि जब किसी शिक्षित व्यक्ति के व्यवहार में कोई आच अथवा नैतिकता के विरुद्ध बात दिखाई देती है तो उस ओर उसका ध्यान खिंचवाने वह तुरन्त कह उठता है – "आप इसे 'बुरा' क्यों कहते हैं? बुराई तो मनुष्य के अ ही दृष्टिकोण की उपज है?" इस प्रकार के वाक्यों द्वारा वह अपनी बुराई के लिए अ बनाकर स्वयं को समाज की निगाह में अच्छा सिद्ध करना चाहता है कि उसके अ आचरण में कोई बुराई नहीं है।

परन्तु इस वाक्य की ओट लेने की बात को उठाकर हमें देखना तो चाहिए कि क वस्तुत: कोई अन्तर है या नहीं। यदि अन्तर है तब तो यों ही लोग स्वयं को धोखे डालते हैं।

एक उदाहरण

इस बात का निर्णय करने के लिए एक उदाहरण को सामने रखना ठीक होगा। कु लोग जो मांसाहारी हैं, उन्हें जब यह कहा जाता है कि मांस खाना अच्छा नहीं है तो इसी वाक्य को उद्धृत कर देते हैं और मानते हैं कि उन्होंने अपने व्यवहार की पुष्टि एक अकाट्य तर्क पेश कर दिया है। परन्तु क्या उनका ऐसा सोचना ठीक है?

इस विषय में सोचने की सबसे पहली बात तो यह है कि किसी बुद्धिमान लेखक वक्ता या चिन्तक ने किसी अवसर पर जो बात कह दी उसके कथन को सार्वकालि सत्य मान लेना अथवा उसके प्रसंग को हटाकर उसके वाक्य को शाश्वत सत्य मान गोया अपने साथ भी धोखा करना है और उस व्यक्ति के साथ भी अन्याय करना है। इ बात के स्पष्टीकरण के लिए हम कुछ ही समय पूर्व एक प्रसिद्ध और बहुचर्चित घट को सामने रख लेते हैं। सेना के एक अधिकारी, चोपड़ा साहब, के दो बच्चों (गीता औ

संजय) को बिल्ला और रंगा ने बर्बरता से मारा था। हम पूछते हैं कि क्या कोई उस हत्या के कर्म को 'अच्छा' कहेगा? सभी समाचार पत्रों में इस विषय में जो न्यायिक निर्णय छपते रहे, सम्पादक की डाक में प्राप्त हुए पत्र प्रकाशित होते रहे या इस विषय पर विशेष लेख छपते रहे, उनमें किसी ने भी तो इस वारदात को **'अच्छा'** नहीं कहा। सर्वोच्च न्यायालय ने भी उन्हें इसके लिए दण्डित करने का निर्णय दिया, भारत के राष्ट्रपति ने भी उनके लिए दण्ड में कोई रियायत नहीं की, जनता ने भी निरापवाद रूप से इस कर्म को 'बुरा' कहा, यहाँ तक कि बिल्ला की माँ ने भी इसकी भर्त्सना की और बिल्ला की मृत्यु होने पर उसके शव को भी वह लेने नहीं आई, न अन्त में वह उससे मिलने आई। इसी प्रकार रंगा के सम्बन्धियों ने भी यही कहा कि यह एक अच्छा व्यक्ति था परन्तु संग-दोष से यह 'बुरा' बन गया था। अतः हम पूछते हैं कि इस घटना को सामने रखकर कोई कह सकता है कि कार में दो मासूम बच्चों को धोखा देकर ले जाना और फिर निर्जन स्थान पर उन निहत्थों पर वार करके उन्हें मौत के घाट उतारना 'बुरा' नहीं था? हमें विश्वास है कि किसी सिर-फिरे व्यक्ति के सिवा कोई भी इसे 'अच्छा' कर्म नहीं मानेगा। तब भला उनकी वह दलील कि अच्छाई और बुराई तो विचार-भेद ही का परिणाम हैं, धराशायी हो जाती है! **अतः हमें यह याद रखना चाहिए कि यह वाक्य हर परिस्थिति पर ठीक घटित नहीं होता। इस उक्ति के प्रयोग करने के अवसर अलग हैं, जहाँ किसी को दुःख देने या किसी की हत्या करने की बात सामने आती है, वहाँ यह तर्क ठीक काम नहीं करता।**

यह वाक्य किस अवसर पर उद्धृत किया ज़ा सकता है?

इस वाक्य का प्रयोग करने की परिस्थितियाँ अलग प्रकार की हैं। वे ऐसी हैं कि जहाँ केवल एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति की 'पसन्द' में अन्तर होता है और किसी नैतिक नियम का उल्लंघन नहीं होता। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए कि एक व्यक्ति अपने कोट के लिए कपड़ा ले आता है और उसका एक मित्र उसे कहता है – "अरे मित्र, यह कैसा कपड़ा लाए हो? यह कोई रंग है? आप भी कैसे आदमी हैं कि पैसा खर्च करके कबाड़ा घर में ले आए हो!" – तो यह उसके मित्र का अपना विचार है। हरे रंग का कपड़ा खरीदने वाले को तो सुन्दर लगता था परन्तु उसके मित्र को सुन्दर नहीं लगता, इसीलिए वह उसे 'बुरा' कह रहा है। यहाँ 'अच्छाई' और 'बुराई' में शाश्वत अन्तर नहीं है, बल्कि 'पसन्द' का अन्तर है और वह अन्तर दो व्यक्तियों के बीच दृष्टिकोण का

या वैचारिक अन्तर मात्र है, उससे संसार को कोई हानि होने वाली नहीं है।

परन्तु मांसाहारी की जो बात उठाई गई थी, उसके प्रसंग में तो इस तर्क को पेश करना ग़लत है क्योंकि उसमें जीव-हत्या का प्रश्न सम्मिलित है। हम पूछते हैं कि – "जैसे गीता और संजय की हत्या करना एक बुरा कर्म था, क्या वैसे ही अन्य किसी मासूम जीव की हत्या करना पाप अर्थात् बुरा कर्म नहीं है? जैसे मानव सन्तति को जीवित रहने का अधिकार है, क्या पशु सन्तति को जीवित रहने का अधिकार नहीं है? चूँकि पशु अपने पक्ष में कुछ बोल नहीं सकते, इसलिए उनकी हत्या करना एक दयनीय और घृणित कर्म करना नहीं है? निष्पक्ष भाव से सोचा जाय तो यह एक बुरा कर्म है। निर्णय और न्याय करने के कार्य में निष्पक्ष भाव एक पहली शर्त हुआ करती है क्योंकि पक्षपात या स्वार्थ के कारण मनुष्य ठीक निर्णय नहीं कर सकता। अत: अपनी जिह्वा के स्वाद या पेट के पकवान का प्रश्न छोड़कर विचार करने पर तो यही कहना पड़ेगा कि यह 'बुरा' कर्म है! अपना पेट भरने के लिए दूसरों की जान लेना, यह करुणा, दया, सद्भावना, अहिंसा प्रेम, आदि सद्गुणों अथवा सद्व्यवहार के विरुद्ध है। यदि कोई पशु किसी मनुष्य की हत्या करता है तो हम उसे 'पशु' कहते हैं और उसके कर्म को कुकृत्य मानते हैं और यदि मनुष्य होकर भी कोई हिंसक पशु-जैसा कर्म करता है तो यह कहते हैं कि 'अच्छाई' और 'बुराई' में कोई अन्तर ही नहीं है! यदि 'अच्छाई' और 'बुराई' में कोई अन्तर नहीं तो फिर मनुष्य और पशु के व्यवहार में क्या अन्तर है।"

अत: अन्य पहलुओं को छोड़ भी दिया जाय तो मांसाहार सबसे पहले तो इसी बात के कारण बुरा है कि उस कर्म का आधार जीव-हत्या पर है जो कि एक अच्छा कर्म नहीं है।

इसी विषय में एक-दूसरे तरीके से भी विचार किया जा सकता है। वह ऐसे कि – पैसा कमाना तो कोई बुरी बात नहीं है परन्तु किसी को धोखा देकर, चोरी करके या डाका डालकर पैसा कमाना निस्संदेह बुरा कर्म है इसमें तो कोई विचारान्तर नहीं है। सभी देशों की सरकारों ने इसे अपराध माना है और दण्डनीय घोषित किया हुआ है। तो यद्यपि पेट पालने का अधिकार हरेक को है, दूसरे की जेब काट कर अपने पेट को भरने का अधिकार उसे नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य को भोजन करने की तो पूरी छूट है, परन्तु किसी को मार कर अपना पेट भरना यह कुकृत्य है। खाने की चीज़ें तो संसार भर में उसी प्रकार से बहुत हैं जिस प्रकार से कमाने के लिए तरीके बहुत हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से इस पर विचार

इस विषय में हमें यह भी देखना चाहिए कि कोई व्यक्ति किसी बात को 'अच्छा' और दूसरा उसी बात को 'बुरा' कहता है तो उसका आधार क्या है? उसके विचारान्तर का भी कोई तो आधार होगा ही। दोनों ही विचार सत्य और समतल तो हो नहीं सकते। उन विचारों के अन्तर के कारण की गहराई में जाने से ही मालूम हो जाएगा कि कौन-सी बात विवेक-सम्मत और अच्छी और कौन-सी बात विवेक-विरुद्ध और बुरी है। यों किसी न्यायालय में दो वकील भी तो अपनी-अपनी बात को ठीक सिद्ध करने का यत्न करते हैं। वे दोनों कानून की किताब से उद्धरण भी देते हैं, तर्क भी पेश करते हैं, गवाहों के बयान भी दिलाते हैं और अपनी बात को एक अच्छी-सी शब्द-रचना में भी प्रस्तुत करते हैं। परन्तु जज तो यह जानता ही है कि ये दोनों विरोधी पक्षों के वकील हैं और दोनों की बात सत्य और समतल तो हो नहीं सकती। इसी प्रकार किसी बात को यदि कोई अच्छा कहता है और दूसरा बुरा, तो निश्चय जानिए कि दोनों सत्य नहीं हो सकते। इसको सामने रखते हुए मानना होगा कि मांसाहार भी तो अच्छा होगा या बुरा — यह शाश्वत रूप से अच्छा नहीं हो सकता।

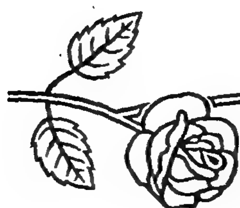
अब हमें यह देखना है कि मांस-भक्षी लोग प्राय: इस कारण से मांस का सेवन करते हैं कि उसमें प्रोटीन अधिक है अथवा उसमें अन्य भी पौष्टिक तत्व हैं। अब वास्तव में सोचने की एक बात तो यह है कि प्रोटीन तो सोयाबीन में भी हैं तब किसी की हत्या करने की क्या आवश्यकता है।

दूसरी बात यह है कि पाश्चात्य पद्धति के अनुसार जो वैज्ञानिक मांसाहार की प्रशंसा करते हैं उनका अध्ययन अथवा उनके प्रयोग तो एकांगी हैं। इस कारण से वे इसे अच्छा आहार मानते हैं। उनकी पद्धति में तो यह देखा जाता है कि किस पदार्थ से कितनी कैलोरी गर्मी पैदा होती है और उसमें कितने प्रोटीन, खनिज पदार्थ, लवण, शक्कर आदि-आदि हैं। अत: उस विचार से तो वे ठीक ही कहते हैं कि ये अच्छा है। परन्तु सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि वे न तो इस पर नैतिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं और न इस दृष्टिकोण से कि मनुष्य के तन के अतिरिक्त उसके मन पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है क्योंकि उनके विज्ञान में इन पक्षों का अध्ययन ही नहीं होता। अत: जो व्यक्ति इस पदार्थ को बुरा मानता है, वह उसके नैतिक पक्ष और मन पर इसके उत्तेजनाप्रद प्रभाव को सामने रखकर बुरा कहता है और उस दृष्टिकोण से तो यह पदार्थ बुरा ही है। इसका निष्कर्ष यह

हुआ कि एक वस्तु को यदि कोई एक व्यक्ति अच्छा और दूसरा बुरा कहता है तो हमें इस आधार पर उसे अच्छा नहीं मान लेना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति उसे बुरा क्यों कहता है ताकि कहीं ऐसा न हो कि उसे अच्छा कहने वाला व्यक्ति उसके किसी एक ही पक्ष पर विचार करके अपना निर्णय दे रहा हो जबकि अन्य किसी महत्वपूर्ण दृष्टिकोण से विचार करने पर वास्तव में वह है बुरा।

इस विषय में हमें एक वृतान्त याद हो आता है। मुसलमानों के माननीय हज़रत अली, मोहम्मद साहब इस बात को ज़ोरदार तरीके से कहा करते थे कि आख़िर एक दिन इस संसार का विनाश होगा। उस दिन खुदा सबके अच्छे और बुरे कर्मों का फैसला करेगा। जो अच्छे होंगे, उन्हें जन्नत मिलेगी और जो बुरे होंगे, उन्हें दोज़ख़ मिलेगा। उनके कहने का भाव यही होता था कि लोग बुराई से बच कर रहें। परन्तु कुछ लोग ऐसे थे जो कहते थे कि न तो कोई जन्नत है न कोई दोज़ख़ और न इस दुनिया का विनाश होगा और न कोई फैसला, बल्कि यह संसार तो सदा से चला ही आया है और चलता ही रहेगा। तब हज़रत अली उनसे कहा करते थे कि अगर कोई जन्नत और दोज़ख़ नहीं है और कोई विनाश या फैसला नहीं होने वाला, तो भी जो अच्छे इन्सान हैं, उनका तो उस समय कुछ बिगड़ेगा नहीं और अगर यह बात सच निकली कि जन्नत और दोज़ख़ हैं तो जो बुरे ठहराए जायेंगे, उनको तो दोज़ख़ मिलेगा ही गोया उनकी हानि तो होगी ही। अत: वे कहते कि इस बात को सामने रखते हुए भी पाप से बचना तो अच्छा ही हुआ।

इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि अगर दुनिया में बुराई नाम की कोई चीज़ है तो उसको छोड़ने वाले का तो कुछ नहीं बिगड़ेगा परन्तु जो बुराई को बुराई न मानकर उसे भी कर लेता है, उसे तो हानि होगी ही।



गति और प्रगति मंद क्यों?

जीवन एक यात्रा है; हरेक को अपने गंतव्य-स्थान पर पहुँचने का ध्यान तो रखना ही चाहिये। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि हरेक को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये तदानुसार लक्षण तो धारण करने ही चाहिये अथवा वांछित सिद्धि प्राप्त करने या सिद्धि स्वरूप बनने के लिये हरेक को साधना तो करनी ही चाहिये। **जब संसार में अनगिनत उपलब्धियों को एक ओर रखकर योगी ही बनने का किसी ने व्रत लिया हो तो उसे योग की सूक्ष्मता, गहराई, ऊंचाई या सिद्धि तक पहुँचने का पूरा यत्न तो करना ही चाहिये। आधा मरकर काम करने से क्या लाभ? उत्साह और उमंग ही यदि साथ न रहें तो एक किलो वज़न भी एक क्विंटल महसूस होता है। अत: परिस्थितियों से जूझ पड़ना ही वीरता है और कमर कस काम करने में ही सफ़लता है।**

योग से जो लाभ होते हैं, उनकी यदि सूची बनाने बैठें तो सम्भव भी नहीं होगा कि हम सूची बना पायें। इसकी बजाय ऐसा ही क्यों न कहें कि ''कोई ऐसी श्रेष्ठ प्राप्ति है ही नहीं जो योगी जीवन से प्राप्त न होती हो।'' जो प्रारब्ध बनती है वह तो अनुपम होती है परन्तु वर्तमान में योग की स्थिति से जो उपलब्धियाँ होती हैं, वे भी तो गूंगे को गुड़ के समान अवर्णनीय होती हैं।

गति मंद क्यों?

परन्तु यह सब जानते हुए भी योगी अपने पथ पर चलते-चलते स्वयं ही प्रगति क्यों नहीं कर पाता है? उसकी गति मन्द क्यों हो जाती है? अपार प्राप्ति के मार्ग से हटकर वह रुक क्यों जाता है? वह कभी-कभी पीछे क्यों हटने लग जाता है? योगी जीवन का जो श्रेष्ठ और रसीला अनुभव है, उसकी कमी क्यों महसूस करने लगता है? प्रभु की ओर बढ़ते-बढ़ते वह मार्ग खो क्यों बैठता है? यह तो एक अथाह हानि हो जाती है। **पुरुषार्थी अपने मन्द गति के कारण ही बताता रहता है; अपनी धीमी प्रगति होने का स्पष्टीकरण ही देता रहता है, परन्तु इसी बीच ऐसी अपार हानि हो जाती है कि फिर पछताने से उसकी क्षति-पूर्ति तो हो नहीं सकती।** लोग योगी को यम, नियम.... और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास करने के लिये कहते हैं और योगी भी मन में परमपिता परमात्मा का 'ध्यान' करने तथा यम-नियमों का पालन करने का पुरुषार्थ करने का ख्याल रखता है, परन्तु दो-तीन बातों का ध्यान न रखने से धीरे-धीरे यम-नियम भी ढीले होने लगते हैं और

परमपिता परमात्मा में भी ध्यान नहीं लगता। अत: मन में परमात्मा का 'ध्यान' करने के साथ-साथ दो-तीन महत्वपूर्ण बातों की ओर ध्यान देना भी ज़रूरी है वर्ना स्थिति परिपक्व नहीं हो पाती। किसी ने कहा है – "आया कुत्ता खा गया तू बैठी ढोल बजा।" एक माता अपनी पड़ोसिनों के साथ ढोल बजा कर कीर्तन करके शान्ति प्राप्त करने के यत्न में लगी थी; उसका ध्यान हटाकर कुत्ता उसकी सभी रोटियाँ ही हज़म कर गया! ऐसे ही मनुष्य तो टेप-रेकार्ड और कैसेट रूपी आधुनिक ढोल पर गीत बजाकर परमात्मा का ध्यान करने का यत्न कर रहा होता है परन्तु व्यर्थ संकल्प रूपी 'कुत्ता' आकर उसकी बनाई हुई धारणा ही चट करने लग जाता है।

अत: ज़रूरत इस बात की है कि मनुष्य जैसे ही परमपिता परमात्मा का 'ध्यान' करे वैसे वह तत्सम्बन्धित आवश्यक बातों पर भी ध्यान दे ताकि न केवल वह योगाभ्यासी ही बना रहे बल्कि वह "योगी जीवन" वाला भी हो। इसलिए निम्नलिखित दो-तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं –

सीखने की प्रवृत्ति और नम्रता

आध्यात्मिक जीवन में प्रगति रुक जाने का एक बहुत बड़ा कारण है – धीरे-धीरे सीखने की प्रवृति का मन्द पड़ जाना। जब व्यक्ति योगी जीवन के पथ पर पग धरता है तब प्रारम्भ में तो उसे एक धुन-सी लग जाती है। जीवन को पलट डालने के लिये वह उत्साही हो उठता है। उसके मन में यह संकल्प समर्थ बन जाता है कि योग के उच्च्व शिखर पर चढ़ जाना है। परन्तु जब वह कुछ सीख जाता है, थोड़ा-बहुत अन्य लोगों से आगे भी निकल जाता है या उसे योग के कुछ अच्छे अनुभव भी हो जाते हैं, तब वह स्वयं को अनुभवी या योग में शिक्षित मानकर चलने लगता है, आगे सीखने में उसकी पूर्ववत् रुचि नहीं रहती। उसका एक कारण यह भी होता है कि वह दूसरे योगाभ्यासियों में कई बार कोई जलवा नहीं देखता बल्कि उन्हें भी कहीं-न-कहीं रुका हुआ देखता है या वह स्वयं को ही समझदार मानकर दूसरों से योग-चर्चा करने, अनुभव का लेन-देन करने, उनसे अपनी प्रगति के लिये कुछ प्रकाश पाने की कामना ही नहीं करता। **सूक्ष्म रूप में उसमें एक अहंकार-सा होता है जिसका कई वार उसे पता भी नहीं रहता। वह अब यह भी नहीं सोचता कि अब यदि शरीर छूट जायेगा तो क्या गति होगी? क्यों न किसी वरिष्ठ योगी से कुछ और लाभ ले लें? जीवन के कार्य-क्षेत्र में वह भी कार्यकुशल होने से स्वयं को सर्व प्रकारेण कुशल ही मानने लग है और अपनी कमियों को छिपाकर, दबाकर या यों ही एक ओर करके रख लेता है।**

वह सोचता है कि "कमियाँ तो सभी में हैं।" इस प्रकार स्वयं को "तीस मार ख़ान" मानकर वह इतना तो गर्व के गर्त में धँस जाता है कि यदि उसे कोई हित-कामना करके दलदल से निकालना भी चाहे तो वह उसे अपने से भी कम श्रेणी का या सम-श्रेणी का मानकर उसकी नसीहत को हीं उड़ा देता है। परिणाम यह होता है कि पहले तो कोई, चाहे उससे वरिष्ठ ही क्यों न हो, उसे कुछ हित-मंगल की बात कहने में ही सकुचाता है; यदि वह उसे कह भी दे तो वह उसे 'हस्तक्षेप', 'अनाधिकार चेष्ठा', 'अनुचित' या 'व्यर्थ की बात' मानता है। वह या तो समझता है कि "यह बात तो मुझे भी मालूम थी, यह कौन-सी नई बात है", अथवा "यह कमज़ोरी तो सभी में है, केवल मुझमें थोड़े ही है", या कि 'केवल मुझे ही यह शिक्षा क्यों दी जाती है"; मुझे समझाने वाला पहले अपनी भूल तो ठीक करे....।" इस प्रकार की सारी प्रतिक्रिया सूक्ष्म अभिमान ही की कोपलें, कांटे और ज़हरीले पत्ते ही तो हैं। परन्तु वह इन्हें ही अपनी बुद्धिमता मानकर सद्बुद्धि के मार्ग पर आगे अनुभव पाने से वन्चित रह जाता है।

इसलिये कहा गया है कि नम्रता के बिना मनुष्य सीख नहीं सकता और कि जो सीखना ही नहीं चाहता, मानो कि वह बुड्ढा हो गया है; उसकी युवावस्था ही समाप्त हो गयी है। जब कोई सीखना ही बन्द कर देता है तो उस बुड्ढे का विकास कैसे होगा?

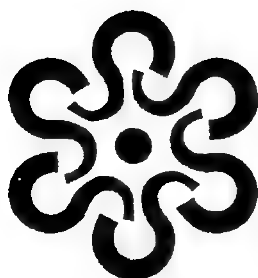
अत: अध्यात्म के पुरुषार्थी का सबसे पहले तो इस बात पर ध्यान होना चाहिये कि अभी और बहुत कुछ सीखना है। जिससे भी कुछ अच्छी बात मिले, उसे अवश्य धारण करना है। यह सारा जीवन ही अन्त तक सीखने के लिये है।

गुण ग्राहक वृति में कमी

सीखने का एक तरीका तो यह है कि जिससे भी हमें कोई अच्छी बात सुनने और समझने को मिले उसको हम अपने अभिमान में आकर या कोई-न-कोई व्याख्या देकर उसका तिरस्कार न कर दें, बल्कि बताने वाले का भी हार्दिक धन्यवाद करके कहें कि हम इस बात पर ध्यान देंगे और सही अर्थों में हम इस बात पर ध्यान दें भी। दूसरा तरीका यह है कि यदि हमें मौखिक रूप से कोई ऐसा ज्ञान-मोती या गुण-रत्न नहीं भी देता है तो हम वैसे भी व्यवहार में हरेक से गुण लें और उसके गुण की कभी चर्चा भी करें। यदि हम गुण नहीं लेंगे तो अवगुण लेंगे और उससे तो पतन ही होगा, प्रगति तो नहीं होगी। किसी के अवगुण देखने पर भी हम कुछ सीख तो रहे ही होंगे परन्तु उल्टा सीख रहे होंगे। इससे पुरुषार्थ की गाड़ी आगे बढ़ने की बजाय पीछे ही हटेगी।

टाल मटोल करने की आदत

हमारी प्रगति न होने का एक कारण यह भी है कि हम यह मानकर चलते हैं कि आगे चलकर हम अपने संस्कारों को बदल लेंगे, परिस्थितियाँ ही ऐसी आयेंगी जो सभी बदलेंगे; तब हम भी तो बदलेंगे ही। कुछ समय के बाद, जब हमारी अमुक परिस्थिति बदल जायेगी तो हम खूब योग साधेंगे। हम ऐसा तीव्र पुरुषार्थ करेंगे कि सभी देखते ही दंग रह जायेंगे। **इस प्रकार के सोच से मनुष्य पुरुषार्थ को स्थगित अथवा मुलतवी करता जाता है और परिणाम यह होता है कि समय हाथ से निकल जाता है।** अत: इस बात की ओर भी ध्यान देने की ज़रूरत है कि समय हाथ से न निकल जाय, जो करना है उसमें हम टालमटोल न करें वरना यह आलस्य और अलबेलापन बहुत ही हानिकर है। यदि हम इन बातों पर ध्यान देंगे तो परमपिता परमात्मा में हमारा 'ध्यान' लगेगा ही।



अवगुण - दर्शन?

जिस दिन से हम यह ठान लेते हैं कि हम योगी बनेंगे, उसी दिन से हम यह भी ठान लेते हैं कि हम अपने आहार, विचार, व्यवहार आदि को भी बदलेंगे और उसे योगीजन की मर्यादा के अनुकूल बनायेंगे। परन्तु इस प्रकार का दृढ़ ंकल्प करने के बाद हमारे जीवन में कई ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि वे हमारे लक्ष्य । हटाने का कारण बन सकती हैं। हमें चाहिए तो यही कि अपने दृढ़ संकल्प पर हम टे रहें और अडिग रहें परन्तु कई बार परिस्थितियाँ विचलित करने अथवा दिशा रिवर्तन करने के लिए झकझोर-सी देती हैं। उनमें से एक परिस्थिति है – **'अवगुण र्शन'** की।

विशेषकर जब हम यह देखते हैं कि किसी व्यक्ति के विषय में प्रायः मालूम तो यही है कि वह 'योगाभ्यासी' है परन्तु वास्तव में उसके व्यवहार में कुछेक ऐसी त्रुटियाँ हैं अथवा ऐसे अवगुण हैं जो कि योगी व्यक्ति के जीवन में नहीं होने चाहिए तब उसके प्रति हमारे मन में घृणा पैदा होने की सम्भावना है और यदि उसका व्यवहार हमारे साथ भी मृदुल एवं शिष्ट नहीं है तो उसके प्रति द्वेष पैदा होने की भी सम्भावना है। और फिर घृणा तथा द्वेष के परिणाम स्वरूप हमारे मन में उग्रता या कटुता आने की भी संभावना है। ऐसा होने पर वरिष्ठ जनों की बात न मान कर मनमानी करने की भी संभावना है।

चाहे कोई भी संस्था अत्यन्त महान भी हो, तो भी, उसमें योगाभ्यास करने वालों में कोई-कोई तो ऐसा निकल ही आएगा जिसके अवांछित संस्कार बदल देने में देर लग रही हो और, इस कारण, उस में अवगुण-दर्शन सहज ही दूसरों को दिखाई देते हों। फिर, जब किसी सर्वोत्तम संस्था में तीव्र गति से जन-वृद्धि भी हो रही है, तब शीघ्रता से बढ़ती हुई संख्या में कुछेक तो ऐसे लोग निकल ही आयेंगे जो योगाभ्यास तो करते हैं और किन्हीं पहलुओं में कुछ बदले भी हैं परन्तु अन्य कई पहलुओं में अभी नहीं बदले। ऐसे कम बदले हुए बहुत ही थोड़े-से साधारण [illegible] के भी हो सकते हैं और कोई विरला व्यक्ति संस्था का कार्यकर्ता भी हो सकता है। उनकी कमियों को देखकर कुछेक विद्यार्थियों के मन में उनके प्रति घृणा और द्वेष भी पैदा हो सकते हैं और [illegible] आक्रोश भी – यद्यपि ऐसा होना नहीं चाहिए। अतः इन असन्तुष्ट व्यक्तियों के लिए मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है कि वे असन्तुष्टता की [illegible]

मान लीजिए कि आज किसी संस्था में या स्थान पर कोई ऐसा व्यक्ति नहीं भी है त तीव्रता से बढ़ती हुई संख्या में कभी भी ऐसी परिस्थिति आ सकती है। अत: जैसे औ परिस्थितियों के लिए मर्यादाएं निश्चित हैं, इसके लिए भी जानना जरूरी है वि असन्तुष्टता होने पर योग के विद्यार्थी या अभ्यासी के लिए मर्यादा क्या है? शिव-दर्शन प्रभु-दर्शन या जीवन-दर्शन इस विषय पर क्या प्रकाश डालता है? इस विषय मे सिद्धान्तत: असन्तुष्ट व्यक्ति को या व्यक्तियों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करन चाहिए? ऐसी परिस्थिति में योगी के लिए आचार-सहिंता और व्यवहार-संहिता क्या है?

क्या किसी की बुराई को देख कर स्वयं बुराई अपना लेना उचित है?

इस विषय में इतना तो निश्चित ही है कि दूसरे किसी योगाभ्यासी की, चाहे व विद्यार्थी हो या कार्यकर्ता, कमियाँ, अमर्यादायें या बुराइयाँ देख कर अपना मानसिक सन्तुलन तो नहीं खो बैठना चाहिए। दूसरों में किसी भी प्रकार की कोई रजोगुणी य तमोगुणी वृत्ति या कृति देखकर स्वयं भी अपने सतोगुण को छोड़ कर रजोगुण य तमोगुण से आच्छादित हो जाना तो ऐसे ही है जैसे कि दूसरे के अपराध को देखते हु स्वयं भी अपराध करने लग जाना। किसी में कोई कमी देखकर उस व्यक्ति के विरुद्ध या उसके संरक्षकों, अभिभावकों अथवा वरिष्ठजनों आदि के विरुद्ध भड़क उठना भी तो एक अमर्यादा, कमी, त्रुटि या योग-विपरीत ही कर्म है। क्या दूसरे में किसी बुराई को देखकर स्वयं भी किसी बुराई को अपना लेना उचित है? कोई अपवाद की स्थिति हो या आपातकालीन परिस्थिति हो और योगाभ्यासी की स्थिति उसकी तुलना में निर्बल हो और बचाव अत्यन्त आवश्यक हो, तब की बात तो अलग है, वरना तो योगाभ्यासी का सर्वप्रथम अपने चित्त-वृत्तियों पर नियंत्रण होना चाहिए।

अपनी स्थिति पर प्रभाव

यह नियम है कि यदि कहीं भी और कभी भी कोई योगाभ्यासी व्यक्ति दूसरे योगाभ्यासी में कोई दुर्गुण देख कर अपने मन में घृणा लाता है या वातावरण में कोलाहल मचाता है, तो उसके परिणाम स्वरूप आखिर एक दिन तो महसूस करता ही है कि वह स्वयं भी अपनी योग-स्थिति से नीचे उतर आया है। परन्तु फिर भी वह अपने किसी ‌ ।रात्मक संस्कार या विचार के बहाव में बहे चले जाता है। कोई व्यक्ति तो ऐसा भी

हो सकता है कि वह समझाए जाने पर भी अपने को संभाल नहीं पाता और अशान्ति फैलाता है। ऐसा व्यक्ति भी कुछ समय व्यर्थ में लगे रहने के बाद आखिर महसूस करता है कि इस चक्कर में पड़ने से उसकी अपनी स्थिति भी हिल कर कमज़ोर हो गई है। परन्तु तब तक तो वह अपनी दिव्यता को काफी गँवा चुका होता है और उसकी हर कल्प पुनरावृत्त होने वाली अथाह हानि तो हो चुकी होती है।

ऐसे व्यक्ति को ठीक करने के लिए विद्यार्थी क्या कदम उठायें?

अतः प्रश्न उठता है कि जब कोई व्यक्ति ऐसे व्यक्ति में, जो 'योगी' माना जाता है, किन्हीं मर्यादाओं या नियमों का अभाव पाता है, तब उससे नफ़रत या वावेला करने की बजाए क्या करना चाहिए? तब उसे अमर्यादा वाले योगाभ्यासी के प्रति अपनी नाराज़गी को कैसे प्रगट करना चाहिए? क्या उसे उस योगाभ्यासी के विरुद्ध कोई अहिंसात्मक मुहिम या संगठित हलचल शुरू करनी चाहिए? **क्या योगी की जीवन-पद्धति में 'आन्दोलन' या प्रतिक्रियात्मक मुहिम आदि को कोई स्थान है?** जैसे महात्मा गांधी अहिंसात्मक आन्दोलन को उचित मानते थे, क्या धार्मिक, आध्यात्मिक या राजयोगाभ्यास के क्षेत्र में कभी इस विधि को समर्थन प्राप्त है? **राजयोग-मार्ग अपनाने के वाद यदि जीवन में किसी के व्यवहार अथवा आचार के प्रति असन्तुष्टता हो तो उसका प्रकटीकरण कैसे किया जाए?** असन्तुष्टता प्रगट करने की बात को छोड़ भी दिया जाए तो प्रश्न यह भी है कि मर्यादाएँ भंग करने वाले योगाभ्यासी को ठीक कैसे किया जाए? यदि अमर्यादा को नहीं छोड़ता तो योग विद्या का विद्यार्थी क्या करे? वह कुछ करे भी या न करे?

देखा जाए तो यह प्रश्न केवल तब ही नहीं उठता है, जब कोई योगी किसी अन्य योगाभ्यासी में त्रुटियाँ या अमर्यादाएँ देखता है, बल्कि यह प्रश्न तो तब भी उठता है जब किसी योगी को अपने दफ़्तर देश या समाज में ऐसे लोगों का सामना करना पड़ता है जो आचरणहीनता या भ्रष्टाचार पर तुले हुए हैं। आज के समाज में योगी को अपने दफ़्तर कारखाने इत्यादि के संगठन में भी रहना पड़ता है और वहाँ भी ऐसी परिस्थिति सामने आ सकती है कि जिससे उत्तेजित हो कर वह आन्दोलन – जैसा कोई कार्य करने को तैयार हो जाता है। ऐसे वातावरण में भी वह क्या करे?

राजयोगी की आचार एवं व्यवहार संहिता का आधार

किसी ने कहा है कि छाज तो बोले परन्तु छलनी छाज को क्या बोले जबकि स्वयं

उसमें बहुत छेद हैं? अत: अभी जब स्वयं में ही बड़े-बड़े दोष हैं तो दूसरों की क्या निंदा करें? उसमें क्यों दोष देखें? अपने ही दोष पूरी तरह नहीं मिटे, तब दूसरों के क्यों देखें? अत: राजयोग के अभ्यासी के लिए पहली धारणा तो यह है कि वह दूसरों के दोषों पर ध्यान ही न दे। वह हंस के समान मोती चुगने वाला ही बना रहे, बगुला न बने। उसे किसी दूसरे राजयोगाभ्यासी में बुराइयाँ दिखाई दे जाएं तो सर्वप्रथम वह देखा-अनदेखा कर दे। **राजयोगी की जीवन-पद्धति गुण-ग्राहकता पर बल देती है और अवगुण-दर्शन से बचकर रहने की ताकीद करती है। जीवन के दिन थोड़ें हैं और इसी सीमित अवधि में अपने भी दुर्गुणों को मिटाना है, तब दूसरे के दुर्गुणों पर ध्यान देने, उन्हें मन में स्थान देने, अथवा उनका चिन्तन करने का अवकाश कहाँ है? ''पर-चिन्तन पतन की जड़ है और आत्म-चिन्तन ही उन्नति की सीढ़ी है'' – इस उक्ति के अनुसार पर-चिन्तन करना तो गोया अपने लिए खाई खोदना है। अत: राजयोग के विद्यार्थी को चाहिए कि फरिश्ता बनने, देवता बनने या उड़ती कला को प्राप्त करने के लक्ष्य को वह सदा अपने सामने रखे और सदा ईश्वरीय गुणों का ही मनन-चिंतन करता रहे।** वह याद रखे कि किसी व्यक्ति के अवगुणों का चिन्तन करने से प्रभु-चिन्तन तो छूट ही जाएगा और एक व्यक्ति ही के अवगुणों का ध्यान बना रहेगा। इस से तो अव्यक्त अथवा कर्मातीत अवस्था का ध्यान ध्वस्त हो जाएगा। अत: सर्वश्रेष्ठ तो यही है कि दूसरे के अवगुणों का बखान (Complaint) करने की बजाए वह स्वयं सम्पूर्ण (Complete) बनने का यत्न करे। वह अपने आचार और व्यवहार से दूसरों को प्रेरित करे। वह दूसरों की अच्छाई को सामने रख कर उन्हें आगे बढ़ाए।

किसी के प्रति घृणा और द्वेष होने से तो उसमें और भी अधिक गिरावट आयेगी।। इसकी बजाय किसी के प्रति प्रेम होगा और हम उसका उत्साह बढ़ाएंगे तभी उसमें परिवर्तन सम्भव है। अगर किसी योगाभ्यासी अथवा योग-विद्या के विद्यार्थी को अन्य किसी योगाभ्यासी में मर्यादा-विरुद्ध कुछ बातें दिखाई देती हैं तो उनसे मन में चुभन नहीं होनी चाहिए, बल्कि उचित तो यह है कि वह दूसरे के प्रति मित्र-भाव रखते हुए, शुभभावना और शुभ-कामना से उसे उन कमियों के प्रति सतर्क एवं सावधान करे और कमियाँ मिटाने में उसे सहयोग दे। किसी के प्रति नकारात्मक भाव रखने से तो उसके बदलने में और भी अत्याधिक रुकावट आती है। कहा भी गया है कि 'संकल्प से सृष्टि रची जाती है'। अत: यदि उसे किसी के दोष दिखाई दे जाते हैं तो वह उसके प्रति दया-भाव या सहानुभूति का व्यवहार करे। उसकी बुराइयों का ढिंढोरा पीटने का धन्धा तो योगी

की आचार-सहिंता के विरुद्ध है। योगी का कर्त्तव्य तो यह है कि अपने शक्तिशाली शुभ संकल्पों से दूसरे में परिवर्तन लाये। यदि किसी के दोषों को देख कर उसका अपना मन भी घृणा और द्वेष से भर उठता है तो यह निश्चित है कि आज नहीं तो कल वह स्वयं भी दोष-महादोष का शिकार हो जाएगा। **भले कहीं वह चाहता तो यही है कि दूसरा व्यक्ति भी बुराई में न डूबे परन्तु अवगुण-स्मरण का परिणाम होता यही है कि अवगुणी की बार-बार चर्चा करने वाला उसके साथ ही माया के रसातल में जा पहुँचता है। दूसरों में कमी देखते-देखते वह स्वयं भी कमियों की दलदल में उतर पड़ता है।**

अवगुण देखते रहने वाले किसी-किसी व्यक्ति में तो एक-न-एक दिन घृणा और द्वेष एक ज्वालामुखी की तरह फट जाते हैं। वह आग-बबूला हो उठता है और पर-चिन्तन की अग्नि लेकर दूसरों के मन को भी आग लगाना शुरू कर देता है। वह दूसरों की पवित्रता और शान्ति को भी सुलगा या भड़का देता है। **उसे यह भूल जाता है कि घृणा और द्वेष दोनों ही क्रोध के पुत्र हैं और रामायण के 'खल' और 'दूषण' हैं या नेत्रहीन धृतराष्ट्र के पुत्र-दुर्योधन और दु:शासन – अथवा दो पात्र – शकुनी और जयद्रथ हैं। ये तो रावणी सेना के सैनिक हैं अथवा महाभारत काण्ड के महानायक हैं।** वह सहज ही अपनी नाक में इन असुरों की नकेल डलवा लेता है और इनकी ताल पर नाचता है। भक्ति मार्ग की खड़ताल छोड़ कर वह अब दुर्गति मार्ग की खड़ताल बजाने लगता, कोयले की दलाली में मुंह काला करने के लिए कूद पड़ता है। नारद मुनि की तरह वह व्यक्ति-व्यक्ति में फूट डलवा देता है।

योगाभ्यासी को मालूम होना चाहिए कि अवगुणों या दुर्गुणों को मन में स्थान देने तथा उन्हें स्मरण करने आदि के परिणामस्वरूप घृणा-द्वेष, निन्दा तथा बदले की भावना इत्यादि दुर्गुण तो पैदा होंगे ही। जैसा बीज होगा वैसा ही तो फल होगा? जब ये दुर्गुण योग रूपी दुर्ग (किले) पर कब्ज़ा कर लेंगे तो ये ऊधम मचायेंगे ही। ये निन्दा-चुगली करने के लिए विवश करेंगे ही। वे जगह-जगह दूसरों के दोष-कथन के लिए मन में उकसाहट पैदा करेंगे ही। वे दूसरे-दूसरे योगाभ्यासियों पर भी वार करेंगे। उनका कान भर कर, उन के मन को दूषित करेंगे और उनकी भी पवित्रता और शान्ति को ध्वस्त करके अपना कार्य-क्षेत्र बढ़ाने को तत्पर होंगे और इस प्रकार निन्दा, चुगली, दोष-वर्णन इत्यादि निकृष्ट कर्मों में व्यस्त कर देंगे। गोया यह कर्म उनका धन्धा-सा बनने लगेगा। वे ज्ञान-ध्यान और योग-प्रयोग की बात को गौण कराके पर-चिन्तन के धन्धे की धूल से लथपथ कर

देंगे। पिछले विकर्मों को दग्ध करने की चिंता मिटा कर नया निकृष्ट खाता खोलने की उकसाहट पैदा करेंगे। व्यक्ति सोचेगा – "यह फलाँ 'योगी' मर्यादाओं को भंग कर रहा है – उसे सीधा करो। लोगों पर उसका पर्दाफाश करो। जन-जन को उसका भेद बताओ। उसकी भूलों और कमियों का चिट्ठा खोल कर सबको बताओ। आन्दोलन (Agitation) छेड़ कर कुछ करके दिखाओ, कुछ मज़ा चखाओ।" माया के उस तूफान की झकझोर में आ कर वह यह भूल जायेगा कि ऐसा सोचना तो गोया ईश्वरीय आज्ञा का स्वयं भी उल्लंघन करना है। ईश्वराज्ञा तो यह है कि "बदला मत लो; दूसरे के मन को बदलो"। वह यह भी भूल जाएगा कि उसके अपने ही कर्मों का चिट्ठा अभी तक साफ नहीं हुआ। अभी तो अपने दामन में दाग़ बहुत लगे हैं।

उस समय परमपिता की याद न होने से वह यह भूल जाएगा कि परमात्मीय गुण तो दया, करुणा, मधुरता और कल्याणकारी वृत्ति ही हैं। ऐसी स्थिति में प्रभु की प्रत्यक्षता करने की बजाए वह उस व्यक्ति की जन-जन के समक्ष 'प्रत्यक्षता' करने का यत्न करेगा जिस से वह रुष्ट है अथवा जिसमें कमियाँ दिखाई देती हैं। स्वरूप-विस्मृति होने के कारण उसे यह भूल जाएगा कि "मैं आत्मा मास्टर पतित-पावन हूँ, दु:खहर्ता और सुख-कर्ता प्रभु की सन्तान होने के कारण मैं भी दूसरों के दु:खों को हरने वाला हूँ।" उसकी बजाय आन्दोलन करके वह उस व्यक्ति, जिस में अमर्यादा दिखाई देती है, को मानसिक दु:ख देने पर भी उतारू हो जाएगा। "न दु:ख दो, न दु:ख लो" की इस ईश्वरीय शिक्षा को भूल कर फिर कलियुगी रीति-नीति और जीवन-पद्धति को अपना बैठेगा और अपना ही स्वराज्य का अधिकार गँवा बैठेगा। वह 'फूल' बनने की बजाय 'काँटा' बनने लगेगा। इस प्रकार, उसमें असन्तुष्टता स्थायी-भाव का रूप ले लेगी। दूसरों को मानसिक पीड़ा देने की आदत पड़ने लगेगी। संगठन बनाने तथा वक्ता होने के अपने गुणों को भी वह अशान्ति फैलाने, विरोध करने, नफरत पैदा करने तथा विद्रोह-भाव उत्पन्न करने में लगाने लगेगा। मन में उत्थल-पुत्थल (Agitation) होने के कारण, उसमें उत्थल-पुत्थल (Agitation) पैदा करने की प्रवृत्ति जोर पकड़ेगी। ज्ञान-ध्यान को एक तरफ रख कर वह कटु आलोचनाओं की तलवार और 'मर्यादाओं' की म्यान पर हाथ रखते हुए "हूँ!" – भाव के नशे में आवेश की चाल चलेगा और बाहर का सुन्दर रूप यह होगा कि "मैं मर्यादाओं का पालन तथा उनकी रक्षा करने वाला योगी हूँ।" उसके भाव और भाषा में [illegible] और तनाव रूपी तिर-तिर के पटाखों की आवाज़ भरा होगा। ***तपस्या*** करने की

बजाए वह दूसरों के लिए — यहाँ तक कि उनके लिए जिनके लिए उसके मन में अभी तक भी सम्मान था — ***समस्या*** पैदा करने लगेगा। कल तक जो भक्ति करते हुए भगवान् से प्रर्थाना करता था — "प्रभु जी, मोरे अवगुण चित्त न धरो," — वह अब स्वयं दूसरों के अवगुण अपने चित्त में धरने लगेगा जैसे कि उसका अपना मन पीकदान, थूकदान या कचड़े का डिब्बा हो।

इन सभी रोग-चिह्नों (Symptoms) से स्पष्ट है कि अवगुण-दुगुर्ण-दर्शन, निन्दा, कटु आलोचना, मन-मुटाव,घृणा, द्वेष, बदले की भावना, बदनाम करने की कुप्रवृत्तियाँ, मानसिक पीड़ा देने वाले हाव-भाव कर्म योग-वृत्ति के घातक हैं। उक्साहट (Agitation), तनाव, हलचल मचाना दैवी सम्पदा नहीं हैं, यह तमोगुणी रीति-नीति ही के सूचक हैं। योगी का व्यवहार मृदु, स्वभाव निर्मल, कर्मेन्द्रियाँ शीतल, मन-वाणी मंजुल और वृत्ति निश्छल होनी चाहिए।

अत: सर्वप्रथम तो योगाभ्यासी यही पुरुषार्थ करे कि दूसरों में गुणों को देखे और गुण ग्राहक बने, वह अवगुण दुर्गुण न देखे। यदि वह देख लेता है तो उन्हें चित्त में न धरे बल्कि उस व्यक्ति के प्रति मित्र भाव से उसे ठीक होने में सहयोग दे और साथ-साथ उससे घृणा न क़रे। यदि इस पर भी उसके मन में दूसरे के वे अवगुण खटकते हैं तो वह वरिष्ठ योगी को जिसमें उस व्यक्ति की आस्था हो, उस तक बात पहुँचा दे परन्तु इसमें उसके मन में उसके प्रति आक्रोश या मन-मुटाव न हो बल्कि उसके प्रति हित भावना ही हो। इससे भी यदि उस व्यक्ति में सुधार न हो तो एक-दो बार वरिष्ठजन तक वह पुन: उस की सूचना दे दे। उसके बाद भी यदि सुधार नहीं होता तो वह दूसरे की बुराई से प्रभावित न हो, उसकी बुराई से मेल-मिलाप न करे परन्तु न्यारा और प्यारा हो कर योगी जीवन को ठीक बनाए रखे और यह सोच ले कि सद्गुरू एवं धर्मराज भगवान् स्वयं ही कुछ करेंगे। फिर भी यदि उसके मन में यह आता हो कि इससे हानि बहुत है तो वह युक्ति-युक्त एवं शक्तिशाली शब्दों में उसका रचनात्मक उपाय वरिष्ठजन को या उनके परामर्शकों को सुझाव के रूप में दे। इतना सब करने के बाद वह पूर्णत: निश्चिन्त हो कर अपने पुरुषार्थ को तीव्रतर करे और अपनी योगशक्ति ही से परिवर्तन कर सकता है तो करे। सहज राजयोग के मार्ग में हठयोग के या कलियुग के अन्य ऐसे तरीके प्रयोग करना उचित नहीं है जिनसे अशान्ति फैले।



पैदा होते ही रोये थे, परन्तु अब.....?

इस कलियुगी संसार में जब बच्चा गर्भ-जेल से निकल कर संसार रूपी वृहद् जेल में प्रवेश करता है तो प्रकाश की पहली किरण देखते ही वह 'व्हां-व्हां' शब्द या ध्वनि का उच्चारण करना शुरू कर देता है। भारत में तो 'व्हां-व्हां....' ही का उच्चारण करता है। अंग्रेजी या अन्य भाषाओं में इसके अनुवाद के रूप में कोई और ध्वनि करता हो तो हमें मालूम नहीं है (!) परन्तु हमारा अनुमान यह है कि "व्हां-व्हां" ये अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का पहला संयुक्त अक्षर है। इसे हम संसार-भर के नवजात शिशुओं का पहला बर्थ-राईट (Birth-right) भी कह सकते हैं, क्योंकि हरेक बच्चा जन्म लेते ही पहली विरासत यही लेता है। यही नारा लगाता है। कई लोग कहते हैं कि यदि बच्चा पैदा होते ही ऐसी रुदन-ध्वनि न करे तो समझना चाहिये कि वह अस्वस्थ या असामान्य (Abnormal) है। तो गोया हुआ न यह हर बच्चे का बर्थ-राईट या सहज स्वभाव (Common trait)?

चाहे कोई बच्चा बड़ा होकर चर्चिल, स्टालिन, हिटलर, मसोलिनी बना हो या सिकन्दर महान् (यद्यपि सिकन्दर 'महान्' था नहीं) परन्तु वह पैदा होते ही रोया अवश्य। इराक के यदि सद्दाम हुसैन के रिश्तेदारों से पूछा जाये तो वे भी कहेंगे कि सद्दाम हुसैन (सद्दाम शब्द का अर्थ है—'टक्कर' लेना या सामना करना) ने भी पैदा होते ही रुदन किया था।

बच्चा पैदा होते ही रोता क्यों है? डाक्टर लोग तो इसकी व्याख्या शरीर-विज्ञान के आधार पर देते हैं परन्तु दार्शनिक लोग या अभौतिकी (Metaphysics) के ज्ञाता इसकी व्याख्या मानसिक या संवेगात्मक (Emotional) आधार पर देते हैं। कई कहते हैं कि बच्चे के तन में आविष्ट आत्मा अपने जिन प्रिय मित्र-सम्बन्धियों को छोड़कर आयी है, उनके प्रति उसकी मोह-ममता उसे बिछुड़ने की व्यथा के रूप में कचोटती है। अन्य लोग विनोद-भरे स्वर में कहते हैं कि बच्चे के रूप में प्रगट हुई आत्मा जब गर्भ में थी तो कहती थी "धर्मराज जी, मुझ निर्बल आत्मा पर दया करो! निस्सन्देह मैंने बहुत बड़े-बड़े पाप किये हैं। उसके ही दण्डस्वरूप यह गर्भ-जेल मैं भोग रही हूँ। परन्तु हे नाथ, हे कृपा-निधान! अब इस काल-कोठरी से निकालो, क्योंकि यहाँ तो पांव पसारने की भी जगह नहीं है; न कोई रोशनदान है और न खिड़की। हे धर्मराज जी, मैं धर्म की कसम लेकर कहता हूँ कि एक बार इस क्रूरि कारावास से मुक्त कीजिए, विशाल संसार की खुली हवा खाने दीजिये। यहाँ तो मैं उल्टा लटका हूँ। और रक्त-मांस से सना हुआ हूँ। मैं पक्का

वायदा करता हूँ कि एक बार आप बाहर निकालेंगे तो फिर कभी भी पाप-कर्म, विकर्म या कुकर्म नहीं करूंगा। सुनो मेरे नाथ, मेरी इस करुण पुकार को और दया करो दीन-हीन जीव पर!....."

और जब उसको बाहर निकाला जाता है तो वह "व्हां-व्हां" की जो ध्वनि करता है, उसका अर्थ यह होता है कि – "हे धर्मराज जी, अब तो मैं बाहर आ ही गया। अब गर्भ में जो मैंने कहा था, व्हां (वहां) की व्हां (वहां) रही। अब तो इस संसार की चाश्नी चाट लेने दो!" गोया जैसे कोई जेब-कतरा (pick-pocket) देहली के प्रसिद्ध किसी तिहार जेल से बाहर निकलते ही बस पर चढ़ कर घर पहुँचने से पहले ही फिर किसी की जेब पर हाथ साफ़ करता है, वैसा ही कर्म जन्म-जन्म का अपराधी जीव भी प्रायः किया करता है।

जन्म लेते ही रोये तो महात्मा बुद्ध भी थे और आद्य शंकराचार्य भी। परन्तु बुद्ध ने तो बुद्धत्व प्राप्त होने पर कहा कि यह संसार दुःखों का 'घर' है। परन्तु शंकराचार्य ने तत्व ज्ञान प्राप्त होने पर कहा कि यह जगत् बना ही नहीं है। जन्म होने पर रोये तो कबीर जी भी थे। परन्तु सन्त कबीर बनने पर वे संसार की अटपटी बातों को देख-देख कर कवित्व में अपना रोना रोते थे। उदाहरण के तौर पर एक जगह उन्होंने कहा है –

रंगी को ना-रंगी कहें, बना दूध का खोया
चलती को गाड़ी कहें, देख कबीरा रोया।

परन्तु कबीर का यह रोना वास्तव में रोना 'नहीं' था। इस रोने में न तो इन्सान के आंसू थे, न मगरमच्छ के। यह तो शेरो-शायरी थी। यह तो एक तर्ज़े-बयान था; काव्य कला की एक अपनी छटा थी। अब इस विषय में ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय की मान्यता है कि संसार तो बना है परन्तु मनुष्य ने अपने विकारों द्वारा दुःखमय बना दिया है और अब मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण रोता है।

लेकिन उस रोने को आप क्या कहिएगा जहाँ कोई कहलाता तो ज्ञानवान हो और रोता हो जैसे वह नादान हो। जब कोई अज्ञानी या देहाभिमानी व्यक्ति, जो मोह की रस्सियों में यह समझ कर खुशी से बन्धा है कि यह रेशमी रस्सियां एक श्रृंगार हैं, अपने किसी 'प्रिय' के देहान्त पर सिर धुन-धुन या छाती पीट-पीट कर इस प्रकार ज़ार-ज़ार रोता है जैसे कि उसके लिए आज ही मुहरर्म हो, तो उसके रोने की बात तो समझ में आ सकती है परन्तु जब कोई आत्म-वेत्ता, ज्ञानी-महाज्ञानी रोता है तो क्या कहेंगे? "काम-क्रोध-मद-लोभ की जब लौं घट में आन, पण्डित हो या मूर्खा दोनों एक समान" – इस उक्ति के अनुसार 'रोना' तो आत्म-विस्मृति, प्रभु-विस्मृति और प्रिय-विछोह ही का प्रतीक

है। जब कोई कहता है कि "मुझे तो प्रियतम प्रभु मिल गए है, मुझे तो भगवान् मिल जाने से गोया सब-कुछ मिल गया है, तब यदि वह भी आंसुओं का कुप्प ही उंडेल दे तो इस विरोधाभिव्यक्ति को कैसे समझा जाए? आम तौर पर रोता कोई तब है जब वह लुट गया हो, पिट गया हो या उससे कोई प्रिय छिन गया हो अथवा बिछुड़ गया हो, परन्तु स्वयं त्रिलोकीपति भगवान् को पा लेने वाले का तो हर्ष ऐसा होना चाहिए कि खुशी से उसकी बांछे सदा खिली रहें, हृदय सदा गद्-गद् रहे, रोमांच सदा खड़े रहें और वह खुशी से फूला न समाए। अरे भगवान् मिल गया, तब तो मनुष्य की खुशी का पारा थर्मामीटर से बाहर आ जाना चाहिए! रोती तो कोई विधवा है अथवा रोता तो कोई अनाथ है या किसी जालिम के ज़ुल्म से भयभीत, उसके जाल में फंसा हुआ जीव है। ईश्वर को पाकर तो अनाथ भी सही अर्थों में सनाथ हो जाता है, विधवा भी सधवा-साधवी बन जाती है और यदि कोई अत्याचार करने पर भी तुला हो तो तपस्वी के तप से उसकी तलवार भी मोम की तरह पिघल कर गिर जाती है या उस निर्दयी का हृदय भी उस शक्ति के सामने काँप जाता है।"

खैर, बात किसी और तरफ चली गयी है। हम कहना यह चाहते थे कि मनुष्य पैदा होते ही चाहे किसी भी कारण से रोया था, परन्तु उसे चाहिए था कि बड़ा होने पर ऐसे काम न करता कि जिसके कारण दूसरे रोयें या जिसके परिणामस्वरूप अगला जन्म होने पर उसे फिर रोना पड़े। परन्तु मनुष्य की अज्ञानता की तो यह हालत है कि वह ऐसे कर्म करने से हटता ही नहीं कि जो अपने तथा दूसरों के लिये दुःखदायक हों। मनुष्य ने जन्म-जन्मान्तर कितनों को रुलाया होगा। कितनों के आंसू बहाए होंगे। अपनी डांट-डपट से, कटु वचनों से, निकम्मी हरकतों से कितनों को परेशान किया होगा। अपनी घृणा और द्वेष वृत्ति से, अपने भद्दे या अपमानजनक व्यवहार से, तुनकियों (Taunts) और तेवड़ों से, क्रोध और आवेश से उसने कितनों के दिल को जलाया होगा, उन्हें सताया होगा और उनको ठेस पहुँचाई होगी। है कोई गिनती इस बात की? है किसी के पास हिसाब इसका?

अफसोस तो यह है कि इतनों की आह निकलवाने पर, सिस्कियां बन्धवाने पर, या सीने को आग लगाने पर भी उसके मन में अफसोस नहीं! इतना ज़ुल्म करने पर भी वह स्वयं को भला मानुष मानता है और समझता है 'जालिम' तो शायद केवल उन्हीं को कहा जाता है जो किसीको खंजर मारते हैं। अपनी वाणी के बाण मार कर कितनों की खुशी के दीप बुझा कर भी वह स्वयं को दूध से धुला हुआ एक नेक इन्सान मानता है। अच्छा-सा सूट पहन कर स्वयं को जेन्टलमेन (Gentleman) समझता है।

इसलिए शिव बाबा ने कहा है – 'बच्चे, अब तो मीठा बोलो!'

शुभ भावना और शुभ कामना

आज जो कलियुगी संसार चल रहा है, इसका कार्य-व्यापार प्रायः मुकाबला-बाजी, होड़, ईर्ष्या, मन-मुटाव या हाय-दुहाई से ही चल रहा है। किसी वस्तु का एक व्यापारी उसी वस्तु के दूसरे व्यापारी को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझता है। एक व्यक्ति किसी बाज़ार में भल्ले पकौड़ी की अच्छी दुकान चलती देखकर स्वयं भी वहां उसी चीज़ की दुकान खोलने की कोशिश करता है। आज का आर्थिक ढांचा ही ऐसा है कि व्यापारी अपने मुनाफ़े को घटाकर भी, ग्राहक को दूसरे के पास जाने से रोकने के लिए, उसे सस्ते दाम चीज़ देने को तैयार हो जाता है। उसी वस्तु की दूसरी, सामने वाली दुकान का मालिक ग्राहक को देखकर यह सोचता रहता है कि यह दुकानदार ग्राहकों को फ़ुसलाता है। इस प्रकार सारा व्यापार खींचातानी पर आधारित है, एक-दूसरे की खुशी पर नहीं। कपड़े की दुकान पर कोई खरीदार जाता है तो विक्रेता ग्राहक के अच्छे कपड़े और बनाव-श्रृंगार देखकर, उसे मोटा ग्राहक मानकर झट से मुस्कुराते हुए उसे बैठने के लिए आमन्त्रित करता है और उसके लिए कैम्पा कोला मंगवाता है। वह उससे मीठी-मीठी बातें करता है और जब कपड़े के दस थान देखने पर भी ग्राहक पसन्द नहीं करता तो वह अपने माथे पर त्योड़ी लाये बिना, बड़ी मधुरता और सहनशीलता से उसे और-और नमूने दिखाता जाता है। वास्तव में उसकी यह मुस्कुराहट, मधुरता और सहनशीलता सब बनावटी और अस्थाई होते हैं। वह जो इतने सारे नमूने दिखाता है, यह तो सब उसकी विक्रय-नीति के दाव पेच हैं। इसमें आध्यात्मिक नैतिकता को प्रायः कोई स्थान नहीं। हां, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इसका अपवाद हैं, परन्तु ऐसे लोगों की संख्या कलि के इस अन्त में अति न्यून है। अधिकतर व्यापारी तो अधिक-से-अधिक पैसा बनाना चाहते हैं और उनमें स्वार्थ कूट-कूट कर भरा है। वे इसे केवल अपने जीवन-निर्वाह का साधन नहीं मानते बल्कि अपनी कई पीढ़ियों के लिए भी सामान इकट्ठा कर जाना चाहते हैं। इन्होंने अपने मन में यह नहीं निश्चित किया होता कि वे एक रुपये के पीछे कितना पैसा कमायेंगे, उनकी तो यह लालसा रहती है कि मिट्टी बेचें और सोना मिले। इस प्रकार आज के व्यापार का आधार न तो मानवी प्यार है, न कोई सम्बन्ध का स्नेह है, न उसमें सेवा की कोई रंच मात्र भी पुट है बल्कि जिसे कभी 'उत्तम खेती, मध्यम व्यापार' कहा गया था, अब तो उसका रूप ही बदल गया है। इसीलिए न तो आज व्यापार में 'बरकत' नाम की कोई

चीज़ रही है न 'झूंगा' बल्कि हरेक वस्तु की 'क्वालिटी' (Quality,गुण) भी घटती जा रही है और इसके दाम बढ़ते जा रहे हैं।

आज लेने और देने का आधार शुभ भावना और शुभ कामना नहीं है या सम्बन्ध और स्नेह नहीं है बल्कि केवल सौदा बाज़ी, चुक-चुकाव आदि है। व्यापारी और उद्योगपति सरकार से खुश नहीं क्योंकि उनके विचार से वह कर (Tax) अधिक लेती है। और खरीदार व्यापारी से इसलिए खुश नहीं कि वह माल घटिया व दाम बढ़िया का लक्ष्य लिये हुए रहता है। गोया आज का सारा सौदा खुशी का सौदा नहीं। प्राय: जब कोई किसी को पैसे देता है, तो वह मन में खुश होकर नहीं देता। कहीं पर लोग रिश्वत के रूप में पैसा ले रहे हैं और देने वाला तंग होकर मजबूरी से कोसता हुआ-सा पैसा देता है चाहे देते हुए बाहर से वह अपनी शान दिखा रहा है। मिल-मालिक अपने मज़दूर को पैसे देता है या सरकार अपने कर्मचारियों को वेतन देती है तो वह भी खुश होकर नहीं। वे कहते हैं कि आज के कर्मचारी काम तो कम करते हैं और पैसे अधिक मांगते हैं। कर्मचारी कहते हैं कि आज मालिक अपने मुलाज़िम की हालत पर तो ध्यान देते नहीं और कम वेतन से काम अधिक कराना चाहते हैं। इस प्रकार, स्नेह के स्थान पर रुपया हर किसी के मन में बैठ गया है। कोई किसी को शुभाशीष नहीं दे रहा बल्कि सब-कुछ मज़बूरी ही से और कुढ़ते-कुढ़ते हो रहा है। यही कारण है कि आज मनुष्य खाता, पीता और पहनता है तो भी उसके मन में सच्ची और स्थाई खुशी नहीं है क्योंकि बहुत-कार्यों के पीछे परेशानी, बद्दुआ और श्राप-जैसी-मनो-भावना है। कोई किसी से इतना खुश नहीं कि उसका मन नाच उठे।

आज अध्यापक कहते हैं कि विद्यार्थी पहले-जैसे नहीं रहे। वे विद्यार्थियों के व्यवहार अथवा उनकी अनुशासनहीनता से तंग हैं। केवल मजबूरी से ही पैसे ही के कारण वे पढ़ा रहे हैं; ताकि विद्यार्थी हड़ताल न कर दें और स्वयं उन्हें भी वेतन मिलता रहे। विद्यार्थी इसलिए पढ़ते हैं कि उन्हें भी पढ़कर कमाना होता है, अध्यापकों से वैसे खुश वे भी नहीं हैं जैसे पहले हुआ करते थे क्योंकि दोनों में स्नेह-सम्बन्ध का अभाव है।

गोया आज का जो सामाजिक ढांचा है, उसमें लेने की भावना अधिक और देने की भावना कम है। और लेने और देने दोनों कर्मों में प्रेम की अनुपस्थिति, निष्ठुरता, रूखापन, स्वार्थपरता भरी हुई है। बुजुर्गों से हम सुनते हैं कि एक ज़माना ऐसा भी था जब एक व्यक्ति दूसरे को कोई चीज़ देता भी तो उसमें पैसा लेने का उसका मन नहीं

करता था। व्यवसाय होने के कारण वह लेता भी था तो माल अधिक देना चाहता था और पैसा कम लेना चाहता था। विक्रेता खरीददार को कहता था, "मैं आपसे पैसे नहीं लूंगा, आप और हम कोई अपरिचित थोड़े ही हैं। यह तो घर की जैसी बात है; घर वालों से पैसे थोड़े ही लिये जाते हैं। आप चीज़ ले जाइये; आपके पैसे मेरे पास आ गये – ऐसे ही मान लीजिए। आप स्वयं जो आ गये, मेरे लिए क्या यह कम खुशी की बात है?" गोया प्रेम-सम्बन्ध के कारण वे एक-दूसरे से पैसा लेते-देते भी शरमाते थे और लेने और देने के लिए हाथ बढ़ाना ही उन्हें अखरता था। परन्तु आज व्यापारी अपने परिचित लोगों से मुरव्वत ही मुरव्वत में पैसा बना लेते हैं। कहावत मशहूर हो गई है कि बेटा बाप से और बाप बेटे से भी पैसे लेता है। आज तो व्यापारी खुल्लम-खुल्ला कहते हैं कि व्यापार की बात अलग रखिए, सम्बन्ध जतला कर मुफ्त में लेने वाले भी बहुत हैं और चीज़ें तो महंगी हो ही गई हैं।

बात केवल व्यापारियों की नहीं है, हर धन्धे का यही हाल है और जीवन के हर क्षेत्र में पैसे का सवाल है। हम ऊपर कर्मचारियों, विद्यार्थियों तथा अध्यापकों का उदाहरण दे आये हैं। वस्तु-स्थिति हरेक क्षेत्र की यही है। आज पुत्र-पौत्र, अपने माता-पिता व दादा दादी से आशीर्वाद नहीं, पैसा ही मांगते हैं और उनके भी पूरे मनोबल से, स्थाई और सच्चा आशीर्वाद नहीं निकलता बल्कि वह आशीर्वाद भी मजबूरी से ही देते हैं।

सरकारी कर्मचारी जो स्वयं को पहले पब्लिक सर्वेन्ट (Public Servant, सेवक) कहा करते थे, अब वे भी सेवक न होकर अधिकारी के रूप से व्यवहार करते हैं। दूसरों की समस्याओं का हल निकालने की सेवा को अपना कर्त्तव्य समझने की बजाय वे अपनी पैसे की समस्या को हल करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसलिए सरकारी कर्मचारी रूपी अधिकारी होने के नाते वे अपनी मुलाज़मत के दिनों में ही अपना मकान बना लेना चाहते हैं और अपना साधन इकट्ठा कर लेना चाहते हैं। इसलिए उन्हें प्रायः यह कहते सुना जाता है कि यह तो सरकारी काम है, चलता ही रहेगा; यह कभी समाप्त थोड़े ही होता है। इस प्रकार वे इसे अपनी सेवा न मानकर सरकार अर्थात् किसी गैर का कार्य मानते हैं। आज भी जब कोई व्यक्ति रिटायर हो जाता है तो कहा जाता है कि वह 'सेवा निवृत्त' हो गया अथवा उसका सेवा-काल (Duration of Service) समाप्त हो गया है। परन्तु वास्तव में उनमें कोई सेवा व स्नेह का भाव होता नहीं।

सतयुग में समाज का ढांचा इससे बिल्कुल अलग प्रकार का था। राजा और प्रजा में

पिता-पुत्र जैसा व्यवहार था और प्रजा में परस्पर भाईचारे जैसी स्थिति थी। तब व्यापार भी एक-दूसरे को नज़राने, उपहार अथवा भेंट देने जैसा था। कोई व्यक्ति किसी वस्तु के बारे में पूछता था तो उसे वह वस्तु चुक-चुका किये बिना दे दी जाती थी। और वह भी कोई अन्य वस्तु किसी समय भेंट या उपहार के रूप में दे देता था। कोई किसी से दुकानदार या खरीदार के नाते नहीं मिलता था न कर्मचारी और मालिक की वहां भावना थी। तब प्रधानता धन की नहीं, भाई-चारे की थी। स्नेह से भरे मन से सभी लोग एक-दूसरे को खुशी से देना ज्यादा पसन्द करते थे और लेने की कामना उनमें व्यक्त नहीं होती थी। दूसरे के पास कोई वस्तु अधिक हो तो लोग उसे देखकर उसका मुकाबला नहीं करते थे न उससे जलते-भुनते थे बल्कि वे अपने मन में यह सोचते थे कि यह अपना प्रिय ही तो है; इसके पास अधिक है तो अच्छा ही तो है। जिसके पास किसी वस्तु का अधिक्य होता था, वह यह सोचता था कि अपने से कम वालों को किस प्रकार भेंट करें। वास्तव में किसी चीज़ का अभाव तो था ही नहीं। ऐसी सभ्यता का मूल आधार यह था कि उसमें खींचातान नहीं थी। हरेक के मन में दूसरे के प्रति शुभ भावना व शुभ कामना स्वाभाविक रूप से बनी रहती थी। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य के प्रति कभी अशुभ सोचता ही नहीं था।

आज के ढांचे को यदि हम बदलना चाहते हैं और फिर से सतयुग जैसी स्थिति लाना चाहते हैं तो हमें फिर से शुभ भावना और शुभ कामना ही को अपना स्वभाव बनाना होगा। हमें अपने जीवन को इस प्रकार ढालना और मोड़ना होगा कि सबके मन से हमारे लिए मंगल कामना अथवा आशीर्वाद ही की भावना उत्पन्न हो। खींचातानी, कशमकश, कहा-सुनी, मुकाबलाबाज़ी, होड़, पर-पीड़न — इससे ही इस संसार की हालत बिगड़ी है। जिस काम में दूसरे की भी भलाई हो और अपनी भी भलाई हो, वही काम भला हुआ करता है। सबकी भलाई को सामने रखकर कार्य, व्यवहार और आचार को बनाने से फिर सतयुग के दिन लौट आयेंगे, यह दुनिया हरीभरी हो जाएगी और सबके चेहरों पर खुशी, चमक और उत्साह दिखाई देगा।

आज संसार में करोड़ों लोग भूखे-प्यासे, रोगी, नंगे, अशिक्षित, धन-साधन रहित, पीड़ित, अशान्त है, उनके विलबिलाते या तमतमाते प्रकम्पनों से तो सारे संसार में मायूसी का वातावरण बना हुआ है और यदि कहीं खुशी की झलक दिखाई भी देती है तो वह नाटकीय, बनावटी अथवा क्षणिक ही है। निर्धन लोगों के मन में शुभ भावना की बजाय

आक्रोश भरा है और धनवान लोगों के मन में लोभ और लालसा की उठती लहरें थपथपा रही हैं। एक तरफ़ विकारों की अशान्ति और दूसरी तरफ़ अभाव का दुःख इस संसार में फैल रहा है। यदि आज से लेकर हम एक-दूसरे को आगे बढ़ता देखकर खुश होना सीखें, एक-दूसरे के लिए मन में शुभ-भावना और शुभ-कामना रखें, परस्पर सम्बन्धों में व्यापार लाने की बजाय स्नेह को मुख्यता दें तो फिर सतयुग के दिन जल्दी लौट आयेंगे। शुभ भावना और शुभ कामना ऐसी जड़ी-बूटी है जो मन की जन्म-जन्मान्तर की अशान्ति के रोग को दूर करती है और स्वयं मन की जड़ तक पहुंचकर विकारों रूपी जड़ की बूटियों को निकाल देती है। शान्ति, शान्ति, शान्ति। शुभ, शुभ, शुभ। बस यही हमारी नब्ज़ की चाल हो, यही दिल की धड़कन और यही हमारी श्वास-प्रश्वास क्रिया, यही हमारे कदम-कदम का रिद्म (Rhythm,ताल)। इसी में सारे दर्शनों का और सारी नैतिकता का सार समाया है।



जीवन में हर्ष कैसे बना रहे?

किसी ने कहा है कि मनुष्य और पशु में यह मुख्य भेद है कि मनुष्य तो हँसता है, परन्तु पशु नहीं हँसता। अगर यह सच है तो उस मनुष्य को पशु-तुल्य ही कहेंगे जो हँसता नहीं है। अगर यह सच नहीं है, अर्थात् अगर यह कहा जाय कि पशु भी अपनी तरह से हँसते हैं, तब तो वह मनुष्य जो नहीं हँसते अथवा नहीं मुस्कराते, वे पशु से भी अधिक दुर्भाग्यशाली हैं। पशु हँसते हों और वह मनुष्य न हँसता हो तो उसे मनुष्य-जीवन का क्या लाभ?

हँसना भी मन में हर्ष होने की एक निशानी है। हर्ष तो हरेक मनुष्य अपने जीवन में चाहता है, परन्तु किन्हीं कारणों से उसका मन विक्षिप्त हो उठता है। मन को हर्षित अवस्था में लाने के लिए ईश्वरीय ज्ञान और योग एक मुख्य साधन है, परन्तु देखा गया है कि मनुष्य का योग भी तभी ठीक प्रकार से लगता है जब मनुष्य हर्षित अथवा मुदित अवस्था में हो। यद्यपि इस कलियुगी दुनिया में तथा विकारी जीवन में दुःख देखने के बाद ही मनुष्य योग का आधार ढूँढता है परन्तु यदि मनुष्य के मन में दुःख, शोक, अफ़सोस, खेद, चिन्ता आदि की लहर रहे तो उसका मन एकाग्र नहीं हो पाता और योग में भी उसकी एकरस स्थिति नहीं हो पाती। उस अवस्था में यदि मनुष्य परमात्मा को याद करता भी है तो भी उस याद का रंग-ढंग अथवा उसकी रूप-रेखा कुछ और प्रकार की ही होती है। वह याद एक विरह-वेदना, एक आर्त पुकार अथवा एक हीन-दीन की शरण-याचना की तरह होती है जिसमें थोड़ी अशान्ति की लहर का समावेश अवश्य होता है।

उदाहरण के तौर पर एक मनुष्य को जब व्यापार में हानि हो जाती है तब ईश्वरीय स्मृति में मन को एकाग्र करना चाहते हुए भी उसका मन स्थिर नहीं होता। वह योग का रस-पान करने के बजाय इधर-उधर भागता है। उसके मन में कभी तो यह संकल्प आता है कि मैं अमुक भूल न करता तो इतनी हानि न होती। कभी वह सोचता है कि अब इस हानि को किस प्रकार पूरा करूँ? कभी यह विचार उठता है कि लोग पैसा माँगने आएंगे तो मैं उनको क्या जवाब दूँगा? इस प्रकार **धन-हानि** के कारण उसके मन में थोड़ा अशान्ति का समावेश होता है। वह ईश्वर को याद भी करता है तो एक भरे हुए अथवा भारी मन से। वह ईश्वरीय स्मृति में रहने का अभ्यास करते हुए या तो ईश्वर से उपालम्भ करता है कि उसने सहायता क्यों न की या उसकी शरण में जाना चाहता है कि

ब वह इस विकट परिस्थिति से किसी प्रकार बचाये। तो जिस मनुष्य का मन आज तक हज ही ईश्वरीय याद में टिक जाता था आज उसके मन में हर्ष अथवा आनन्द न होने के कारण उसे मन को स्थित करने में भी रुकावट महसूस होती है और इस प्रकार योग द्वारा जो आनन्द मिलता था, वह भी नहीं मिल पाता।

इसी प्रकार, मान लीजिए कि एक माता ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहती है। परन्तु एक दिन उसका पति, जो कि वासना को छोड़ना नहीं चाहता, उसे बहुत मारता है। अब वह माता योगारूढ़ होने की कोशिश करती है परन्तु आज उसके मन में यह विचार चलते हैं कि – "पता नहीं यह बन्धन कब छूटेगा? [illegible] कार्य में पता नहीं मेरा पति कब मुझे सहयोग देगा? हे [illegible] भव-बन्धन काट दो, प्रतिदिन की इस यातना से मुझे मुक्त करो [illegible] बुद्धि को शुद्धि दो.....!" इस प्रकार आज ईश्वरीय [illegible] थोड़ी-सी अशान्ति की लहर का होना सम्भव है। अतः आज उसका योग [illegible] होकर, इन लौकिक संकल्पों से मिश्रित हो सकता है [illegible] अवस्था न होने के कारण, ऐसी भूमिका में योग को [illegible] है। यदि पति से हुई ताड़ना को वह किसी तरह तुरन्त ही [illegible] हो जाएगा और वह अमिश्रित एवं अखण्ड योग [illegible] कर सकेगी। अतः योग की पूर्ण सिद्धि को [illegible] बने रहना ज़रूरी है वरना यदि मन ऊंट की तरह [illegible] कभी बायें झुकता रहेगा तो योग में एकाग्र [illegible] नहीं हो सकेगा।

हर्ष न रहने के कारण

अब हमें सोचना यह है कि मन [illegible] है? [illegible] के जानने के लिए यह भी जानना ज़रूरी है कि [illegible] कारण क्या-क्या होते हैं?

जीवन में मनुष्य के मन में [illegible] पैदा होती है, उन पर विचार [illegible] सम्भव तभी होता है जब [illegible] है या उसकी कोई चीज़ [illegible]

के तौर पर मान लीजिये कि एक व्यक्ति को अपने व्यापार या व्यवसाय में हानि होती है। तो वह कहता है कि – "हाय, मेरा धन मुझसे छिन गया, हाय मैं मारा गया!" किसी महिला के पुत्र की मृत्यु हो जाती है तो वह रोती-चिल्लाती है। उससे पूछा जाय कि – 'माता, तुम रोती क्यों हो?' तो वह कहती है कि – "हाय, मेरा बालक मुझसे छिन गया!" किसी को रोग हो जाय तो वह भी हर्ष में नहीं होता, क्योंकि वह महसूस करता है कि उसका स्वास्थ्य उससे छिन गया। इसी प्रकार किसी का पद छिन जाय या किसी का मान कम हो जाय तो भी उसके मन में दुःख की लहर उत्पन्न होती है। तब भी वह व्यक्ति यही कहता है कि – "हाय, मैं मारा गया!" तो पुत्र छिन जाय, स्वास्थ्य छिन जाय, धन छिन जाय या मान छिन जाय – क़िसी भी चीज़ के छिन जाने में मनुष्य मृत्यु-जैसा दुःख अनुभव करने लगता है; वह अप्राप्ति या कमी को मौत के तुल्य समझता है, इसीलिए वह कहता है कि – "हाय, मैं मारा गया!" वह किसी भी वस्तु की अप्राप्ति या हानि को ज़िन्दगी-मौत का सवाल बना लेता है और "मैं मारा गया, मेरा धन मारा गया, मेरा स्वास्थ्य नष्ट हो गया, मेरी साख, मेरी इज्ज़त मारी गयी" – इसी प्रकार 'मारा गया', 'मारी गयी' की रट लगाता है और यदि वह बहुत ही संवेदनशील (Sensitive) व्यक्ति हो तो ज़िन्दगी का अन्त कर, अपने पास मौत को बुलाने के लिए भी तैयार हो जाता है। अर्थात् अन्य जो कुछ भी रहा हुआ है, उसे भी वह छोड़ देना चाहता है, **गोया अप्राप्ति, कमी और किसी अधिकार या चीज़ का छिन जाना मनुष्य को बहुत खटकता है। वह उसके मन को कांटे की तरह चुभता रहता है और कभी तो वह कांटा निकल जाता है, कभी गहरा धस जाता है, कभी घाव कर देता है और कभी तो वह ज़हर या पस (Pus) इकट्ठा करके घातक सिद्ध होता है। तो मन में जो अप्राप्ति की चुभन है, कमी का कांटा है, 'छिन गया' की टीस है, यह कैसे मिटे?**

अप्राप्ति, कमी या हानि को सभी एक-जैसा महसूस नहीं करते

अब एक और बात पर ध्यान दीजिए। वह यह कि एक व्यक्ति तो थोड़ी-सी हानि को भी बहुत मानता है, दूसरा व्यक्ति बहुत हानि की भी परवाह नहीं करता। मान लीजिए कि दो साझीदार एक सौदे में कुछ गंवा बैठते हैं – हज़ार या दो हज़ार का नुकसान कर बैठते हैं। आप देखेंगे कि इस हानि के परिणामस्वरूप एक भागीदार तो बहुत उदास हो जाता है, वह बार-बार कहता है कि – "इस सौदे में हज़ार रूपया मारा गया", परन्तु ... भागीदार कहता है कि – "मारा तो गया परन्तु अब चिन्ता करने से क्या होगा!"

हानि के कारण दु:ख का लेश तो दूसरे भागीदार के मन में भी आता है परन्तु वह उसे "हो गया सो हो गया, आगे के लिए सावधान रहेंगे" – ऐसा सोचकर स्वयं को चिन्ता की चिंगारी नहीं लगने देता। तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि अप्राप्ति या कमी आदि को भी सभी एक-जैसा महसूस नहीं करते। उसे कोई कितना महसूस करता है – यह उसके स्वभाव, संस्कार या दृष्टिकोण पर आधारित है। कोई तो परवाह (चिन्ता) करता है, कोई बे-परवाह हो जाता है।

एक निर्धन मनुष्य जिसके पास कुल सौ रूपये की पूँजी है, दस रूपये गँवा बैठने के बाद फिर जल्दी ही खुशी की अवस्था में आ जाता है; वह सोचता है कि, "कमाये भी हमने थे, अब चले गए तो हम क्या कर सकते हैं? अब हम अपने मन को दु:खी क्यों करें, हम फिर कमा लेंगे, हमने कौनसा कोई महल या कोई जागीर बनानी है!" दूसरे एक व्यक्ति के पास दस लाख रूपया है, उसे एक लाख रूपये की हानि हो जाती है, तब भी उसे ग़म लग जाता है; वह यह नहीं सोचता कि मेरे पास खाने-पहनने के लिए बहुत है, मैंने यह लाखों रूपया साथ थोड़े ही ले जाना है; दौलत तो आनी-जानी चीज़ है, मैं इसके लिए अपनी खुशी क्यों गँवाऊ? तो देखिये, सोचने के तरीके में अन्तर होने के कारण, दृष्टिकोण में भेद होने के कारण या अधिक महसूस करने (feeling) का संस्कार होने के कारण, किसी दुर्घटना पर बार-बार ध्यान देने का स्वभाव होने के कारण मनुष्य अपनी खुशी को स्वयं ही गँवा बैठता है। एक माता अपने पुत्र की मृत्यु होने के कारण ज़ोर-ज़ोर से रोती अथवा माथा पीटती तथा छाती को छलनी करती है, दूसरी कहती है कि – "यह संसार तो मुसाफ़िर खाना है, कौन सदा किसी के साथ रहता है, आया था सो चला गया....." इस प्रकार वह अपने मन को काबू कर लेती है। तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अप्राप्ति, कमी या 'छिन गया' – इससे सभी को एक-जैसा दु:ख नहीं होता, बल्कि यह मनुष्य के ठीक दृष्टिकोण, धैर्य, सन्तोषी स्वभाव और आत्म-विश्वास तथा पुरुषार्थ की प्रबलता पर निर्भर करता है। यदि मनुष्य में ये गुण हों तो शीघ्रातिशीघ्र ही हर्ष उसके मन में लौट आता है और यदि ये नहीं हैं तो उसकी अवस्था में दु:ख की लहर घण्टों, महीनों, वर्षों तक चलती रहती है।

संस्कार, स्वभाव या दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की ज़रूरत

तो स्पष्ट है कि यदि हम हर्ष की अवस्था बनाये रखना चाहते हैं तो हमें अपने संस्कारों को, स्वभाव को या दृष्टिकोण को ठीक रखना होगा, परिस्थितियाँ तो बदलती

रहेंगी, परन्तु यदि हमारी विचारधारा ठीक हो, सोचने का तरीका और उन्हें देखने का तरीका ज्ञान-युक्त हो तो हमारी अवस्था में स्थैर्यम् (स्थिरता) आ सकेगा। कहने का भाव यह है कि हमें एक तो **धैर्य**, दूसरे **सन्तोष** और तीसरे **उपराम** (Worryless) **अवस्था** धारण करनी पड़ेगी।

धैर्य

जीवन में बहुत-सी घटनाएं ऐसी आती हैं कि उनका तत्काल परिणाम तो हानिकर मालूम होता है, परन्तु कुछ समय के बाद पता चलता है कि वास्तव में वे हमारे लिए लाभकर (Bleesing in disguise) थीं। अत: जो मनुष्य धैर्य नहीं करता, वह तुरन्त ही घबरा जाता है, आकुल-व्याकुल हो जाता है और उस घबराहट में न केवल अपनी खुशी गँवा बैठता है बल्कि इससे उसका उद्यम भी कम हो जाता है और वह वातावरण तथा सहयोगियों को भी बिगाड़ बैठता है। बादशाह राबर्ट ब्रूस और मकड़ी (King Robert Bruce and the Spider) की कहानी सभी ने सुनी हुई है। धैर्य खोकर राजा हार मानकर चिन्तित अवस्था में, हाथ पर हाथ रखकर तथा पुरुषार्थ और साहस को छोड़कर बैठा था कि उसने मकड़ी को बार-बार चढ़ने की कोशिश में गिरते देखा और फिर अन्त में अभ्यास और पुरुषार्थ के आधार पर सफ़ल होते भी देखा, तो उसका खोया हुआ हौंसला लौट आया। तो धैर्य का गुण मनुष्य को न केवल हानि को बर्दाश्त करने की शक्ति देता है, बल्कि वह उसमें आशा बनाये रखता है और उसके साहस तथा उत्साह को मिटने नहीं देता।

सन्तोष

इसी प्रकार, कोई व्यक्ति एक हज़ार की पूँजी में भी सन्तोष कर लेता है और कोई एक लाख में भी सन्तोष न करके सदा कमी महसूस करता रहता है। सन्तोषी मनुष्य ही सुख की नींद सो सकता है; सन्तोष न हो तो कभी भी पेट न ही भरा हुआ महसूस होता बल्कि कमी की सूली का अनुभव होता रहता है। अत: सन्तोष रूपी दिव्य गुण को लाना चाहिये।

उपराम-वृत्ति

इसी प्रकार, मनुष्य को उपराम अवस्था (Worriless State) भी धारण करनी चाहिए। जो घटना हो गई, उसे बार-बार याद करके स्वयं को दु:खी करना – यह तो

गोया 'घटना' को **घट-ना** बनाना है। अर्थात् 'घट' कम होने को भी कहते हैं, तो भाव यह हुआ कि वह घटना (accident, loss) को घटने (कम होने) नहीं देता। 'घट' हृदय को भी कहते हैं, तो जो घटना को बार-बार याद करता है गोया वह अपने घट (हृदय) को भी सुख में नहीं रहने देना चाहता; इस प्रकार उसके हृदय की गति रुक जायगी, हार्ट फेल हो जायेगा। आपने कई बार सुना और देखा होगा कि किसी भी घटना का बार-बार चिन्तन करने वाले व्यक्ति का हार्ट फेल हो जाता है। इस प्रकार तो एक घटना और घट जाती है! तो इलाज क्या है? यही कि मनुष्य उपराम अवस्था धारण करे, थोड़ा बे-परवाह भी बने, कुछ भुलाना भी सीखे और मन से कुछ मिटाना भी सीखे।

ये दिव्य गुण कैसे धारण किये जायें?

अब प्रश्न उठता है कि ये जो धैर्य, सन्तोष और उपराम-वृत्ति नाम के दिव्य गुण हैं, ये कैसे धारण हों? इसके लिए मालूम रहे कि गुण धारण होते हैं ज्ञान से। इसलिए ही ज्ञान का फल गुण (Knowledge is virtue) माना गया है। ज्ञान कौनसा? इन तीन गुणों की विशेष धारणा करने के लिए मुख्य रूप से ज्ञान के पाँच मुख्य प्वाइंट्स को समझना चाहिये और उनका समय पर प्रयोग करना भी सीखना चाहिये।

उद्यम और भाग्य

पहली बात तो यह समझनी चाहिए कि यह संसार पुरुषार्थ और प्रारब्ध, **कर्म और फल** अथवा उद्यम और भाग्य का खेल है। इस संसार में मनुष्य को जो-कुछ भी प्राप्त होता है, वह वर्तमान या भूतकाल के किन्हीं कर्मों की प्रारब्ध होती है। अत: यदि किसी चीज़ की कमी है, यदि प्राप्ति में कोई कमी है, तो वह मनुष्य के उद्यम, पुरुषार्थ या कर्म में वर्तमान समय या भूत-काल की किसी कमी का परिणाम है। अत: प्रारब्ध में कमी देखकर दु:खी होने की बजाय पुरुषार्थ को आगे बढ़ाना चाहिये।

इस प्रकार, कर्म और प्रारब्ध की बात सोचकर मनुष्य को सन्तोष करना चाहिए कि मेरे भाग्य में इतना ही है। जितनी मेरी प्रारब्ध थी उतनी बच रही है, शेष छिन गई है। बिना कारण के तो कुछ भी नहीं होता। अत: बिना कर्म के कोई भी हानि नहीं होती। अब आगे के लिये यदि मैं श्रेष्ठ पुरुषार्थ करूँ तो मैं अपना भाग्य ऊंचा बना सकता हूँ, परन्तु वर्तमान काल में जो मेरे पूर्व-कर्मों का फल मुझे मिला है वह तो कोई मिटा नहीं सकता।

अत: उससे चिन्तित होकर वर्तमान समय को भी नष्ट करना व्यर्थ है। अब तो पुरुषार्थ में लग जाना ही श्रेष्ठ है।

ड्रामा और उसमें पार्ट

दूसरा, मनुष्य को यह समझना चाहिए कि यह संसार एक ड्रामा, एक नाटक अथवा एक खेल है। खेल में जीत-हार तो होती ही है। परन्तु खेल सदा खुशी के लिए खेला जाता है। उसमें कोई हार भी जाय तो उसे रंज, दु:ख या अफ़सोस नहीं होता। ठीक इसी प्रकार, इस सृष्टि रूपी नाटक में भी कभी जीत, कभी हार, कभी सफ़लता कभी असफ़लता तो सामने आयेंगी ही, परन्तु मनुष्य को इसे सदा खेल या नाटक के भाव में लेना चाहिए और खुश रहना चाहिए, क्योंकि यह बना ही खुशी के लिये है। एक की जीत का अर्थ ही है दूसरे की हार। एक के लाभ का भाव ही है – दूसरे की हानि या कम लाभ। तो इसमें स्वयं को नाटक का एक **पार्टधारी** अथवा ऐक्टर मानकर पार्ट बजाते हुए भी **सम-अवस्था** में रहना चाहिए। नाटक में कोई राजा बनता है और बाद में वह राज्य गँवा बैठता है तो उसे यह मन में याद रहता है कि – ''यह सब नाटकीय पार्ट है। वरना न मैं वास्तव में राजा हूँ, न ही मैंने राज्य गँवाया है, यह तो मुझे पार्ट मिला था, वह पार्ट मैंने बजाया है, वास्तव में मैं तो फलाँ माँ-बाप का बेटा हूँ।'' ठीक इसी प्रकार, मनुष्य को समझना चाहिए कि वास्तव में तो मैं आत्मा हूँ, भिन्न-भिन्न शरीर धारण करके पार्ट बजाता हूँ, इसमें दु:खित होने का तो कोई कारण नहीं; सदा एक-जैसा पार्ट तो रहता ही नहीं। यदि सदा एक-जैसा ही खेल रहे तब तो खेल ही नीरस हो जायेगा। उसमें से मज़ा ही जाता रहेगा। यही तो इस विविधता-पूर्ण (Variety) सृष्टि-नाटक की विशेषता है कि यह बहुत युक्ति-युक्त (Accurate), कर्म-विधानानुसार बना हुआ है। इसमें तो मुझे खूब मज़ा लेना चाहिए अर्थात् सदा हर्ष अनुभव करना चाहिए। खेल में रोते तो छोटे और चिड़चिड़े बच्चे हैं।

फिर यह भी समझना चाहिए कि ड्रामा में हरेक का पार्ट अलग-अलग होता है। एक भी ऐक्टर हू-ब-हू दूसरे की तरह नहीं होता। अत: दूसरे को करोड़पति देखकर स्वयं भी उस-जैसा करोड़पति बनने की चिन्ता के कारण अति-व्यस्तता से स्वयं को अस्वस्थ और दु:खी करना, यह भी इस सृष्टि-नाटक के रहस्य को न समझना है। हमेशा ऊंचा उठने का और आगे बढ़ने का पुरुषार्थ तो करना ही चाहिए किन्तु दूसरों से रीस (Copy) करके

स्वयं को दु:ख की टीस लगाना — यह तो अज्ञानता है। कभी दो ऐक्टर हू-ब-हू एक-जैसे बन ही नहीं सकते। सभी की आकृति-प्रकृति, सभी का संस्कार-विचार और पुरुषार्थ-प्रारब्ध सदा अलग ही रहते हैं। अत: किसी की नकल कर हू-ब-हू वैसा ही बनने का यत्न या किसी अन्य को बिल्कुल अपने ही विचार के शिकंजे में चलाने का प्रयास अन्त में दु:खदायक ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें असफलता और निराशा ही प्राप्त होती है। अपनी और दूसरों की उन्नति का यत्न करना तो मनुष्य का कर्त्तव्य है, परन्तु यदि उसमें सफ़लता नहीं होती है तो उसे — "ड्रामा में हरेक का पार्ट अलग-अलग है" — ऐसा सोचकर चला देना चाहिए। इससे वृत्ति उपराम भी रहेगी और सन्तोष भी बना रहेगा तथा उद्यम भी ढीला नहीं होगा।

अप्राप्ति और कमी को मिटाने की शक्ति

ज्ञान की तीसरी बात मनुष्य को यह समझनी चाहिए कि मनुष्य में प्राप्ति की जो इच्छा होती है उसका पूरा न हो सकने का एक कारण यह भी है कि मनुष्य के पास शक्ति नहीं होती। आज मनुष्य की इच्छा कुछ और होती है, परन्तु परिणाम उससे भिन्न निकलता है, क्योंकि उसमें संकल्प-शक्ति (Will-Power) या आत्मिक-शक्ति आदि की कमी है। अत: अप्राप्ति या कमी को मिटाने का एक साधन आत्मिक शक्ति अथवा मनोबल को बढ़ाना है, परन्तु यह तभी बढ़ेगा और तभी सात्विकी तथा सुखदायक होगा जब हम योग का आधार लेंगे। अत: असफ़लता, कमी या अप्राप्ति के कारण रोते रहने की बजाय तो योगाभ्यास द्वारा शक्ति के संचय में ही लग जाना चाहिये।

सुख की भासना सद्‌गुणों की धारणा पर आधारित

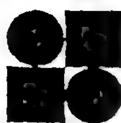
ज्ञान की चौथी बात मनुष्य को यह याद रखनी चाहिए कि सुख की भासना सद्‌गुणों की धारणा से होती है। यदि मनुष्य में धैर्य, सन्तोष, उपराम वृत्ति आदि-आदि दिव्य गुण न हों तो उसके पास धन तथा वैभव होते हुए भी अर्थात् सुख की सर्व सामग्रियाँ होते हुए भी, सुख भासता नहीं है। जो मनुष्य जितना अधिक दैवी स्वभाव का होता है, प्रकृति उसकी उतनी ही दासी होती है। अत: हम यदि सांसारिक प्राप्ति से भी सुख की प्राप्ति चाहते हैं तो स्वयं में दिव्य गुणों की धारणा करनी चाहिये।



संस्कार-शुद्धि के लिये अभ्यास आवश्यक

ज्ञान की पाँचवीं बात यह समझनी है कि स्वभाव अथवा संस्कार भी अभ्यास से बनते हैं। अतः सन्तोष, धैर्य आदि दिव्य गुण भी एक दिन में या एक बार के प्रयत्न से नहीं आ जायेंगे, बल्कि इनके लिए बार-बार पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। अतः निराश या हताश होने की ज़रूरत नहीं, ज़रूरत अभ्यास की है। सांसारिक मनुष्यों की तो क्या कहें, योग का पुरुषार्थ करने वाले तथा जीवन को पवित्र बनाने का यत्न करने वाले भी कभी-कभी अपनी अवस्था में उन्नति न होते देखकर निराश हो जाते हैं। दो दिन अच्छी प्रकार योग में स्थित होने के बाद यदि तीन दिन योग में वह रस न आये तो वे भी धीरज खो बैठते हैं। जितनी पहले प्राप्ति हुई है, उसमें सन्तोष भी गँवा बैठते हैं और योग का अभ्यास ही करना छोड़ देते हैं तथा मानसिक आलस्य को धारण कर लेते है। यह भी अज्ञानता है। एक दिन भी योग में रस न मिलने से वे अपनी मुदित अवस्था को भी गँवा बैठते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि उनकी मानसिक भूमि और भी बिगड़ जाती है और योग लगना और भी कठिन हो जाता है। अतः मनुष्य को सदा ख्याल रखना चाहिए कि अभ्यास से ही संस्कार या स्थिति परिपक्व होती है – इसलिए अभ्यास नहीं छोड़ना चाहिये।

इन पाँच ज्ञान-बिन्दुओं को समझकर, जो-जो परिस्थित सामने आती है, उसे इनके प्रयोग से पार करना चाहिये और मन में हर्ष बनाये रखना चाहिये वरना तो मनुष्य-जीवन ही निरर्थक है।



दिव्यता का पुरुषार्थ व स्वरूप

मोटे रूप में आध्यात्मिकता, पवित्रता अथवा दिव्यता पर्यायवाची शब्द ही समझे जाते हैं। स्पष्ट है कि जब तक कोई व्यक्ति स्वयं को शरीर से सर्वथा न्यारा व शरीर को कर्म करने का निमित्त साधन समझकर अपने समस्त कार्य-व्यवहार में नहीं आता है तब तक वह आध्यात्मिक नहीं कहला सकता। स्वयं को इस अवस्था में रख कर कर्म में आना ही वास्तव में निराकारी अवस्था है। ऐसा व्यक्ति अन्तर्मुख तो होता ही है व वह ज्ञान के सूक्ष्म तथ्यों का विवेचन करता हुआ उन्हें आचरण में लाता रहता है। दूसरे शब्दों में स्वाध्याय के द्वारा वह निरंतर अपने ऊपर ध्यान व जांच रखता है कि उसका कोई भी संकल्प, शब्द अथवा कर्म ज्ञानी की मर्यादा के विपरीत तो नहीं होता। इस प्रकार उसका मन सदा प्रभु की आनन्ददायक स्मृति में तल्लीन, बुद्धि उनकी नज़दीकी से सदा पावन व शक्तिशाली तथा कर्म स्वयं को व अन्य व्यक्तियों को सुखदाई होते हैं। इस प्रकार मन-बुद्धि संस्कार, स्वभाव व शरीर सब की शुद्धता उसमें स्वत: आती जाती है। वह यह जानता है कि इस सृष्टि का सूक्ष्म नियम है 'जैसा बोओगे, वैसा काटोगे' अथवा 'जो दोगे सो पाओगे' इस कारण वह अपना स्वभाव सदा दूसरों को सुख देने का बनाता है व सहनशीलता, क्षमा, अक्रोध, रूहानी दृष्टि व कल्याणकारी वृत्ति को शक्तिशाली बना कर, अपकारी पर उपकार करने का अभ्यास करता है। अन्य आत्माओं को किस प्रकार आत्मचेतना व आध्यात्मिकता की ओर प्रेरा जा सके जिसमें ही उनका सच्चा हित समाया है, उसे बस यही एक धुन रहती है। इस प्रकार वह स्वार्थ से उठकर सच्चा परमार्थी बन जाता है व उसका प्रत्येक क्षण, संकल्प व श्वाँस अन्य-आत्माओं के कल्याण में निमित्त बनने की ओर लगा रहता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति के विचार उसकी वाणी से पहले अन्य व्यक्तियों तक पहुँचते हैं अत: उसकी यह कल्याण-कारी वृत्ति, रुहानी दृष्टि, अनुभवी व आध्यातमिकता से भरपूर शब्द तथा सच्ची सेवा से प्रेरित कर्म, उसमें दिव्यता भर देते हैं व अन्य व्यक्तियों को उसमें सहज ही एक अलौकिक आकर्षण दिखाई देने लगता है। इस प्रकार यदि देखा जावे तो आध्यात्मिकता जिस आध्यात्मिक जीवन-यात्रा का प्रारम्भ है, दिव्यता उसकी मंज़िल है।

ज्ञान के तथ्य

आध्यात्मिक ज्ञान के वास्तव में चार तथ्य हैं जिनके सत्य को विवेचन व अनुभव द्वारा निर्णय करने के पश्चात् पुरुषार्थी उनका मनन करता हुआ उन्हें अपने निजी विचारों का अंग बनाता है और फलस्वरूप उसका जीवन-यापन का स्तर बदल जाता है। (1)

स्वयं को शरीर से सर्वथा न्यारा ज्योतिर्बिन्दु आत्मा समझना जो मन-बुद्धि एवं संस्कार सहित है व अनादि-अविनाशी है। (2) आत्मा का मूल रूप ज्ञान-प्रेम-आनन्द-शान्ति स्वरूप है। (3) परमधाम का मूल निवासी व सर्व गुण-शक्ति के सागर परमात्मा की संतान तथा अन्य सब व्यक्ति भी उसकी संतान होने के नाते भाई-भाई हैं। (4) प्रत्येक आत्मा का प्रत्येक संकल्प, वाणी व कर्म पूर्व निश्चित है अथवा अनादि अविनाशी ड्रामा में नूंधा हुआ है अत: वह कर्म करने में स्वतंत्र भासता हुआ भी वास्तव में अपने संस्कार-स्वभाव व ड्रामा के पार्ट से बंधा हुआ है। इस अदृश्य परवशता को समझना ही वास्तविक ज्ञान है जो क्रमश: ज्ञानी व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों तथा संस्कारों की गांठों को खोल कर उसे वास्तविकता दिखाता है और जिस कारण उससे आवेश, क्रोध मानसिक तनाव आदि दूर होते जाते हैं।

पुरुषार्थी में परिवर्तन

वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान की धारणा का मापदण्ड पुरुषार्थी के मन-वचन-कर्म का परिवर्तन है। गीता में दैवी सम्पदा के जिन दिव्य गुणों, अथवा गुणातीत के लक्षणों का वर्णन किया गया है। जिन्हें धारण कर पुरुषार्थी अपनी सर्वगुण-सम्पन्न, 16 कला सम्पूर्ण, सम्पूर्ण निर्विकारी एवं मर्यादा पुरूषोत्तम अवस्था को प्राप्त करता है वह सब वास्तव में इन चार बिन्दुओं पर ही आधारित है। जो पुरुषार्थी स्वाध्याय के द्वारा इन चारों ज्ञान-बिन्दुओं का जितना मनन-चिंतन करता रहता है, उतना ही ये ज्ञान-बिन्दु उसके विचारों का स्वाभाविक अंग बनते जाते हैं तथा उसके विचारों के द्वारा उसकी भावनाओं, वृत्तियों व व्यवहार को बदलते जाते हैं। इस प्रकार पुरुषार्थी अपने स्वभाव-संस्कारों की कमज़ोरियों, भूलों को पहचान कर अपने मूल स्वभाव के अभ्यास द्वारा स्वयं को पलटता जाता है और उनके स्थान पर दिव्य गुणों को भरता जाता है। अब उसकी बुद्धि की शक्ति बाह्य जगत की व अन्य आत्माओं की, जिन पर उसका कोई काबू नहीं है, व्यर्थ बातों के बारे में नहीं सोचती अथवा उसके विचार अस्त-व्यस्त नहीं रहते, बल्कि वह अपनी विवेचन शक्ति द्वारा अर्जित ज्ञान-प्रकाश में स्वयं को निरन्तर जांचता रहता है। इसका प्रभाव यह होता है कि क्रमश: उसकी छोटी-छोटी भूलें, लापरवाही, मनोवृत्ति का दोष, भावनाओं की विश्रृंखला उसकी पकड़ में आने लगती हैं और वह उन्हें सुधार कर व्यवहार-कुशल बन जाता है।

आत्म चेतना एवं दिव्य गुणों की धारणा

पुरुषार्थी प्रथम दो ज्ञान-बिन्दुओं पर चिन्तन-मनन अथवा स्वाध्याय करता है तो

वह पहिचानता है कि वह तो वास्तव में परमधाम का निवासी, सर्व शक्तिमान् सर्व-गुणों के सागर परमात्मा की संतान हैं तथा इस शरीर से सर्वथा न्यारा है और मूल रूप से शान्ति, प्रेम, आनन्द का स्वरूप है व अनादि, अविनाशी है। इस पहिचान से वह अपने मूल स्वरूप में रमण करने पर अपनी वास्तविकता को पहिचानता है तथा अब वह अपने कर्मों के महत्व को भी समझता है। अब उसका ध्यान एक जन्म के सुख-सुविधाओं को जुटाने के स्थान पर पवित्र, शक्तिशाली व दैवी संस्कार जुटाने पर जाता है क्योंकि वह समझता है कि वास्तव में यही अखुट खजाना है एवं श्रेष्ठ संस्कार वाली आत्मा सदा सुख पाती है। अत: उसकी बुद्धि विशाल हो जाती है और वह पहिचानता है कि वास्तव में सर्वश्रेष्ठ कर्म अन्य आत्माओं की आध्यात्मिक सेवा तथा उनमें आत्म चेतना जागृत करना है। इस प्रकार स्वार्थ-सिद्धि व लौकिक-सम्बन्धियों की अस्थाई सुख-सुविधा, मान-शान की प्राप्ति, पद-प्रतिष्ठा अथवा पदार्थ की आकांक्षा उसके मानस-पटल से हटती जाती है व वह इस स्थूल संसार के प्रति उदासीन होता जाता है। क्रमश: किसी स्थूल व्यक्ति या पदार्थ के आकर्षण से वह सर्वथा ऊपर उठ जाता है। परमात्मा की अनुभवी पकड़, व उनसे प्राप्त अलौकिक शान्ति, प्रेम आनन्द के अटूट खजाने के आधार पर उसका निश्चय अपना सदा-रक्षक प्रभु में अटल व दृढ़ हो जाता है व अपने अन्दर उस प्रभु से मिल रहे अपूर्व आनन्द के खजाने के कारण एक अजीब मस्ती व नशा अनुभव करता रहता है। जिस कारण वह भय, द्वन्द व उलझन से सदा दूर रहने लगता है। इस प्रकार वह सदा स्वयं में संतुष्ट रहता है। किसी व्यक्ति से कोई कामना न होने के कारण उसे कभी गलतफहमी, आवेश, उद्वेग आदि दुर्भावनाएं भी नहीं सताती। इस प्रकार आप देखेंगे कि वह पुरुषार्थी मानसिक तनाव, उतार-चढ़ाव आदि से छूट कर, अभिमान व मोह को जीत कर, इच्छा के स्त्रोत को बन्द कर 'इच्छा मात्रम् अविद्या' बन जाता है। इस प्रकार शान्ति जो वास्तव में उसका स्वधर्म है, उसके गले का हार बनी रहती है व वह सहज ही निराकारी, निरहंकारी तथा निर्विकारी स्थिति को प्राप्त हो जाता है और इस स्थिति के आधार पर तपस्या, सरलता, कर्मइन्द्रियों पर सम्पूर्ण अधिकार, धैर्य, बुरे कार्य करने में लज्जा, सत्य एवं अहिंसा आदि अनेक दिव्य गुण उसमें सहज ही विकसित हो जाते हैं व पनपने लगते हैं।

विश्व-बन्धुत्व

ज्ञान के उपरोक्त तीसरे बिन्दु के चिन्तन-मनन अथवा स्वाध्याय से पुरुषार्थी यह पहिचानता है कि विश्व की सर्व जीवात्माएँ उसके आत्मिक भाई हैं। वास्तव में निराकारी अवस्था, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है उसकी सहज प्राप्ति है। जैसे-जैसे वह

अनुभूति पुरुषार्थी के विचारों का अंग बनती जाती है, यह उसमें अनेकों गुण विकसित करती हैं। मिसाल के तौर पर जब सब आत्माएँ भाई-भाई हैं तो सब इच्छाएँ, आकांक्षाएं एवं अभिलाषायें भी लगभग एक-सी होंगी। इसके अतिरिक्त परमपिता परमात्मा द्वारा ज्ञान-राजयोग का प्रशिक्षण, जिसके आधार पर उसके व्यक्तिगत जीवन में, मनोवृत्ति व भावनाओं में इतना परिवर्तन आया है, निस्संदेह इस ईश्वरीय ज्ञान-राजयोग की तकनीक पर भी उनका अधिकार है तथा जिस प्रकार शिव बाबा ने ब्रह्मा बाबा अथवा ब्रह्मा वत्स के द्वारा यह ज्ञान उसको दिया उसी प्रकार अब यह उसका उत्तरदायित्व है कि वह इस तकनीक को अन्य रूहानी भाईयों तक पहुंचा कर उनमें आत्म चेतना जागृत करे व इस प्रकार उनके जीवन को बदलने में निमित्त बने। इस प्रकार यदि देखा जाये तो जैसे-जैसे भाई-भाई के सम्बन्ध की धारणा प्रबल होती जाती है, पुरुषार्थी के विचार-व्यवहार के तौर-तरीके में परिवर्तन आता जाता है। फल स्वरूप उसमें त्याग, सेवा व विश्व-कल्याण के प्रति भावनाएँ जागृत होने लगती हैं और वह चाहे अनचाहे अन्य आत्माओं की रुहानी सेवा की ओर झुकता है।

ड्रामा – अति गुह्य ज्ञान की व्यवहारिक समझ

ईश्वरीय ज्ञान के उपरोक्त तीन ज्ञान-बिन्दु तो एक प्रकार से सहज व सरल हैं तथा उनमें कोई विरोधाभास नहीं होता। जैसे-जैसे पुरुषार्थी स्वाध्याय एवं योग के अभ्यास से इनकी धारणा पर ध्यान देता है उसमें आत्मिक शक्ति का संचार होता जाता है जिसका प्रत्यक्ष स्वरूप इन्द्रिय निग्रह, पवित्रता,सरलता, खुशी आदि हैं। किन्तु ज्ञान का चतुर्थ बिन्दु काफी गुह्य है क्योंकि इसमें एक प्रकार का विरोधाभास स्पष्ट दिखाई देता है। ड्रामा की गहराई में जाने पर पुरुषार्थी को अनुभव होता है कि यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति कोई भी संकल्प उठाने, सोचने, बोलने, व अन्य कर्म करने में स्वतंत्र दिखाई देता है किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। वह स्वंय के संस्कार-स्वभाव व ड्रामा के पूर्व-निश्चित पार्ट से बंधा हुआ है। वास्तव में पुरुषार्थी की अवस्था को अचल, अडोल, निश्चित तथा सरल मीठी बनाने में ड्रामा का वृहत् हस्त है। जैसे-जैसे पुरुषार्थी स्वाध्याय के द्वारा ड्रामा की गहराई में उतरता है, स्वयं के व अन्य व्यक्तियों के जीवन से उसे यह निश्चित समझ मिल जाती है कि सचमुच स्थूल जगत में सब-कुछ एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार हो रहा है! अत: यदि कोई व्यक्ति कभी कुछ गलत काम करता है, उसके साथ दुर्व्यवहार करता है अथवा उसकी हानि या विरोध करता है तो भी अब वह उसे ड्रामा या उसके संस्कार-...भाव पार्ट के अधीन समझ कर उसके प्रति अपनी दुर्भावना जागृत नहीं होने देता बल्कि ...न बन जाता है। इस प्रकार आप देखेंगे कि ड्रामा की ढाल उसे वैर-विरोध, आवेश,

फालतू-चिन्तन, अपशब्द, मानसिक तनाव एवं अनेक विकारों से बचा कर उसे अपने सन्मार्ग पर चलते रहने में कितनी सहायक होती है। कोई भी व्यक्ति व कोई भी परिस्थिति अब उसे मानसिक यातना,तनाव, कष्ट अथवा उलझन नहीं दे पाती व पुरुषार्थी सदा शान्त, एक-रस अवस्था में चल पाता है।

ज्ञान के आधार पर वह प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार-स्वभाव को समझ कर उनके साथ व्यवहार में आता है व जहाँ विकार-ग्रस्त व्यक्ति से पाला पड़ता है वह किनारा भी कर लेता है। इस प्रकार उसकी स्वयं की अवस्था सुदृढ़ हो जाती है व वह अपने निर्धारित कार्यों को सुचारु रूप से पूरा करके सफलता पाता है।

ज्ञान का सार - दिव्य गुणों की धारणा

यह तो स्पष्ट है कि शिव बाबा ईश्वरीय ज्ञान पतित आत्माओं को पावन बनाने हेतु ही देते हैं। अतः ईश्वरीय ज्ञान के प्रत्येक बिन्दु का सीधा सम्बन्ध उसके दिव्य गुणों की धारणा एवं मर्यादाओं के पालन से है। किसी भी परिस्थिति में इस मूल सिद्धान्त का अपवाद **भ्रमात्मक** एवं निषेध है। अतः जब तक पुरुषार्थी ज्ञान के प्रत्येक बिन्दु को स्वाध्याय द्वारा स्वयं पर लागू करता जाता है उसकी अवस्था सुधरती जाती है। किन्तु उसकी संचित आत्मिक शक्ति की परख तब होती है जब वह ईश्वरीय सेवा में आता है। सेवा में आने के कारण प्रायः पुरुषार्थी को **बाहरमुखी** भी होना पड़ता है तथा जिनकी वह सेवा करता है उन पर प्रभाव होने से उसका प्रभुत्व बढ़ता है। यदि उसका स्वयं पर उचित ध्यान नहीं होता तो साथ अहम् भाव भी बढ़ता है जो आगे चल कर उसे बहुत हानि पहुंचाता है। ईश्वरीय सेवा में जो भी भाव-स्वभाव की टकराहट का स्वरूप है वह विभिन्न सेवाधारियों के सूक्ष्म अहंकार का ही द्योतक है। इससे सेवा का बाहरी रूप तो रहता है किन्तु वह अन्दर से खोखला हो जाता है। इसी प्रकार ऐसा सेवाधारी व्यक्तिगत रूप में बाहर वालों को तो सेवा में लगा व कार्य कम करता दिखाई देता है किन्तु उससे आत्म शक्ति, खुशी, नशा, निश्चिन्तता, उदारता, सर्वहितकारी भावना, अपकारी पर भी उपकार करते रहने की वृत्ति व चेष्टा आदि उसे अनुभव में नहीं आ पाती। अतः सेवा को सफल, सरल व यथार्थ बनाने के लिए पुरुषार्थी को स्थूल त्याग की अपेक्षा सूक्ष्म त्याग को [illegible] व धारण करना होगा।

त्याग व सेवा का यथार्थ रूप

वास्तव में त्याग का यथार्थ स्वरूप है देहाभिमान का सम्पूर्ण त्याग है [illegible] [illegible] जब अपनी समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

शिवबाबा से पूरी करके शान्ति प्रेम व आनन्द में सहज रीति से विचरता रहता है और सेवा के बदले संकल्प में भी इन्द्रिय के भोगों की इच्छा नहीं रहती, मान-शान की प्राप्ति का भाव उठता ही नहीं, अहम् व अधिकार भावना रिंचक मात्र भी आती ही नहीं तब कर्मों के फल से उसकी आसक्ति भी स्वत: मिट जाती है और फलस्वरूप कर्मेइन्द्रियों द्वारा पाप-कर्मों का त्याग हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने सुख व आराम से ऊपर उठ कर केवल लोक-कल्याणार्थ अपना तन, मनन शक्ति, बुद्धि की विचार शक्ति एवं धन राशि को समाज की आध्यात्मिक सेवा में लगा देता है, क्योंकि वह समझता है कि उसका यही सर्वोत्तम उपयोग है। इस प्रकार स्वयं का सर्वस्व समाज को प्रदान करने के कारण वह महादानी अथवा यज्ञ-अर्पित कहलाता है। वास्तव में यहीं से जीवन में महानता का प्रारम्भ होता है। उसकी भावना अनुभव के आधार पर कुछ इस प्रकार की होती है –

'मेरा मुझमें नहीं, जो कुछ है सो तोर। तेरा तुझको सौंपते क्या लागे है मोर।।

कहने का भाव यह है कि जब पुरुषार्थी इस प्रकार स्वयं के शरीर व सम्बन्ध से ऊपर उठ कर केवल आत्मा में स्थित होकर कार्य व्यवहार में आता है तब उसमें मन की चंचलता, बुद्धि द्वारा दुष्ट विचार, आसुरी संस्कार, दुष्ट, कटु अकल्याणकारी शब्द व दुखदाई कर्म स्वत: समाप्त हो जाते हैं। उदारता, दान-वृत्ति, सर्व के कल्याण की भावना अथवा परहित उसका स्वभाव या धर्म हो जाता है। दूसरों की सेवा करने पर उसे यश मिले ऐसा तो उसका भाव ही नहीं होता, अत: वह स्तुति-निंदा, मान-अपमान, हार-जीत से ऊपर उठकर अन्य आत्माओं में मन,वचन,कर्म से 'आत्मिक चेतना' जाग्रत करने के सतत् पुरुषार्थ से संलग्न रहता है। इस प्रकार यथार्थ सेवा-भाव वाला योगी नष्टोमोहा, निर्वैर, निद्राजीत व अथक बन जाता है। वह तो केवल देना ही जानता है, लेना नहीं। क्या आश्चर्य की बात है कि प्रकृति के सूक्ष्म नियमों के आधार पर फिर प्रकृति उसकी दासी होकर स्वयं उसकी सर्व आवश्यक्ताऍ पूरी करती है।

इस प्रकार यदि देखा जावे तो पुरुषार्थी यदि स्वाध्याय, तपस्या, त्याग व सेवा के सूक्ष्म स्वरूप को चिन्तन मनन द्वारा समझ कर अपने विचार व जीवन का अंग बना ले तो उसका जीवन-स्तर महानता की ओर बढ़ता जावेगा व वह सर्वत्यागी होकर अपना एक-एक श्वांस, संकल्प व क्षण अन्य व्यक्तियों की अलौकिक अथवा दिव्य रूहानी सेवा करके सफल कर सकेगा। अत: यदि हम स्वाध्याय को ज्ञान का, तपस्या को योग का, त्याग को धारणा का व परहित या कल्याण-भाव को सेवा का वास्तविक स्वरूप समझ कर चलें तो थोड़े समय के पश्चात् हम स्वयं में विशेष परिवर्तन पावेंगे और इस प्रकार हमारी अवस्था अचल-अडोल हर्षितमुख आदि सर्व दिव्य-गुणों से सम्पन्न हो जावेगी।

यही पुरुषार्थी का दिव्यीकरण होगा। जिसमें आध्यात्मिकता एवं पवित्रता के साथ-साथ उसमें दिव्य गुणों का दिग्दर्शन होता है। इस अवस्था में दिव्य गुण उसके संस्कार-स्वभाव तक पहुंच चुके होते हैं, अत: बिना किसी पुरुषार्थ के वह स्वयं उसके सर्व कर्मों में प्रदर्शित होते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने गुण-कर्मों के आधार पर देवता कहलाते हैं व उस समय का भारत देवलोक अथवा स्वर्ग या वैकुण्ठ कहाता है। अत: दैवी सृष्टि मानवता की ऊंची से ऊंची संस्कृति का नाम है जहाँ मानव दूसरों को स्वाभावत: सुख देता है व कर्मों की गहन गति के आधार पर सुख पाता है।

'मेरा मुझमें नहीं, जो कुछ है सो तोर। तेरा तुझको सौंपते क्या लागे है मोर।।

कहने का भाव यह है कि – जब पुरुषार्थी इस प्रकार स्वयं के शरीर व सम्बन्ध से ऊपर उठकर केवल आत्मा में स्थित होकर कार्य व्यवहार में आता है तब उसमें मन की चंचलता, बुद्धि द्वारा दुष्ट विचार, आसुरी संस्कार, दुष्ट, कटु अकल्याणकारी शब्द व दुःखदाई कर्म स्वत: समाप्त हो जाते हैं।

बात और बात में अन्तर एक मूर्खता और एक मन्तर

कहा गया है कि "कम बोलो, धीरे बोलो और मीठा बोलो"। बात तो यह पदमों-तुल्य ही कही गई है क्योंकि इसे आचरण में लाने से मनुष्य का जीवन पदमों-तुल्य बन जाता है। परन्तु हम देखते हैं कि कम तो कई बार ऐसे लोग भी बोलते हैं जो नाराज़ (रुष्ट) हों और धीरे वे भी बोलते हैं जो डरे हुए या सहमे हुए हों, और मीठा वो भी बोलते हैं जिन्हें हमसे अपना कुछ काम निकालना है। लेकिन हमें कम बोलने, धीरे बोलने और मीठा बोलने की जो शिक्षा दी गई है उसका तो इससे विपरीत ही प्रयोजन है। **हमारे कम बोलने का यह कारण नहीं है कि हम किसी से नाराज़ हैं बल्कि हम कम इसलिए बोलते हैं कि हमसे कोई नाराज़ न हो और हम अपनी शक्ति का अपव्यय भी न करें।** हमारे धीरे-बोलने का कारण यह नहीं है कि हमें किसी से भय है बल्कि हम धीरे इसलिए बोलते हैं कि हमसे कोई भयभीत न हो। हमारे मीठा बोलने का यह कारण नहीं है कि हमें किसी से अपने स्वार्थ की सिद्धि करनी है बल्कि हम मीठा इसलिए बोलते हैं कि भले ही लोग हमसे अपना 'असली काम' निकालें; वे हमारे नजदीक आयें और उनका हमसे स्नेह का नाता जुटे। गोया हम उन्हीं के फायदे के लिए उनसे मीठा बोलते हैं क्योंकि हम उन्हें ईश्वरीय ज्ञान, सहज राजयोग और दिव्य गुणों का प्रसाद मधुरता-पूवर्क देकर उनकी सभी इच्छाएँ सदा के लिए पूर्ण करना चाहते हैं। हाँ, मीठा बोलने से हमारा अपना भी लाभ साथ-साथ हो जाता है क्योंकि इससे हमारा मुख और हमारा मन दोनों ही मीठे हो जाते हैं।

क्या कड़वा बोलने की ज़रूरत पड़ती है?

कई लोग ये कहते हैं कि हमें कड़वा बोलना पड़ता है क्योंकि जैसे कई बार सीधी अंगुली से घी नहीं निकलता, वैसे ही मीठा बोलने से भी काम नहीं निकलता। परन्तु प्रश्न तो ये है कि घी अंगुली से निकालते ही क्यों हैं? जब चमचा उपलब्ध है तब अंगुली टेढ़ी करने की तो वात छोड़ दीजिए, तब अंगुली डालने की आवश्यकता ही क्या है? हमारे इस कथन से कई लोग ये समझेंगे कि हम शायद ये चाहते हैं कि कड़वा बोलने (टेढ़ी अंगुली) की वजाय 'खुशामद' से काम हो जाए क्योंकि कई लोग आज की भाषा में

प्रशंसकों को 'चमचा' कहते हैं। परन्तु 'चमचे' से हमारा भाव यहाँ यह है कि हम ऐसी विधि से काम करें कि जिससे सिद्धि भी प्राप्त हो और बुद्धि भी ठीक रहे – कड़वा भी न बोलना पड़े और काम भी निकल जाए।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पुलिस के अधिकारी यदि कम, धीरे और मीठा ही बोलते रहें तो अपराधी न तो अपराध बतायेंगे और न आगे के लिए अपराध कम ही होगा। पुलिस वालों को तो धमकी, रोब और डांट-डपट से ही काम लेना पड़ता है। परन्तु हमारा कहना यह है कि हम पुलिस के आदमी तो नहीं हैं; हमारा काम मारने का नहीं, सुधारने का है; डांटने का नहीं, शान्ति बांटने का है। पुलिस विभाग में भी बिना वर्दी (Without uniform) खुफिया पुलिस के कर्मचारी डांटते डपटते नहीं, वे तो अपराध का पता लगा कर उसकी रोक-थाम करते हैं। यदि अपराध वृत्ति का ही अन्त कर दिया जाए तो डांटने-डपटने की नौबत ही क्यों आयेगी?

चलिए, मान लीजिए कि ऐसी परिस्थिति भी आ गयी है कि किसी ने अपराध किया है और हमें उसके प्रति नाराज़गी भी प्रगट करनी है और उसके मन में भय भी पैदा करना है ताकि वह असलियत (सच्चाई) को बताए और आगे के लिए भी अपराध-वृत्ति को या अमर्यादा को छोड़ दे। तब भी कम शब्दों में और धीरे शब्दों में दूसरे व्यक्ति को बात ऐसे समझा सकते हैं जिससे कि वह अपने अपराध की गंभीरता को समझे और पश्चाताप करे। और, यदि हमें कम बोलने, धीरे बोलने तथा मीठा बोलने से काम होता दिखाई नहीं देता तब स्थूल डंडे की बजाए, कानून के डण्डे का प्रयोग किया जाए और कड़वे शब्द कहने की बजाए कानून की कड़वाहट का परिचय दिया जाए। फिर भी यदि बात बनती हुई नहीं दिखाई देती तब "कड़वे चौथ" का त्योहार मनाया जाए। कड़वा-चौथ तो वर्ष में एक बार ही आता है, रोज़-रोज़ "कड़वा चौथ" तो नहीं होता। और फिर "कड़वा चौथ" मनाने का भी तरीका होता है जिससे वह 'त्योहार' हो जाता है।

कुछेक लोग हँसी में कहते हैं कि "ज्यादा मीठा भी अच्छा नहीं होता, मीठे के साथ कभी-कभी थोड़ा कड़वा दे-देना भी लाभदायक होता है।" परन्तु आजकल तो कड़वे को भी मीठे रंग देकर (Sugar coated करके) या कैप्सूल में डाल कर दिया जाता है।

क्या विस्तार से बोलने की आवश्यकता होती है?

कुछ लोग यह कहते हैं कि बहुत बार हमें अपनी बात विस्तारपूर्वक कहनी होती है [illegible] तो बात स्पष्ट ही नहीं होती। इस दृष्टिकोण से हमें [illegible] रहे कि कम बोलने की [illegible]

का भाव यह नहीं कि हम अपनी बात को स्पष्ट ही न करें। अगर वकील किसी मुकदमे में अभियुक्त की बात विस्तार से प्रमाणित ही नहीं करेगा तो न केवल वह अपने व्यवसाय में असफल रहेगा बल्कि अभियुक्त भी हार खा कर दण्डित होगा। इसी प्रकार, यदि कोई प्राचार्य अथवा प्रोफेसर विद्यार्थियों को सविस्तार समझाएगा नहीं तो उसके विद्यार्थी परीक्षा में सफल कैसे होंगे? **''कम बोलने'' की शिक्षा का भाव तो ये है कि जीवन का समय बड़ा अल्प और अनमोल है और हम बात को मतलब के बिना ही तूल देकर न अपना समय गंवाए और न दूसरों का समय बर्बाद करें। जहाँ दो शब्दों से काम चल सकता है वहाँ एक और लगाकर बारह या इक्कीस शब्दों में न कहें क्योंकि जीवन के इस थोड़े-से समय में और बहुत-से काम अभी करने बाकी हैं।** जब पगड़ी से काम चल सकता हो तो सिर पर पग्गड़ बांध कर मुफ्त में सिर पर बोझ लादने की क्या जरूरत है? कपड़े की खरीद और धुलाई पर व्यर्थ खर्च करने की क्या आवश्यकता है। इसी प्रकार, जब बात करने से काम हो सकता है तो बात का बतंगड़ बनाने की क्या आवश्यकता है?

फिर जब हम घर पर या दफ्तर में होते हैं या दोस्तों के साथ बैठ बात कर रहे होते हैं, तब हमें **वकालत** करने या लैक्चर छांटने की क्या आवश्यकता होती है? मुकदमा लड़ना कोई अच्छी बात तो नहीं है परन्तु यदि हमारे गले में मुकदमे का ढोल डाल भी दें तो इसे केवल कोर्ट में ही बजाना होता है। हर जगह को कोर्ट बना देना या क्लास रूम समझ कर लैक्चर झाड़ देना तो गोया अपनी ही ग़लती भी है और गलतफ़हमी भी। आखिर घर और कचहरी में या मित्र-मण्डल और लैक्चर हाल में कोई फर्क तो है ही।

फिर, ज्यादा बात कहने की बजाए तो बात उतनी ही अच्छी होती है जिसका प्रभाव ज्यादा हो। ज्यादा वकालत करने की बजाए तो दलील (Law point कानूनी नुक्ता) ज्यादा जोरदार होने चाहिए। ज्यादा शब्दों के बखेरे में तो कई बार वास्तविक प्रयोजन ही छिप जाता है जिससे कि एक घंटे की बात के बाद सुनने वाला पूछता है – ''आखिर आप कहना क्या चाहते हैं? आप असली बात बताइये न!'' गोया एक घंटे की बात में 'असली बात' ही छिप गई; छिप ही नहीं गई थी बल्कि नकली बातों में वह भी नकली हो गई थी! शैक्सपीयर ने कहा है – "Two grains of wheat in two bushels of chaff", अर्थात् भूसे की दो बोरियों में गेहूं के दो दानों की तरह छिप गयी!

अगर कहने को कोई ज़ोरदार, मज़ेदार या लाभकारी एवं गुणकारी बात है तो फिर कानफ्रेंस या सेमिनार करके ही दिल की धड़ास निकाल दी जाए। बिना निमंत्रण दिये और

बिना कान्फ्रेंस घोषित किये हुए किसी को अपना श्रोता मान कर उस पर बातों की बोछाड़ करना तो कानफ्रेंस नहीं, 'कनफ्यूज़न' (confusion) है; यह तो जोर-जबरदस्ती है। कोई मिर्च-मसाला लेना ही नहीं चाहता तो उसके हाथ खाहमाखाह मिर्च का पैकेट पकड़ाने वाली बात है। एक व्यक्ति जम्माई ले रहा है और दूसरा बात करता ही जाए – यह कैसी दोस्ती है!

ज्यादा बात करने वाले को तो लोग बहुत-सी उपाधियाँ देते हैं जो वक्ता को कभी भी अच्छी नहीं लग सकतीं। कोई कहता है – ''यह व्यक्ति तो 'बातूनी' है अन्य कहता है कि यह 'वाचाल' या 'लाबारी' है। तीसरा कहता है कि – साहिब, यह 'लफाजी' है और चौथा कहता है – हाँ, यह टाकेटिव (Talkative) तो है।'' क्या फायदा ऐसी बात करने का जिसके ''फलस्वरूप'' ऐसी उपाधियाँ हमारे पल्ले पड़ें? ये डिग्रियाँ (Degrees), डिप्लोमे (Diplomas) किसे चाहिएं? इसमें तो पी एच.डी (Ph.D) भी जल्दी मिल सकती है परन्तु इसे लेना कौन चाहता है? इससे नाम थोड़े ही होता है? इससे तो व्यक्ति बदनाम होता है।

'बात' और 'बात' में अन्तर

देखा जाए तो 'बात' और 'बात' में भी अन्तर होता है। किसी की कही हुई बात ऐसी होती है कि वो उसे 'सुभाषितम्' (Well said;Quotable quotes: Proverb) अथवा 'नीति वचन' (Moral Dicta) अथवा 'उक्ति' (Famous saying) की संज्ञा देते हैं। समाचार-पत्रों में सम्पादक उसे अपने सम्पादकीय से भी ऊपर ''आज का विचार'' (Thought for to-day) शीर्षक देकर प्रकाशित करते हैं। वक्ता या लेखक उसे अपने भाषण या लेख में उद्धृत करते हुए अपनी विद्वता या अपनी अध्ययनशीलता से श्रोताओं या पाठकों को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। आज तक अनगिनत लोगों ने इन 'नीति वचनों' अथवा 'उक्तियों' को न जाने कितनी बार उच्चारित, उल्लेखित अथवा प्रयुक्त किया होगा, उस उक्ति के बल से उन्होंने अपनी बात को भी युक्ति-युक्त प्रगट करने का प्रयास किया होगा। न जाने कितने लोगों के जीवन में ये 'नीति वचन', 'सुभाषितम्' अथवा 'कहावतें' उनके मार्ग-दर्शक बने होंगे। अतः स्पष्ट है कि थोड़े ही शब्दों में गहन और गम्भीर भाव को व्यक्त करने वाले इन नीति वचनों का इतना महत्त्व और इतनी मान्यता है कि लोग उन्हें बार-बार दोहराते भी नहीं थकते और न ऊब [illegible] होते हैं। अवश्य ही जिनके ये वचन कहावतें बन गईं [illegible] [illegible] इन कहावतों के उन वक्ताओं की बात और उन बातों [illegible]

का और उनकी बुद्धि का परिचय मिलता है और दूसरी तरफ कई बार कई लोगों के मुख से हम ऐसी बात भी सुनते हैं कि जिससे उनकी मूर्खता का परिचय मिलता है। इस प्रकार देखिये कि बातें तो दोनों कहते हैं, परन्तु 'बात' और 'बात' में कितना अन्तर है! कुछ लोग जब इतनी लम्बी-चौड़ी बात कर चुकते हैं तो श्रोता कहता है कि "बात कुछ बनी नहीं", या "यह भी कोई बात है?", या "यह क्या बात हुई।" अन्य जब कोई बात करता है तो श्रोता कहते हैं – "बात तो सवा लाख रूपये की कही है।" अथवा "अरे कमाल की बात कही है", वाह भई वाह, यह तो अद्‌भुत है।" तो है न अन्तर 'बात' और 'बात' में?

शब्द तो वही होते हैं परन्तु.....

अक्षरों से ही शब्द बनते हैं और शब्दों से वाक्य परन्तु इस शब्द-रचना के माध्यम से कोई बात ही इतनी ऊंची कही गयी होती है या पेश ही ऐसे ढंग से की गई होती है कि उसे हम 'वाक्य' न कहकर *'महावाक्य'* कहते हैं। उन्हीं वाक्यों को कोई जब युक्ति-संगत रूप से हमारे ज्ञानवर्धन के लिए कहता है तो हम उसके वाक्यों या बोलों को 'प्रवचन', 'संभाषण' अथवा 'उद्‌बोधन' कहते हैं। या हम उसे 'वाणी' की संज्ञा देकर उसका बार-बार पठन-पाठन करते हैं। शब्द तो वही शब्द-कोष के होते हैं परन्तु उनमें भाव इतने ऊंचे भी होते हैं और उन्हें कहने की रीति भी ऐसी होती है कि हम उसी छन्दोबद्ध दो पंक्तियों को 'दोहा' कहते हैं। मानो कि दो हाथों से दूध की दो धाराएं कोई दोह कर हमें डायरेक्ट ही पिला रहा हो। शब्द तो वही शब्द कोष के होते हैं परन्तु उनमें मार्ग-दर्शता ऐसी सर्वोत्तम निहित होती है कि हम उसे 'नसीहत', 'शिक्षा' या 'परामर्श' का नाम देते हैं और कई देश ऐसे व्यक्ति को "राजा साहब" अथवा "रायज़ादा" — ऐसी उपाधियाँ दे कर सम्मानित करते हैं। और यदि राय मांगे बिना ही कोई राय देता जाए तब तो मांग (Demand) कम और पूर्ति (Supply) ज्यादा होने से उन शब्दों का मूल्य (भाव) ही गिर जाता है। शब्द तो वही होते हैं परन्तु कुछ शब्दों में भाव ऐसे होते हैं कि लोग उनको ग्रंथ अथवा शास्त्र बनाकर उन्हें 'शब्द' नाम देकर उन्हें पालकी में सुशोभित करके सिर माथे पर उठा कर ले जाते हैं। शब्द तो वही होते हैं परन्तु कोई व्यक्ति उनके द्वारा ऐसे भाव व्यक्त करता है कि लोग उसके मुख को ही 'मुखारविंद' अथवा 'कमलमुख' कहते हैं। हाँ, शब्द तो वही होते हैं परन्त किन्हीं शब्दों को 'वरदान'

(बगुले का आलाप) माना जाता है। **शब्द वही होते हैं परन्तु थोड़े-से शब्द मिल कर 'मंत्र' या 'महामंत्र' और मुक्तिदायक माने जाते हैं और लोग निद्रा छोड़ कर, मौन धारण कर उनके ही उच्चारण में लग जाते हैं।** शब्दों को ही पुष्प मान कर लोग श्रद्धांजलि अथवा श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं और शब्द या उनका प्रयोग ऐसा भी होता है कि लोग उन्हें 'गाली' मान लेते हैं। शब्द 'मोती' भी कहते हैं और मंझधार भी। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि कम बोले, परन्तु उसके बोल मोती जैसे हों। जब उसके ओठों की सीप खुले तो उसमें से मोती निकलें।

हम कह रहे थे कि बात और बात में, शब्द और शब्द में अन्तर होता है। पांच शब्द ऐसे भी होते हैं जिनसे मूर्खता प्रगट होती है और पंचाक्षरी शब्द ऐसा भी होता है जो मन्तर (मंत्र) कहलाता है। इस प्रकार ***'कम बोलो' से यह भाव नहीं है कि हमें बोलना ही नहीं है बल्कि इसका भाव यह है कि हम राज़युक्त, साज़युक्त और युक्ति-युक्त बोलें जिससे कि बन्धनमुक्त हो जायें।*** मूर्ख व्यक्ति बोल कर सोचता है कि – "हाय! मैंने क्या बोला, ऐसा क्यों बोला, ऐसा न बोलता तो अच्छा होता" परन्तु समझदार व्यक्ति सोचकर बोलता है ताकि बाद में उसे पछताना न पड़े। 'मूर्ख' और 'समझदार' दोनों प्रकार के व्यक्ति बोलते भी हैं और सोचते भी हैं। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि मूर्ख बोलने के बाद सोचता है और समझदार व्यक्ति बोलने से पहले सोचता है। समझदार व्यक्ति के बोलने में शिष्टता (आदर), सत्कार-सम्मान (लिहाज), उचित सम्बोधन-विधि, मधुरता, शालीनता, स्नेह, नम्रता, संतुलन और बुद्धिमत्ता – ये गुण होते हैं और उसका बोलना 'अर्थ' ही नहीं बल्कि 'परमार्थ' को लिये होता है जबकि मूर्ख के बात करने के लहजे में शिष्टता और शालीनता का अभाव, छोटे-बड़े, अड़ोसी-पड़ोसी, साथी-अतिथि, [illegible] इत्यादि के लिहाज का अभाव, मानसिक संतुलन का आभाव, स्नेह, सम्मान, सहानुभूति और मधुरता का अभाव तथा परमार्थ-चिन्तन का अभाव होता है और फलस्वरूप उसमें स्वार्थ तथा व्यर्थ का भाव भरा होता है।

कम बोलो या चुप रहो?

की तरह होता है। ऐसा बोलना अब बिल्कुल ही बन्द होना चाहिए। 'वचन' का अर्थ तो वायदा (Promise) भी है; अतः ऐसे वचन बोलना जो कि गोले-बारूद का काम करें, दूसरों को हताहत करें या उन्हें दुःख पहुंचायें गोया 'वचन' न बोल कर हमला करना है और मुख को तोप के मुँह की तरह प्रयोग करना है। इनको छोड़ कर चुप रहना है। **कम बोलने का यह अर्थ नहीं है कि फायरिंग करनी तो है परन्तु कम फायरिंग (Firing) करनी है। कम बोलने का यह अर्थ भी नहीं है कि अच्छे वचन कहने में कंजूस बनना है। ज्ञान-दान तो महादान है; ज्ञान-धन तो उदारता से देना ही है। कम बोलने का भाव यह है कि व्यर्थ न बोला जाए बल्कि शब्दों की बचत की जाए। 'शब्द' के भाव को भी 'अर्थ' कहते हैं और 'अर्थ' धन को भी कहते हैं। अतः जैसे आर्थिक बजट (Monetary Budget) बचत की बनाते हैं, वैसे ही शब्द-धन की भी बचत करनी है। ज्यादा बातचीत ही आगे चल कर मोह-ममता, मिस अंडरस्टेंडिंग (Misunderstanding), कहा-सुनी, वाद-विवाद, वार्ता बन जाती है।**

रूह को राहत देने वाले बोल

वचन ऐसे भी होते हैं जो किसी जख्मी दिल पर मल्हम-पट्टी का काम करते हैं, रूह को राहत देते हैं, दर्दे-दिल की दवा का काम करते हैं और थके-मांदे व्यक्ति में उमंग, उत्साह और स्फूर्ति पैदा कर देते हैं, यहाँ तक कि मुर्दा-दिल व्यक्ति में भी रूह फूंक देते हैं। जिन्दा जलाने वाले शब्द भी होते हैं और जिन्दगी दिलाने या बनाने वाले शब्द भी। शब्दों में ही मत-स्थापक अपना मत व्यक्त करते हैं और ईश्वरीय शब्द ही 'श्रीमत' कहलाते हैं। इस प्रकार शब्द का महत्व अपार है। हमें चाहिए कि हम ऐसे शब्द बोलें जिससे कि संसार में खुशी बढ़े।

शब्दों ही से सम्बन्ध या गुण-दोष

शब्दों से ही हमारे सम्बन्ध बनते भी हैं और बिगड़ते भी हैं। शब्द या भाषा ही तो एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच विचारों के आदान-प्रदान (Communications) का एक मुख्य साधन है। हमारा व्यवहार और व्यापार मुख्यतः शब्दों ही के माध्यम से चलता है। इसी से ही हमारे गुणों या अवगुणों का भेद खुलता है। **शब्द ही तख्त पर बिठाते हैं ।, फांसी के तख्ते पर भी लटकाते हैं। शब्द ही अन्धकार नाश करके प्रकाश देते हैं और : में आनन्द रस भर देते तथा प्रभु से मिला देते हैं और शब्द ही माया का मुरीद बना**

देते हैं। अत: इनके प्रयोग के लिए हमें सावधान तो होना ही चाहिए।

बात सारी बुद्धि की

बोलने से पहले तो विचार बुद्धि में उठते हैं अथवा इच्छाएं मन में उत्पन्न होती हैं और वे मस्तिष्क को अपना माध्यम बना कर भाषा-स्थान (Language Centre) को क्रियान्वित करके मुख द्वारा अभिव्यक्ति करते हैं। **अत: कम बोलने, धीरे बोलने तथा मीठा वोलने का आधार मन-बुद्धि ही है। यदि मुख का मौन हो और मन-बुद्धि में इच्छाएं तथा विचार बड़ी तीव्र गति से उत्पन्न हों तब तो खोपड़ी ही खो पड़ेगी। इसलिए इस आज्ञा का पालन पहले तो मन-बुद्धि के स्तर पर होना चाहिए।**

परन्तु मन-बुद्धि का मौन तभी होगा और मन-बुद्धि तभी कम और मीठा बोलेंगे जब वे आनन्द-मधु के सागर, शान्ति के सागर, परमपिता शिव पर टिके होंगे। जब मन के मुख में आनन्द का कन्द होगा तो वह बोलेगा ही कैसे?

शहद की मक्खी का उदाहरण

शहद की मक्खी सदा "भिन्न-भिन्न-भिन्न" करती रहती है। वह एक फूल से उठकर दूसरे फूल पर जा बैठती है और भिन्न रस लेने के लिए "भिन्न.....भिन्न....भिन्न" का नारा लगाते हुए चंचलता से, अस्थिरता से उड़ कर फिर दूसरे फूल पर जा कर उसका रस लेती है परन्तु जब वह शहद के छत्ते में जा बैठती है तो उसकी "भिन्न...भिन्न..." समाप्त हो जाती है और वह एक ही मधु-रस में 'एकरस' स्थिर हो जाती है। इसी प्रकार शिव का आकार भी छत्ते जैसा ही है और वह भी आनन्द-मधु से भरपूर है। जब मन-बुद्धि उस पर जाकर बैठते हैं, तो वे भिन्न...भिन्न को छोड़ कर स्थिर एवं एकरस हो जाते हैं। और सब मीठा ही मीठा होता है।

एक राज़ और पांच साज़

यह संसार पांच तत्वों की प्रकृति से बना है। हमारे शरीर की भी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मनोविकार भी मूलत: पाँच ही हैं और गुण भी मुख्यत: पाँच ही हैं। इसी प्रकार बोलने के लिए भी हमें पांच यंत्र मिले हैं। वे पांच यंत्र (Instruments) हैं — ओष्ठ (होंठ), दाँत, तालू, ज़बान और गला। इन पांचों को हमें संगीत के साज़ (Musical instruments) के रूप में प्रयोग करना चाहिए तभी हमारे बोल मीठे

होंठ तो बांसुरी, मुरली, बीन या शहनाई आदि बजाने के साज़ हैं। हमें उनसे मुरली आदि के ही मधुर स्वर निकालने चाहिएं। दाँतों की शक्ल हार्मोनियम की सुरों की तरह होती है। उन्हें हार्मोनियम मान कर प्रयोग करना चाहिए। दाँत चबाने के काम आते हैं। हमें भी चबा-चबा कर, अर्थात् सोच-समझ कर बात करनी चाहिए। तालू तो तबले की तरह है। जैसे तबले पर हाथ मारने से या मृदंग बजाने से दुमक-दुमक होती है, वैसे ही हमारी जिह्वा जब तालू से जा कर लगती है तब उसमें से भी साज़ की जैसे ही आवाज निकलनी चाहिए। गुंबद की तरह जो तालू है, उससे ओम् की ही ध्वनि गूंजनी चाहिए। ढाई इंच की ज़बान तो सदा रसगुल्ले की तरह चाश्नी से ही भरी रहती है। वह सदा तर ही रहती है। वह सभी रसों को जानती है। अत: उससे तो ऐसा रस निकलना चाहिए कि सा-रे-ग-म-प-द-नी-का, अर्थात् सुनने वाले के सारे गम पद (पाओं) पर सफाई से (नीका) भाग जायें। रसीली ज़बान ही स्नेह-उत्पादक, प्रीति-वर्धक और सफ़लता की साधक है। गला तो नासिका और तन्तुओं से मिल कर सारंगी की तरह सुर निकाल सकता है।

साज़ों के प्रयोग से जब हम कोई गीत गाते हैं तो गीत में राज़ तो होता है। अत: यदि हमारी बुद्धि में आत्मा-परमात्मा-सृष्टि चक्र का राज़ हो और यदि हम इन पांचों वचन-साधनों का साज़ों की तरह प्रयोग करें तो हमारी वाणी राज़-युक्त तथा युक्ति-युक्त हो जायेगी और हमें बन्धन-मुक्त करा देगी।

बोलो अर्थात् बो + लो

हमें समझना चाहिए कि "बोलो" का अर्थ है — बो+लो। इस प्रकार, बोलना एक प्रकार से बीज बोना है। जैसे हम श्रेष्ठ बीज और मीठे फल का ही बीज बोना चाहते हैं, वैसे ही हमे सदा मीठे ही वचनों का बीज बोना चाहिए। बोलते समय हमें सदा यह याद रखना चाहिए कि 'बोलो' का भाव है — बो+लो। हम यदि कांटों के समान बोलेंगे तो गोया अपने लिए कांटे बोयेंगे और यदि हम मीठे आम बोयेंगे तो हमारे सामने वही फल आयेगा। इन युक्तियों से हम कम बोलने, धीरे बोलने और मीठा बोलने की आज्ञा का पालन कर सकेंगे।

दोष दृष्टि से बचिये, अनमोल समय बचाइये?

अज्ञानी और ज्ञानी मनुष्य के जीवन में बहुत ही अन्तर होता है। और अन्तर होना ही चाहिए। अज्ञानी मनुष्य की 'दृष्टि' अपने सम्पर्क में आने वाले हरेक मनुष्य के दोषों पर ही जाती है। वह दूसरों के अवगुण का ही चिन्तन करता रहता है और इस प्रकार वह न स्वयं प्रफुल्लित होता है और न दूसरों को ही मीठी दृष्टि से देखता है। जिस मनुष्य की दृष्टि में जितनी वक्रता और कटुता है वह उतना ही बड़ा अज्ञानी अथवा विस्मृति में है।

दूसरा व्यक्ति यदि दोषी है तो उसके दोष का दण्ड वह पायेगा। हम उसके दोषों का व्यर्थ ही चिन्तन कर उसका दु:ख स्वयं को क्यों लगावें ऐसा ही ज्ञानी सोचा करते हैं। अवगुण कम हो या ज्यादा तथापि हरेक मनुष्य में कुछ गुण तो हुआ ही करते हैं। बुद्धिमान आदमी दूसरों के अवगुणों को छोड़कर गुणों को चुराता है, इसलिये उसकी दृष्टि गुणों पर ही जाती है।

दोष दृष्टि से छुटकारा पाने के लिये स्वयं को देखें

यदि दूसरों के दोष दिखाई दे भी जायें तो अपने मन को प्रफुल्लित एवं हृदय को प्रसन्न रखने का तरीका यह है कि हम स्वयं में यह देखें कि स्वयं हम में तो किसी रूप में या किसी अंश में तो वह दोष नहीं छिपा हुआ है। जिस प्रकार दूसरे में उस दोष का होना हमें अप्रिय लगता होगा। तब क्यों न हम दूसरों के दोषों को देखकर स्वयं में से भी वह दोष निकालें?

हम में वह दोष न भी हो, परन्तु जब तक हम सम्पूर्ण देवता नहीं बने हैं तब तक हम में कोई दोष ज्यादा नहीं तो कम, अति सूक्ष्म में तो हो सकता है। जब कि दोष अप्रिय वस्तु है, बदबूदार (दुर्गन्ध पूर्ण) वस्तु है, स्वयं को और दूसरों को चुभने वाला कांटा है, तो क्यों न हम भी इसको जड़ से समाप्त करने की कोशिश करें। दूसरों के दोषों को देखने की बजाय स्वयं अपने दोषों को ढूँढ-ढूँढकर निकाल दें?

आज मनुष्य के श्वास का क्या भरोसा है? जब कि इन्सान की मृत्यु की तिथि और घड़ी मालूम नहीं है तो क्यों न अपने दोषों को तथा 'दोष दृष्टि' रूपी अवगुण को आज

ही निकाल दिया जाय अथवा जब कि 'अन्त मति सो गति' होती है तो दोषों का व्यर्थ चिन्तन ही क्यों किया जाय! क्यों न हम साक्षी होकर एक गुणों के अखुट भण्डार परमात्मा ही के गुणों को देखें? उस ही से खुशबू (गुण) लें, खुशबूदार फूल (सुगन्धि), दोषरहित देवता बनें।

दोषी के दोष को देखकर उससे घृणा करना 'शुभचिन्तन' नहीं कहलाता। यदि आपको उसका दोष अप्रिय लगता है, परन्तु वह स्वयं आपको प्रिय है तो उससे घृणा करनी चाहिए या उस पर तरस (दया) आना चाहिये? जबकि परमपिता परमात्मा शिव हम दोषी पर दया कर निर्दोषी बनाते हैं (न कि घृणा कर हमको छोड़ देते है)। अतः दूसरों के दोष देखकर उससे घृणा करना गोया अपने निर्दयी भाव को प्रकट करना है।

एक बड़ा दोष

किसी के दोष निकालकर उससे घृणा करना अथवा सारा समय दोषों की ही दृष्टि अथवा स्मृति में रहना ही स्वयं में एक बहुत बड़ा दोष है। इसलिए जब हम स्वयं में से यह दोष निकाल देंगे तभी दूसरों को भी इस दोष से मुक्त कर सकेंगे।

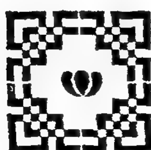
किन्तु, कुछ लोगों का ख्याल है कि दूसरों के दोषों पर पर्दा डालना चाहिए। उसके अवगुणों का वर्णन नहीं करना चाहिए, क्योंकि जैसे गन्द को खोदना बुरा है वैसे ही अवगुणों का वर्णन करना भी अच्छा नहीं है। परन्तु, भगवान् कहते हैं कि इससे भी अच्छा यह है कि किसी तरीके से दोषी का दोष निकाल दिया जाये। बुद्ध, ईसा आदि मतस्थापक कहते आये हैं कि – "यदि कोई तुम्हें एक गाल पर थप्पड़ लगाये तो दूसरा गाल भी उसके आगे कर दो और उसकी हिंसा का किसी से वर्णन न करो।" परन्तु भगवान् कहते हैं कि – बात यहाँ तक ही ठीक नहीं। ठीक तो यह है कि उस हिंसक अथवा दोषी को ऐसा समझाया जाय कि उससे वह हिंसा की भावना ही निकल जाय वर्ना उसकी हिंसा वृत्ति को छिपाने से अथवा स्वयं उसका शिकार होकर मौन रहने में कोई विशेष वीरता नहीं।

दोष दृष्टि मनुष्य को दुष्ट बनाती है

दोषी का दोष न देखने का यह अभिप्राय नहीं है कि जो मनुष्य अवगुण अथवा आसुरी लक्षण वाला है उसको हम वैसा न जान देवता जानें अथवा उसे सर्वगुण-सम्पन्न यह तो मिथ्या ज्ञान है। दोष-दृष्टि न रखने का यह अर्थ है कि हम व्यर्थ ही किसी

के दोषों का चिन्तन कर अपने अनमोल समय को न गँवायें और उस द्वारा अपनी प्रसन्नता को न खो बैठें। परमात्मा गुणों के सागर हैं। दोष अथवा विकार ही माया है। अत: जब हम किसी के दोषों अथवा विकारों का व्यर्थ ही चिन्तन करते हैं तो उसका अर्थ यह हुआ कि हम माया से बुद्धियोग लगाते हैं, ईश्वर से बेमुख होते हैं। यही अकल्याणकारी है। दोषों से मनुष्य दुष्ट बनता है और निर्दोषता से इष्ट। दुष्ट सबको अप्रिय लगता है, जबकि इष्ट सबको प्रिय लगता है। परमात्मा को हम इसलिये चाहते हैं कि वह सम्पूर्ण निर्दोष (दोष रहित) हैं। देवतायें मनुष्य के इसलिए इष्ट हैं कि वह निर्दोष मनुष्य हुए हैं। महात्माओं की भी वन्दना इसलिए ही होती है कि उनमें दोष कम है। इसलिए दोष-दृष्टि अपने ऊपर न हो तब ही मनुष्य दुष्ट से इष्ट, विकारी से निर्विकारी अथवा मनुष्य से देवता बनता है।

वर्तमान समय यह एक ऐसा दोष है जो सभी में है। उसी दोष के कारण ही अन्य सभी दोष भी विराजमान हैं। मनुष्यात्मा अपने परमपिता परमात्मा को भूल गयी है और उस भूल ही के कारण वह अकत्त्रव्य करती रहती है। अत: परमात्मा की विस्मृति ही ऐसा दोष है कि संसार में दोष और द्वेष फैला है। इस दोष से कौन बचा हुआ है?



मन का अन्न पर और अन्न का मन पर प्रभाव

एक समय था जब लोग अन्न की शुद्धि पर बहुत ध्यान देते थे। वे किसी दूषित वृत्ति वाले गृहस्थी के यहाँ अन्न न लेते थे। संन्यासी और भिक्षु लोग जोकि ज्ञान-ध्यान में लगे रहते हैं, वे भी इस नियम पर बहुत ध्यान देते थे। समयान्तर में लोगों का ध्यान अन्न-शुद्धि से हटता गया। अत: आहार-भ्रष्ट होने से उनके जीवन में भ्रष्टता की गति और तीव्र हो गई। उसका परिणाम मनुष्यों के मन-बुद्धि पर ऐसा पड़ा है कि आज ज्ञान-ध्यान की बातें उन पर कुछ प्रभाव ही नहीं डालतीं। यदि हम आर्य समाज, बौद्ध, सिक्ख आदि धर्मों के स्थापकों के जीवन-वृत्त पर दृष्टि डालें तो हमें मालूम होगा कि वे लोग भी इस बात पर ध्यान देते थे कि जिस से हम अन्न ले रहे हैं, उसकी वृत्ति, दृष्टि या कमाई कैसी है।

बौद्ध धर्म की प्रसिद्ध कथाओं में एक सच्ची जीवन-कथा 'सुन्दर समुद्र कुमार' नामक व्यक्ति की है। यह एक ऐसे घराने में पैदा हुआ था जिसके पास करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति थी। लिखा है कि एक दिन उसने देखा कि कुछ लोग अपने-अपने हाथ में पुष्प-मालाएं लिये दूसरे गांव में सत्संग सुनने जा रहे थे। उसने उनसे पूछा – 'आप लोग कहाँ जा रहे हैं, उन लोगों ने उत्तर दिया – हम शिक्षक (बुद्ध) से धर्म की शिक्षा सुनने जा रहे हैं।' उसने कहा – 'मैं भी आपके साथ चलूँगा।' ऐसा कहकर वह भी उनके साथ हो गया।

दूसरे गाँव में पहुँच कर उसने बुद्ध का उपदेश सुना और बहुत प्रभावित हुआ। उसने घर-बार का संन्यास करके बुद्ध के संघ में सम्मिलित होने का संकल्प किया और जब सारी संगत वहाँ से चली गयी तो उसने अपना विचार बुद्ध के सामने रखा। परन्तु बुद्ध ने कहा, "आप पहले अपने माता-पिता की आज्ञा ले आओ, तभी आपको संघ में रखा जा सकता है – यह हमारा नियम है।" सुन्दर समुद्र कुमार घर गया और बहुत यत्न करके संघ में सम्मिलित होने के लिए अपने माता-पिता से आज्ञा ले आया। तब वह संन्यास करके संघ के नियम में रहने लगा। फिर, वह उस गाँव को छोड़कर, दूसरे स्थान पर चला गया।

जिस गाँव में वह पहले रहता था वहाँ एक दिन एक मेला लगा। उसकी माता ने उस

मेले में 'सुन्दर समुद्र कुमार' के दोस्तों को खूब खेलते और मौज मनाते देखा। यह देखकर उसके माता-पिता बहुत रोने लगे। वे सोचने लगे कि अब तो हमारे बच्चे का वापस आना मुश्किल है। उसी समय एक वेश्या उनके घर आई और बोली — 'माता, आप रोती क्यों हैं?'

'अपने बच्चे की याद मुझे सता रही है। इसी लिए रो रही हूँ' — वह बोली।

'आपका लड़का कहाँ गया है।' वेश्या ने पूछा।

'वह तो संन्यास लेकर भिक्षुओं के साथ राजगहा गाँव में चला गया है।' माता ने कहा।

'यदि मैं उसे इस संसार में वापस ले आऊं तो आप मुझे क्या इनाम दोगी?' वेश्या ने प्रश्न किया।

माता ने उत्तर दिया — 'हम तुम्हें इस घर की सारी सम्पत्ति की मालकिन बना देंगी।'

'अच्छा, तो मुझे अपना यत्न करने के लिए खर्च दीजिए।' ऐसा कहकर उस वेश्या ने धन लिया और वह **'राजगहा गाँव'** में पहुँची।

उसने वहाँ जाकर पहले देखा कि 'सुन्दर समुद्र कुमार', जो कि भिक्षु बन गया था, वह प्राय: भिक्षा लेने किधर-किधर जाता है। यह मालूम करने के बाद उसने उस गली में एक अच्छा मकान रहने के लिए ले लिया जिस गली में वह भिक्षु भिक्षा के लिए प्राय: आया करता था। वह प्रात: ही अच्छा भोजन बना लेती थी। ऐसे कुछ दिन जब हो गए तब एक दिन उसने कहा — ''महोदय, यहीं बैठकर ही इसे खा लीजिये।'' यह कहकर उसने उसका कटोरा अथवा कौपिन माँगा। भिक्षु ने उसे दे दिया। उसमें वेश्या ने स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ डालकर भिक्षु को दिए। भोजन कर लेने के बाद उसने कहा — ''महात्मन्, यह अच्छी जगह है, आप यहीं बैठकर प्रतिदिन भोजन कर लिया कीजिये।'' इस प्रकार वहीं अपने बरामदे में ही उसे बिठाकर वह उसे अपने हाथों से बना हुआ भोजन देती रही।

उसके बाद उसने गली के बच्चों को मिठाइयाँ आदि खिलाकर उनके मन को जीत लिया। एक दिन उन बच्चों को वह बोली — ''जब वह भिक्षु यहाँ आता है तब आप भी आ जाया करो और धूल उड़ाने लग जाया करो और जब मैं इसके लिए आपको रोकूँ तब भी आप मत रुका करो।'' अत: अगले ही दिन जब वह भिक्षु आया और भोजन करने लगा तब वे बच्चे आकर धूल उड़ाने लगे और रोकने पर भी न माने। तो दूसरे दिन जब वह भिक्षु आया तो वेश्या ने कहा — ''महोदय, ये लड़के चंचल हैं, धूल उड़ाते

हैं, कहने पर भी नहीं टलते, अत: आप घर के अन्दर चलकर बैठिए!'' भिक्षु ने मान लिया। फिर कुछ दिन बाद उस वेश्या ने उन बच्चों को सिखाया कि जब भिक्षु अन्दर बैठे और खाना खाये तो आप शोर मचाया करो और रोकने पर भी मत रुका करो। अत: जब ऐसा ही हुआ तो वेश्या ने भिक्षु को घर की ऊपर की मन्ज़िल पर, आवाज़ों से परे शान्त स्थान पर बैठकर खाना खाने के लिए कहा। भिक्षु ने मान लिया। तब वेश्या ने अपनी अश्लील कामना उसके सामने रखी।

इस प्रकार, जीवन-वृत्त में आगे बताया गया है कि उस वेश्या के हाथों से बने अन्न ने 'सुन्दर समुद्र कुमार' को, जो कि भिक्षु बन गया था और वैराग्य के वश करोड़ों रूपयों की अपनी सम्पत्ति को भी लात मार गया था, ऐसा बना दिया कि वह दिनों-दिन अपने धर्म-कर्म की सुध-बुध भूलता गया। आख़िर उसे पश्चाताप हुआ। वेश्या तो काम-वृत्ति और इनाम के लोभ के वशीभूत थी। अत: उसकी वृत्ति ने अन्न पर प्रभाव किया जिसे स्वीकार करने से भिक्षु के मन में उस स्वादिष्ट भोजन का लोभ भी हो गया और उसके मन की अवस्था भी बिगड़ गयी। लिखा है कि बुद्ध ने ही अपने आत्मिक बल से उसे पतित होने से बचा लिया। यह किस्सा बौद्ध ग्रंथों में 'सुन्दर समुद्र कुमार और वेश्या' — इस नाम से प्रसिद्ध है। इसकी चर्चा बुद्ध ने अपने सर्वोत्तम शिष्य 'आनन्द' से की थी। इससे अन्न बनाने और देने वाले के मन का अन्न पर जो प्रभाव पड़ता है और फिर उसे सेवन करने वाले पर जो असर पड़ता है, वह स्पष्ट है।

बुद्ध के अनन्य शिष्य आनन्द पर माया का वार

बौद्ध ग्रंथों में, सूत्रों में एक ऐसा वृत्तान्त और भी आया है। उसमें लिखा है कि एक बार महात्मा बुद्ध और उनकी शिष्य मण्डली एक राजा के निमन्त्रण पर वहाँ भोजन करने गए थे। उनके पीछे ही उनका मुख्य शिष्य 'आनन्द', जो कि किसी कार्य पर गया हुआ था, लौट कर आया। महात्मा बुद्ध तथा अन्य सब की अनुपस्थिति में उसने अपना कौपीन लिया और भिक्षा लेने चल पड़ा। वह भिक्षा लेते समय इस बात पर कभी ध्यान नहीं देता था कि भिक्षा देने वाला कौन है। भिक्षा लेते-लेते वह एक वेश्या के घर पर जाकर भिक्षा माँगने लगा। उसकी लड़की 'मोहिनी' आनन्द की कान्ति को देखकर उस पर मोहित हो गई और उसने माँ को उस पर कुछ टूना आदि करने के लिए कहा। आनन्द उस भिक्षा के पीछे उसके घर में चला गया और वहाँ उसकी भी दृष्टि-वृत्ति दूषित हो गयी। लिखा है कि बुद्ध ने वहाँ के राजा के घर बैठे ही अपने अनन्य शिष्य को वहाँ भेजा जहाँ पर 'आनन्द' था और उसे कहा कि [illegible] आनन्द की अवस्था

में परिवर्तन आया।

इन दोनों वृत्तान्तों से पता चलता है कि **धरनी (स्थान), दृष्टि और वृत्ति का भी प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ता है।** यदि मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो, परमपिता परमात्मा की याद में स्थित हो तब तो प्रभाव कुछ कम होता है वर्ना पूरी तरह उसे ग्रसित कर लेता है। किन्तु आज जब भौतिकवाद और नास्तिकवाद का बोल-बाला है, तब लोग इन बातों पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। जो स्वयं को आस्तिक मानते हैं, वे भी माँस, मदिरा आदि को तो तामसिक आहार मानते हैं, परन्तु बनाने वाले तथा कमाने वाले की दृष्टि और वृत्ति पर ध्यान नहीं देते।

आर्य समाज के स्थापक दयानन्द जी के जीवन का एक वृत्तान्त

आर्य समाज के प्रसिद्ध लेखक और प्रचारक आनन्द स्वामी ने 'प्यारा ऋषि' — इस शीर्षक से जो पुस्तक लिखी थी, उसमें भोजन-सम्बन्धी भी कुछेक वृत्तान्तों का उल्लेख था। उसमें 'कुकर्मी का भोजन नहीं खाना' — इस शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि — एक दिन साहू श्याम सुन्दर ने, जो मुरादाबाद के रईस थे, परन्तु वेश्यागमनादि दुर्व्यसनों में ग्रस्त थे, स्वामी जी से प्रार्थना की कि महाराज आप मेरे घर चलकर भोजन कीजिये। स्वामी जी ने प्रार्थना को अस्वीकार किया। परन्तु उसी समय जब एक दूसरे सज्जन ने यही प्रार्थना की तो उसे स्वीकार कर लिया। साहू श्याम सुन्दर ने स्वामी जी से उपालम्भ दिया तो उस समय महाराज चुप रहे, किन्तु व्याख्यान में इस घटना का जिक्र करके और साहू साहिब को सम्बोधन कर के कहा कि "जब तक तू कुकर्म न छोड़ेगा, हम तेरे घर पर जाकर भोजन न करेंगे।"

उपर्युक्त से भी स्पष्ट है कि जो मनुष्य वासनापूर्ण मन वाला हो अथवा व्यसनी हो, उसके यहाँ बना हुआ खाना नहीं खाना चाहिए। कारण क्या है? यही कि उसकी दूषित वृत्तियों का अन्न पर प्रभाव पड़ता और वह फिर खाने वाले के मन को दूषित करती है। हालाँकि साहू श्याम सुन्दर तो अब दयानन्द जी के सत्संग में आने लगे थे और उपदेश सुनते थे, तभी तो उन्होंने आदर और भावना से उन्हें अपने घर में आने के लिए न्योता दिया। परन्तु आदर और भावना ही तो काफ़ी नहीं है, मनुष्य का चरित्र अथवा मन भी तो व्यसनों से रहित होना चाहिए। खाना साहू श्याम सुन्दर जी ने तो बनाना नहीं था; उसके तो घर में रसोइयों ने बनाना था, परन्तु जब घर का मालिक, निमन्त्रण देने वाला ही वासना-पूर्ण स्वभाव वाला है तब उसका निमन्त्रण भी अस्वीकार कर दिया गया; बनाने

वाला भी यदि दुर्व्यसनों वाला हो, तब तो प्रश्न ही नहीं उठता, उसके हाथ का बना हुआ भोजन तो कभी खाना ही नहीं चाहिए।

नानक जी के जीवन से वृत्तान्त

इसी प्रकार, सिक्ख मत के स्थापक नानक देव जी की जीवन-कहानी में भी कई-एक वृत्तान्तों का उल्लेख है। बताया है कि कैसे उन्होंने एक रईस जिसका नाम......था का न्योता स्वीकार नहीं किया, बल्कि एक कुटिया में जाकर एक निर्धन और निम्न जाति के व्यक्ति के यहाँ खाना खाया। जब उस रईस ने पूछा कि क्या कारण है कि 'मेरे निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया है, परन्तु उस निर्धन व्यक्ति की रूखी-सूखी रोटी स्वीकार की गई है, तो लिखा है कि नानक जी ने उस रईस की एक रोटी को लेकर निचोड़ा तो उसमें से खून निकला और उस निर्धन व्यक्ति की रोटी को निचोड़ा तो उसमें से दूध निकला। इस प्रदर्शन से उन्होंने सबको बताया कि रईस की कमाई खोटी है, उसने बहुत लोगों का खून निचोड़ कर यह अन्न कमाया है, परन्तु इस मेहनती व्यक्ति ने सच्चाई से कमाया है।

इस प्रकार के दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि हमें ध्यान देना चाहिए कि कहीं अन्न दोष न लग जाय। अन्न दोष भी संग दोष की तरह है जो कि मनुष्य के मन को मलीन अथवा विक्षिप्त कर देता है। इससे मनुष्य के मन में चंचलता आ जाती है, वासनाएं जाग उठती हैं और अवस्था डगमगा जाती है। विशेषकर काम और क्रोध जिसके स्वभाव में हों, उसके हाथ से बना भोजन तो कभी नहीं खाना चाहिए, क्योंकि यह दो विकार तो महाबली हैं और बहुत ही भयंकर हैं। अतः अब परमपिता परमात्मा शिव ने हमें शिक्षा दी है कि आप योग-युक्त एवं पवित्र अवस्था में स्थित होकर अपना खाना स्वयं बनाओ अथवा किसी पवित्र व्यक्ति के हाथ से बना हुआ भोजन स्वीकार करो। किसी भी अपवित्र व्यक्ति के हाथ का भोजन स्वीकार न करो।

गृहस्थियों के सामने कठिनाई

अब एक कठिनाई यह सामने आती है कि जो गृहस्थ लोग हैं, उन्हें दूसरों के यहाँ आना-जाना तो पड़ता ही है। आजकल के ज़माने में जबकि लोग ईश्वरीय ज्ञान और योग का अभ्यास ही नहीं करते और जबकि सिनेमा, फ़ैशन और जिह्वा के स्वाद और विलास के साधनों का बोलबाला है तो सात्विकी स्वभाव के लोग तो मिलना ही असम्भव है।

जाता है और दूसरा स्नेह से, सम्मान से या शिष्टाचार की रीति से उसके सामने घर की बनी हुई चीज़ अथवा बाहर से लाई हुई कोई मिठाई आदि रखता है तो क्या वह स्वीकार कर ले? बाहर की चीज़ अस्वीकार करने की बात तो कई लोग मान भी जाते हैं, परन्तु जिसके घर में अतिथि होकर या मित्र-भाव से या किसी कार्यार्थ हम जाते हैं, उसके अपने घर में कोई बनी हुई चीज़ यदि हम अस्वीकार कर दें तो बहुत सम्भव है कि यह बात उनके मन को दु:खित करेगी। हाँ, ऐसे भी लोग हैं जो इस बात को मानते हैं कि यदि किसी के जीवन का नियम यह है कि वह और किसी के यहाँ कुछ नहीं खाता तो वे उसे खाने के लिए मज़बूर नहीं करते। परन्तु बहुधा लोग जोकि "खाओ, पियो और मौज उड़ाओ" के सिद्धान्त के अनुयायी हैं, वे बुरा मान जाते हैं। तब क्या किया जाय?

स्पष्ट है कि हमें अपने नियम से तो गिरना नहीं चाहिए। जबकि हम जानते हैं कि इससे अन्न दोष का हमारे मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो हम यदि दूसरों की ग़लत धारणा के प्रभाव में आकर अथवा उनसे डरकर अपने मन्तव्य, सिद्धान्त तथा आचार को छोड़ देते हैं तो यह हमारी अत्यन्त दुर्बलता का सूचक है। किसी भी धारणा को, जोकि दूसरों को अज्ञात हो अथवा अमान्य हो, स्थापित करने में, उसके गुण बताने में समय तो लगता ही है और उसके लिए निन्दा, आलोचना, सामाजिक बहिष्कार आदि सहन भी करना पड़ता है, परन्तु यह सब थोड़े समय के लिए ही सहन करना पड़ता है। उसके बाद इसका फल बहुत मीठा निकलता है। न केवल अपने मन में शान्ति होती है और आत्मिक उन्नति होती है बल्कि एक दिन विलासी लोग अपने जीवन की भ्रष्टता से पीड़ित होकर अवश्य ही सत्यता के सामने नत-मस्तक होते हैं। अत: हमें अपने सिद्धान्त की श्रेष्ठता को समझते हुए, दूसरे के प्रति स्नेह की भावना रखते हुए और आत्म-स्थिति में स्थित होते हुए, मधुर शब्दों में उन्हें समझाना चाहिये और अपने नियम के बारे में विनय-पूर्वक बता देना चाहिए। इस दृढ़ता से दूसरों के जीवन में आज नहीं तो कल प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वे समझ जाते हैं कि इससे मनुष्य का धन भी व्यर्थ नहीं होता, वह जिह्वा का ग़ुलाम भी नहीं बनता, उसका स्वास्थ्य भी बना रहता है और इससे मानसिक तथा आत्मिक उन्नति तो है ही।



निस्संकल्प अवस्था

मनुष्य जो भी कर्म अथवा विकर्म करता है, उसे करने से पहले उसके मन में संकल्प उठता है। जैसे कर्मों का हिसाब-किताब बनता है और उसके अनुसार मनुष्य को सुख-दु:ख भोगना पड़ता है, वैसे ही संकल्पों का भी लेखा बनता रहता है। अत: विकर्मों से बचने के लिये संकल्पों के बारे में सचेत रहना आवश्यक है, अर्थात् निर्विकल्प बनना ज़रूरी है। जब आप निर्विकल्प अर्थात् अशुद्ध एवं फालतू संकल्पों से रहित बनेंगे तभी सुख-शान्तिमय जीवन प्राप्त हो सकेगा। ऐसी निर्विकल्प अवस्था ही आत्म-शुद्धि की सम्पूर्ण अवस्था है।

देवताओं के वचन भी गिनती के और अर्थ-सहित होते हैं। उनका संकल्प उठता ही किसी कार्य के लिये है। इसी कारण, उनके जो संकल्प उठते हैं वह पूर्ण भी अवश्य होते हैं, मानो कि उनके संकल्पों में पूर्ण सिद्धि भी समाई हुई होती है। जो मनुष्य पवित्र और स्वरूप-निष्ठ होता है उसके सब कार्य निस्संकल्पता से अथवा संकल्प के सूक्ष्म बल से सहज ही हो जाते हैं। निस्संकल्प रहने से आत्मा की शक्ति व्यर्थ नहीं जाती, बल्कि मनुष्य परमात्मा की याद में रहकर एक अति प्रफुल्लित एवं शक्तिवान अवस्था में स्थित होता है। उस अवस्था में रहकर किये गये संकल्प अथवा कार्य में बड़ी शक्ति समाई होती है।

निस्संकल्प अवस्था प्राप्त करने की युक्तियां

निस्संकल्प अवस्था वाला मनुष्य ही एकरस स्थिति में रह सकता है, क्योंकि जिसको फालतू संकल्प आते हैं वह उन संकल्पों के कारण पूर्ण-रीति हर्षितमुख, अडोल-चित्त और साक्षी एवं द्रष्टा बनकर नहीं रह सकता। वास्तव में व्यर्थ संकल्प आते ही उसको हैं जो (१) निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, हर्ष-शोक, जय-पराजय से थोड़ा-बहुत प्रभावित होता हो और (२) एक परमात्मा ही के भरोसे पर (३) सृष्टि को एक बना-बनाया (Pre-destined) नाटक समझकर अडोल निश्चय में खड़ा नहीं होता। यदि मनुष्य इस निश्चय में स्थित रहे कि (१) होनी तो हर हालत में होकर ही रहती है और बनी-बनाई ही बन रही है अथवा (२) यह पार्ट तो हमने अनेक बार बजाया है, (३) यह सृष्टि-नाटक तो ही युक्ति-युक्त और रहस्यपूर्ण है और (४) प्रभु का आधार लेने वाली मुझ आत्मा

का तो हर हालत में कल्याण ही कल्याण है, तो उस मनुष्य के मन में कोई विकल्प अथवा फ़ालतू संकल्प उठ ही नहीं सकता। इसी निश्चय में स्थिति ही तो मनुष्य की ज्ञान की धारणा को साबित करती है। इसी उच्च धारणा के कारण ही तो ज्ञानी मनुष्य प्रभु को बहुत प्रिय होता है।

जिसने सर्वशक्तिवान परमात्मा का हाथ पकड़ा हो, जो उस प्रभु की मत पर चलता हो और उसी का हो गया हो, उसका अकल्याण हो ही कैसे सकता है – ऐसा निश्चय करके परिस्थितियों का वाहरी रूप न देखकर ज्ञानी मनुष्य फालतू संकल्पों और विकल्पों से विल्कुल उपराम रहता है। वह जानता है कि सत्य की नाव डोलती ज़रूर है, परन्तु डूवती नहीं है। उसका यह निश्चय अडोल रहता है कि जव परमात्मा स्वयं ही खि़वैया वना है तो इस संसार सागर के तूफानों से एक दिन पार अवश्य ही लगना है। इसलिये वह तूफानों को नहीं देखता वल्कि उसकी दृष्टि तो मंजिल पर ही टिकी रहती है। उसके मन में तो वस यही वसता है कि अभी मैं अपने निस्संकल्पता के देश (मुक्तिधाम) में अर्थात् अपने परमप्रिय प्रभु के धाम में आरामी हुआ कि हुआ। मैं विघ्नों के इस संसार से निकलकर और कांटों की दुनिया को पार करके अभी फूलों की दुनिया में अर्थात् सुखधाम में पहुँचा कि पहुँचा। जिस व्यक्ति को हरदम यही याद रहता हो उसको और कोई संकल्प अथवा विकल्प आ ही कैसे सकता है? उसे अगर और कोई संकल्प आ भी जाय तो रह ही कैसे सकता है?

निस्संकल्प मनुष्य की आयु भी बढ़ती जाती है क्योंकि उसकी शक्ति व्यर्थ नहीं जाती। इसलिये निस्संकल्प अवस्था वाले मनुष्य को इसी जीवन में निस्संकल्पता का सुख अर्थात् अतीन्द्रिय सुख तो प्राप्त होता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त उसे आने वाले जन्म-जन्मान्तर के लिये भी कमाई करने का वहुत समय मिल जाता है। अतः निस्संकल्प ही निरोगी, निर्विघ्न और निश्चिन्त है। इसी जीवन में जो निस्संकल्प वन जाता है, भविष्य में भी जन्म-जन्मान्तर उसकी आयु वड़ी होती है, काया निरोगी होती है, जीवन निर्विघ्न होता है और सभी मनोकामनायें स्वतः ही सफल होती हैं। अतः निस्संकल्पता के पुरुषार्थ में ही सारी प्राप्ति का राज (रहस्य) समाया हुआ है।



अहंकार

शिव बाबा ने हमें बताया है कि पाँच मनोविकार ही संसार में व्याप्त सभी प्रकार की अशान्ति और सभी प्रकार के दु:खों का कारण हैं। कई बार बाबा ने इन विकारों के साथ एक और विकार की भी गणना की है। बाबा ने कहा है कि आलस्य छठा विकार है जो कि कभी-कभी प्रथम विकार का भी स्थान ले लेता है। परन्तु बाबा ने अनेक बार समझाया है कि यद्यपि काम, क्रोध, आदि विकारों का वर्णन करते हुए काम को प्रथम और अहंकार को पंचम स्थान दिया जाता है तथापि प्रत्यक्ष या सूक्ष्म रीति अहंकार सदा प्रथम स्थान पर ही आसीन रहता है। बाबा ने समझाया है कि यह केवल प्रथम स्थान ही नहीं लेता बल्कि सभी मनोविकारों के मूल में सदा बना रहता है। दूसरे शब्दों में हम यों कहें कि अहंकार ही अन्य सब विकारों को जन्म देता, उनकी रक्षा करता और उनका पालन तथा उनकी पुष्टि करता है। अन्य किसी भी विकार को एक धक से मनोबल एवं योग बल के आधार पर नष्ट प्राय: किया भी जा सकता है परन्तु अहंकार को मिटाने के लिए तो जीवन-भर घिसना-पिसना पड़ता है, सिर की बाज़ी लगानी पड़ती है और ज्ञान को जीवन-भर घोट-घोट कर पीना पड़ता है और योग की भट्ठी तपा-तपाकर इस सहस्त्र-बाहु शत्रु को ढूंढ-ढूँढकर, पकड़-पकड़कर योग की चिता में डालना पड़ता है। ऐसा अनेक सिरों वाला (Hydra-headed) है यह शत्रु जिसके लिए ज्ञान की साधारण बन्दूक और दिव्य गुणों का साधारण तीर काम नहीं करते, बल्कि इसके लिए तो आण्विक अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता है जो इस शत्रु की रग को बीन-बानकर अपनी ज्वाला में नाम और अस्तित्व रहित कर दे।

संसार में ऐसे कुछ लोग मिल जायेंगे जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हों; ऐसे भी जन मिल जायेंगे जिनमें वैराग्य की भावना-प्रधान हो और जो लोभ और मोह से काफ़ी हद तक ऊपर उठ चुके हों; ऐसे भी लोग मिलेंगे जिनमें शीतलता का गुण और क्रोध का अभाव बहुत मात्रा में होता है परन्तु अहंकार किसी विरले ही का पीछा छोड़ता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अहंकार ऐसा विकार है जो मनुष्य को यह स्वीकार ही नहीं करने देता कि उसमें अहंकार है। प्राय: अहंकारी मनुष्य यह मानने में ही अपना अपमान समझता है। तभी तो मनुष्य अभिमान को गर्व का नाम देते हुए सबके सामने बड़ी शान से कहता है कि —"मुझे कहते हुए यह गर्व अनुभव होता है कि मैंने घोर परिश्रम

करके इस पारितोषिक को पाया है'' और कभी वह इसे स्वमान की संज्ञा देकर कहता है कि – ''आख़िर मैं भी स्वमान रखता हूँ। मैं आपकी इस अपमानजनक बात को बर्दाश्त नहीं कर सकता।'' अन्य किसी समय वह चिल्ला उठता है और दु:खित स्वर से कहता है – ''मैं अभिमान नहीं करता, परन्तु आपने तो मुझे दो कौड़ी का समझ लिया है; आख़िर मेरी भी कुछ तो इज़्ज़त है; अगर किसी ने मेरी इज़्ज़त पर हाथ डाला तो उसे मैं वह मज़ा चखाऊंगा कि जिसे वह सारी उम्र याद रखेगा!'' इस प्रकार अहंकार शब्द-कोष में से एक विद्वान की तरह अच्छे-अच्छे मुहावरे और शब्द चुन-चुनकर अपना परिचय देता रहता है।

जैसे जिह्वा को कोई स्वादिष्ट पदार्थ दे देने पर, नेत्रों को कोई सुन्दर चीज़ अथवा दृश्य पेश करने पर मनुष्य को अच्छा लगता है, वैसे ही अहंकारी को अनेकानेक उपाधियां से और प्रशंसा से खुशी मिलती है। अहंकारी मनुष्य को यदि चिरकाल तक अपनी प्रशंसा सुनने को न मिले तो उसे ऐसी बेचैनी महसूस होती है जैसे किसी शराबी को काफी समय तक शराब या किसी सिगरेट पीने वाले को काफी समय तक सिगरेट पीने को न मिलने पर होती है। वास्तव में तो प्रशंसा और उपाधियाँ मनुष्य को उसके अच्छे काम के लिए एक धन्यवाद के प्रतीक के रूप में, शिष्टाचार के नाते से दी जाती है और जिसे किसी के कुछ गुण अच्छे लगते हैं, वह उसके गुणों का वर्णन स्वभावत: करता ही है। परन्तु अहंकारी मनुष्य उन्हें सुनकर अपनी कर्त्तव्य पूर्ति से सन्तुष्ट होने की बजाय उनकी लालसा ही करने लग जाता है अथवा उसे अपना अधिकार मानने लगता है या भोजन की तरह उस पर निर्भर ही रहने लग जाता है – यह सब इसलिए होता है कि अहंकार उसकी बुद्धि पर पर्दा डालकर उसे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से भी शून्य बना देता है।

अहंकार विवेक को तो नष्ट करता ही है। जो चीज़ मनुष्य का साथ नहीं देने वाली अथवा जिस चीज़ पर मनुष्य का अधिकार नहीं, उस पर भी मनुष्य अभिमान कर बैठता है। जुल्फिकार अली भुट्टो जब पाकिस्तान के विदेश मन्त्री थे तो उन्होंने भारत के विदेश मन्त्री स्वर्णसिंह को कहा था कि पाकिस्तान भारत से 1000 साल तक भी लड़ाई करे... और जब भारत के विदेश मन्त्री उनके भड़काने वाले वक्तव्य के प्रति अपनी ... करने के लिए उठकर सभा से बाहर जा रहे थे तो भुट्टो ने अभिमान के ... कहा – हिन्दुस्तानी कुत्ता (Indian dog) जा रहा है। अभिमान के मद ...

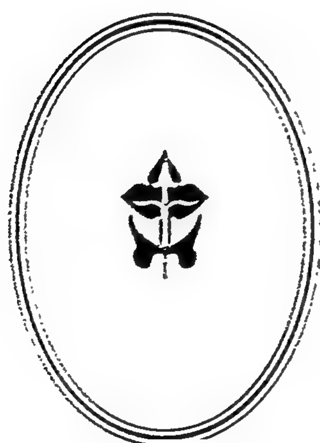
भी विवेक और सन्तुलन खो बैठे कि संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे स्थान में, एक किसी बड़े देश के विदेश मन्त्री के लिए इतना भद्दा शब्द प्रयुक्त करना वर्ज़ है, वह यह भी भूल गये! एक विदेश मन्त्री को अपमानित करने में उन्हें अपने अभिमान की पुष्टि होती नज़र आई — चाहे इसका परिणाम इसके विपरीत ही हुआ। काश्मीर की तो बात अलग रही, बंगला-देश पाकिस्तान से अलग हो गया। वहाँ पाकिस्तान की सेनाओं को हथियार डालने पड़े। फिर स्वयं भुट्टो जी को शिमला में भारत से समझौता करना पड़ा और आख़िर उनका जीवनान्त किस दुःखान्त रीति से हुआ, यह इतिहास सबको ज्ञात है। इतिहास के पन्ने ऐसे कितने ही जीवन वृत्तान्तों से भरे पड़े हैं। हिटलर, जो किसी समय अपने सैन्य बल के आधार पर सारे विश्व या कम-से-कम सारे यूरोप पर अपनी प्रभु-सत्ता स्थापन करने के स्वप्न देखता था, न केवल अपने देश को भी अपने हाथ से गंवा बैठा बल्कि अपनी जान को बचाने के लिए परेशान हो गया और आख़िर उसने अपनी स्वयं हत्या करके अभिमान का परिणाम देख लिया परन्तु तब क्या हो सकता था?

फिर भी इतिहास के इन वृत्तान्तों से मनुष्य शिक्षा नहीं लेता। कोई अपने सौन्दर्य पर अभिमान करता है तो कोई अपने यौवन पर; कोई अपने धन के कारण से इतराता है तो कोई अपने पद के नशे में चूर है; कोई स्वयं को बहुत उच्चकोटि का विद्वान मानकर मदहोश है तो कोई स्वयं कोई बड़ा लेखक या वक्ता मानकर अपने स्थान को बहुत ऊंचा मानता है। यद्यपि दुनिया में हर क्षेत्र में एक से एक प्रतिभाशाली तथा कुशल व्यक्ति पड़े हैं और अतीत में ही विद्या में निष्णात एक से एक बढ़कर चमत्कारी व्यक्ति हुए हैं तथापि आज "चूहे को मिली हल्दी की गाँठ तो उसने सोचा, मैं भी एक पंसारी हूँ" — इस उक्ति के अनुसार मनुष्य गर्वान्वित होकर अपने पतन का खुद ही खड्डा खोदता है। चार दिन की चाँदनी फिर अंधेरी रात। वह यह भूल जाता है कि मेरी चाँदनी तो सूर्य से ली हुई रोशनी है और कि मेरी तो स्वयं ही कलाएं घटती-बढ़ती हैं। इस विस्मृति के कारण अभिमान अन्य सभी विकारों को भी जन्म देने वाला हो जाता है।

इसलिए कल्याणकारी बाबा ने हमें कहा है कि स्वयं को १. सेवाधारी, २. निमित्त और ३. प्रन्यासी (Trustee, ट्रस्टी) समझो और इन युक्तियों से निरहंकारी बनो।

परन्तु बाबा ने यह भी कह दिया है कि निरहंकारी बनने के लिए निराकारी बनना आवश्यक है। जितना-जितना हम निराकारी बनेंगे अर्थात् आत्मस्थित रहेंगे, उतना-उतना हम निर्विकारी बनेंगे और निरहंकारी भी। इसी तरह जितना-जितना हम निरहंकारी बनेंगे

उतना-उतना हमें निराकारी और निर्विकारी बनने में भी आसानी होगी। बाबा ने हमें समझाया है कि यह तन काम विकार से पैदा हुआ-हुआ, तमोगुणी प्रकृति द्वारा निर्मित, जरा, व्याधि आधीन और मरण धर्मा है, इसलिए इस पुरानी जूती का गर्व, इस कब्र आखिल, क्लेश-प्राप्त काया का अभिमान, इस लोष्ठवत शरीर के सौन्दर्य और बल के प्रति भ्रान्ति और आसक्ति नितान्त मिथ्या है। इसी प्रकार इस कलियुगी धन, जिस पर चोर-चक्कर, इनकम टैक्स और सरकार, भाई-बन्धु और परिवार, सबकी ईर्ष्या या इच्छा की निगाहें लगी हैं और जो भी चंचल प्रकृति-मात्र है, का अभिमान भी स्वयं को भूल के कूप में डालने के समान है। और, आज वास्तविक ज्ञान तो किसी को है ही नहीं बल्कि पोथियों की पंडिताई से तो मनुष्य की बुद्धि ही पलीद (भ्रष्ट) हो गई है। अतः इन सब प्रकार के अभिमानों को छोड़कर एक परमात्मा ही की शरण लो और उसका बालक बनकर – एक प्रभु के सिवा मेरा कुछ भी नहीं – इस मस्ती में रहना ही जीवन को सफल बनाना है।



मैत्री कृपा

हरेक व्यक्ति अपने जीवन में कुछ लोगों को अपना 'मित्र' मान कर व्यवहार करता है। वह समझता है कि ये व्यक्ति मेरे हितैषी हैं, स्नेही हैं और सहयोगी भी हैं। वह मानता है कि वे उसके एक प्रकार से संरक्षक भी हैं और किसी ओर से आघात होने पर वे उसकी संभाल करने वाले, सुधि लेने वाले तथा कठिनाई से पार करने में सहायता करने वाले भी हैं।

ऐसा समझ कर वह भी उनसे अपनेपन से तथा निकटता एवं स्नेह के नाते से मेलजोल रखता है। वह उन्हें अपने मन की कई ऐसी बातें भी सुनाता है जो वह अन्य लोगों को नहीं बताता। इस प्रकार, वे 'मित्र' उसके स्वभाव-संस्कार को, उसके गुण-अवगुण को और उसकी कमज़ोरी और अच्छाई को जानते हैं तथा उसके भीतरी भेदों से भी परिचित होते हैं। चूंकि वे एक-दूसरे के यहाँ आते-जाते, उठते-बैठते और हाल लेते-देते हैं, इसलिए अन्य लोगों के साथ और आपस में जो उनका लेन-देन है, उसमें अन्तर होता है; वे एक-दूसरे को खुल कर बात बता सकते हैं; अन्य लोगों से वे इस प्रकार स्पष्ट, सीधा और खुल कर शायद बात नहीं कर सकते। वे परस्पर जिस आत्मीयता से परामर्श कर सकते हैं, दूसरों से वे वैसा नहीं कर सकते।

सुझाव और बदलाव

स्नेह, हित-भाव और घनिष्ठता के कारण, एक मित्र दूसरे को सीधे-साधे तरीके से तथा स्पष्ट शब्दों में सुझाव भी दे दिया करता है और यदि वह कोई ऐसी त्रुटि, कमज़ोरी या बुराई उसमें देखता है जिससे कि उसको हानि पहुंचने की सम्भावना हो तो वह मित्र उसे सावधानी, चेतावनी, राय-सलाह और समझ भी देता है। वह उसे ठीक रीति से चलने और सुधरने की बात भी कह दिया करता है।

ऐसा ही कार्य किसी संस्था के सम्बन्ध में, संस्था के हितैषी और मित्र किया करते हैं। वे भी यदि संस्था में कोई कमी या खराबी आते हुए देखते हैं, अथवा लोगों से उस बारे में चर्चा सुनते हैं तो वे भी संस्था के संचालकों या व्यवस्थापकों को हित-भावना से सतर्क और सचेत करते या समाचार देते हैं ताकि यदि सुधार वांछित हो तो किया जा सके और कोई बदलाव लाने में बेहतरी हो तो उसे लाया जा सके।

चाहे कोई व्यक्ति अपने मित्र व्यक्ति को शुभ-चिंतक होने के नाते से सचेत करे और

चाहे व्यक्ति किसी संस्था को जन-चर्चा से अवगत करे तथा सतर्क रहने की बात कहे, भलाई के उद्देश्य से कही गयी वह बात उस मित्र की, मित्र व्यक्ति पर या संस्था पर "मैत्री कृपा" ही होती है। उस राय को बुरा मानना उस व्यक्ति या संस्था के लिए अहितकर होता है। अपने मित्र की बात सुन लेने में तो कोई हर्ज नहीं है। यदि वह बात ठीक है तो उसे माना जा सकता है और यदि वह ठीक नहीं है तो उसे छोड़ा भी जा सकता है परन्तु उस राय के विषय में यह दृष्टिकोण तो होना ही चाहिए कि यह राय किसी हितैषी ने मित्र-भाव से दी है। किसी कारण के बिना ही उसे कभी भी सुनने को भी तैयार न होना तो गलत ही है। संसार में किसी शक्तिशाली व्यक्ति की प्रशंसा करके उसके निकट बने रहने की चेष्टा करने वाले तथा किसी प्रशंसित संस्था की महिमा कर के उसके कर्णधारों के सामने आने का प्रयत्न करने वाले तो बहुत लोग होते हैं परन्तु वास्तविकता का दर्शन कराने वाले, वस्तु-स्थिति का वर्णन करने वाले तथा सतर्क एवं सचेत करने का साहस करने वाले व्यक्ति तो कम ही हुआ करते हैं।

मैत्री कृपा को अपमान या हस्तक्षेप समझने की ग़लतफ़हमी

उसका एक मुख्य कारण तो यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने मित्र को बताता है कि उसमें फलां त्रुटि है या उसका अमुक व्यवहार गलत है और उससे स्वयं उसे हानि पहुंचने की सम्भावना है, तो वह मित्र उस बात को अपने लिए कभी-कभी अपमान मान जाता है। वह सोचता है आज यह मित्र आलोचना अथवा नुक्ताचीनी करने लगा है। चूंकि उसे अपनी प्रशंसा सुनने की इतनी आदत पड़ चुकी होती है और वह स्वयं को बहुत गुणवान मानता है, वह अपने मित्र से सदा यही आशा लिए रहता है कि वह मित्र उसकी स्तुति में ही दो शब्द कहेगा। वह 'प्रशंसा' को तथा 'मित्रता' को पर्यायवाची मान बैठता है। अगर उसका कोई मित्र उसे कहे कि – "आपकी सारी बात सुनने के बाद मुझे लगता है कि फलां व्यक्ति से जो आपका झगड़ा चल रहा है, उसमें फलां गलती आपकी भी है...", तो वह अपने मित्र से बिगड़ जाता है। वह झड़प कर कहता है – "अच्छा, आज आप भी ऐसा कहने लगे हैं! आप भी उस व्यक्ति के साथ मिल गये हैं। आप भी मुझे गलत बताते हैं। क्या आप ने मेरी बात समझी है? आप बिना सोचे-समझे और स्थिति का अनुभव किये बिना ही मुझे गलत बता रहे हैं!..."

अपने मित्र से सदा समर्थन मिलने की जो उसकी आशा है, अपनी प्रशंसा ही सुनने की जो उसकी इच्छा है, वह उसे ऐसी स्थिति में डाल देती है कि वह इसके इलावा अन्य

किसी प्रकार की बात सुन नहीं सकता। *प्रतिदिन प्रशंसा के गीत सुनते-सुनते उसे ऐसी आदत पड़ जाती है कि अब यदि उसे कोई व्यक्ति, किसी नियम या मर्यादा के पालन की बात कहे तो वह समझता है कि "अब यह व्यक्ति मेरी इज्ज़त नहीं करता; यह विद्रोही बन गया है; या तो यह विरोधियों से मिल गया है या यह किसी कारण से अब पक्षपात करने लगा है"*

उसे ऐसा भी विचार आता है कि कमी-कमज़ोरी बताने वाला व्यक्ति अब किसी कारण से शायद मानसिक रूप से दूर हो गया है; उसका स्नेह कम हो गया है और उसकी मित्रता में कुछ अन्तर पड़ गया है। उसके मन में यह भी ख्याल आता है कि मर्यादा या नियमों की पालना करने की बात बताने वाला व्यक्ति अब उसकी निजी बातों में दखल देने लगा है। वह यह मान कर चलता है कि उसका 'मित्र' वह है जो उसकी "हाँ" में "हाँ" मिलाता है। यदि वह दिन में कहे कि अब रात है, तो वह मित्र भी कहेगा कि "हाँ साहिब, अब तो रात ही है; स्पष्ट ही दिख रहा है कि अब रात है।" अत: अब जब वह 'मित्र' के मुख से यह सुनता है कि "भाई, इसमें ग़लती आपकी भी है" तो उसे अचम्भा होता है, दु:ख भी अनुभव होता है और अपमान भी महसूस होता है। वह अपने मित्र से कहता है – "अच्छा, तो अब आप अपना काम कीजिए। आप आज से लेकर हमारी बातों में हस्तक्षेप न किया कीजिए। आप कौन होते हैं हमारी ग़लती बताने वाले? क्या हम बुद्धू हैं? क्या हमें पता नहीं है कि हम में क्या अच्छाई है और क्या बुराई? आप को किसने ये जिम्मेदारी दी है कि आप हमें बतायें कि हम स्वयं में फलां सुधार करें? आप ने यह अनाधिकार चेष्टा की कैसे?..." इस प्रकार वह उस पर टूट पड़ता है और न आव देखता है न ताव, अपने मित्र पर ही प्रश्नों की बौछार और शब्दों की झाड़ लगा देता है और कहता है – "आप इस प्रकार नकारात्मक न सोचा कीजिए। खाहमखाह दूसरे की बुराइयों में झांकना ठीक नहीं है। आप पहले स्वयं को सुधारिये। हमारे पास तो आप की कमियों की अच्छी-खासी लिस्ट है। आप कहें तो हम आप को बतायें; वह तो ज्योतिषियों द्वारा बनाई गई जन्मपत्री या टेवे से भी बहुत लम्बी है...।"

ऊपर हम ने किसी एक मित्र द्वारा दूसरे मित्र को सावधानी देने की बात कही है। किसी संस्था को जब कोई मित्र हित-भाव से यह बताता है कि संस्था के स्थापक ने जो मर्यादाएं और नियम बनाये हैं, उनमें अब फलां कमी या ढीलापन आता जा रहा है तो उस संस्था के कुछ व्यक्ति यह मान कर कि यह उन पर नुक्ताचीनी की जा रही है, उस

बात को बुरा मान जाते हैं और उस मित्र से नाराज़ हो कर कहते हैं कि – "यह तो आप की अनाधिकार चेष्टा है। आप तो किसी से मन-मुटाव के कारण ऐसा कह रहे हैं।" वे सोचते हैं कि "यह आलोचना फलां-फलां व्यक्ति के प्रति है जोकि उनके 'मित्र' हैं; अतः यह अनुचित हैं" उनको न्याय-संगत और हित की बात भी अखड़ती है क्योंकि वे उसे साक्षी हो कर नहीं देखते और यह भूल जाते हैं कि यह किसी शुभचिंतक द्वारा कही हुई बात है जिसे 'रात' को 'दिन' कहने की आदत नहीं है। उन्हें ऐसा नहीं लगता कि उनका ध्यान आवश्यक मर्यादाओं की ओर खिंचवाया जा रहा है जो उस संस्था की आचार-संहिता या व्यवहार-प्राणाली का ज़रूरी हिस्सा है और अपने लक्ष्य की ओर धान बनाये रखने के उद्देश्य से कही जा रही हैं।

हित-भाव से कही गयी बात के प्रति दृष्टिकोण, किसी संस्था के प्रति हित-भावना से कोई बात कही जाए तो हो सकता है वह किन्हीं विशेष व्यक्तियों के प्रति इशारा करती हो परन्तु वह वास्तव में तो एक शाश्वत नियम के पालन के महत्व को दर्शाती है। आज कोई एक व्यक्ति किसी मर्यादा का पालन न करता हो कल वह पालन करना शुरू भी कर सकता है परन्तु कोई दूसरा व्यक्ति, उत्तम मर्यादा में ढीलापन ला सकता है। अतः किन्हीं विशेष व्यक्तियों की ओर यदि कोई सुझाव इंगित करता भी हो तो उसका मूल्य शाश्वत ही होता है।

किसी व्यक्ति को भी जब उसका कोई मित्र यह सावधान या सतर्क करता हो तो उस व्यक्ति को भी सोचना चाहिए कि यदि मित्र की बात आज मुझ पर लागू नहीं भी होती तो भी भविष्य के लिए तो मुझे पहले ही से सचेत कर ही रही है। तब भी तो यह "मैत्री कृपा" ही है। अतः उसे कहना चाहिए – "जहाँ तक मैं सोंचता हूँ, जो बात आप कह रहे हैं वह मुझ पर लागू नहीं होती परन्तु आज आपने जो-कुछ मित्र-भाव से कहा है, वह बात तो सिद्धान्त अथवा नियम ही की है; उस पर और अधिक ध्यान देने में तो लाभ ही है...।"

कई बार जब कोई व्यक्ति बार-बार बताने तथा समझाने पर भी मित्र की हितकारक बात को नहीं मानता और स्वयं में परिवर्तन नहीं लाता और इससे उसकी बहुत हानि होने की सम्भावना है, तब मित्र को तनिक तेज लहज़े में भी कोई बात कहनी पड़ती है। मित्र अपने मित्र के भले के लिए कभी-कभी नाराज़गी भी प्रगट करता है और कुछ कड़वे शब्दों में भी बोल उठता है। जैसे कोई स्नेही व्यक्ति अपने किसी मित्र के पांव में कांटा

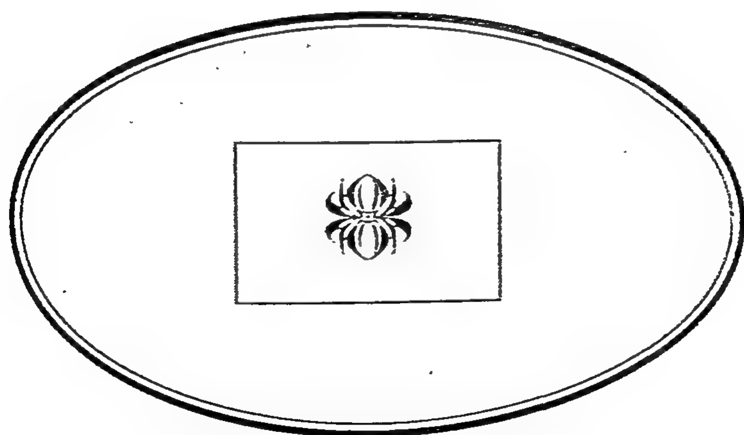
चुभने पर उस में सुई चुभा कर पीड़ा देने का निमित्त बनता है, यद्यपि उसका उद्देश्य यह होता है कि वह अपने मित्र के पांव से कांटा निकाल दे ताकि उसके पांव में पस (Puss) न हो जाए और वह अधिक कष्ट न पायें, वैसे ही किसी मित्र की बात को सुन कर दूसरा व्यक्ति कह उठता है – "बस करो, मुझे तुम्हारी बात अच्छी नहीं लगती; वह सूई की तरह चुभ रही है।" परन्तु उसके मित्र के कथन के पीछे भी भाव तो यही होता है कि उस व्यक्ति की बुरी आदत रूपी कांटा सदा के लिए निकल जाए।

हाँ, सूई चुभाने वाले व्यक्ति के मन में चुभाव की भावना या दुःख देने का इरादा नहीं होना चाहिए और सूई पांव में डालने के साथ उसे पांव को सहलाना भी चाहिए या फूंक मार कर राहत भी देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, पहली कोशिश तो यही होनी चाहिए कि सूई चुभोने के बिना, हाथ से खींच कर ही कांटा निकाल दिया जाए।

अन्यश्च, किसी व्यक्ति या संस्था का ध्यान किसी आवश्यक एवं लाभदायक बात की ओर खिंचवाने से पहले उस व्यक्ति को पहले यह भी सोच लेना चाहिए कि उसका अपना तथा संस्था के उस व्यक्ति का स्थान या सम्बन्ध कैसा है। हरेक व्यक्ति ही यदि सुझाव और सुधार की बात कहने लगे तो न केवल वह अनावश्यक है बल्कि सुनने वाला भी उससे ऊब जाता है और वह बात उसे अखड़ती-सी है और इसलिए सुधार का उद्देश्य पूरा नहीं होता। सुझाव की बात कहने वालों को चाहिए कि वे शिष्टता एवं सज्जनता से ही अपने मन्तव्य को व्यक्त करें और मंजुल भाषा में ही कहें जब तक कि स्थिति ऐसी न हो कि उसे किन्हीं जोरदार शब्दों में कहने की जरूरत हो।

फिर, जो मित्र हैं, वरिष्ठ हैं, और जानकार हैं, वे ही यदि मैत्री कृपा नहीं करेंगे तो उनके भी उत्तरदायित्व के निर्वाह में कमी रह जायेगी। यदि संसार में केवल प्रशंसक तथा 'हाँ' में 'हाँ' मिलाने वाले ही रह जायेंगे और भलाई की बात कोई बताने वाला ही नहीं बचेगा तो इस समाज का भला कैसे होगा? यदि चौकीदार चोर को चोरी करते हुए देख कर भी आवाज नहीं लगायेगा, सुधारक हालत को बिगड़ता देख कर भी कोई अच्छी बात नहीं बतायेगा, डॉक्टर रोगियों को रोग से पीड़ित देखकर भी एक ओर खड़ा रहेगा तब तो जड़ता ही संसार को अपनी पकड़ में ले लेगी। यदि किसी देश में 'गलत' को 'गलत' बताने वाला ही न रहे तो मानिए कि वहाँ के लोग मानसिक तौर पर नपुंसक हैं, कायर हैं और इंसान के लिबास में भेड़ें हैं। मानिये कि वहाँ सभी गूंगे हैं। नियम यह है कि कम बोलो, धीरे बोलो, मीठा बोलो परन्तु, बोलो तो सही! अन्तरात्मा का मुख खोलो

तो सही। वीर बनो, धीर बनो, महान विचारों में अमीर बनो। आपसी सम्बन्धों में खाण्ड-खीर बनो परन्तु बुराई को नष्ट करने वाला एक तीर भी बनो। बड़ों का सम्मान करो, किसी को न परेशान करो, एक अच्छे इन्सान बनो, दो दिन के मेहमान बनो, परन्तु विचारों से न वीरान बनो! कुछ अच्छे विचार दे कर दूसरों को भी गति दो; उनका भी कल्याण करो। प्रभु के गुण गाओ, आत्मा में बल लाओ, बड़ों के सामने झुक जाओ, पर बुराई के सामने ठन जाओ। सच्ची बात मधुरतापूर्वक बताने में मत घबराओ – यह मित्र भाव निभाओ और ''मैत्री कृपा'' का कार्य कर पाओ। हाँ, स्वयं मर्यादाओं और नियमों का पालन करो, वरिष्ठजन का सम्मान करो परन्तु आत्मिक बल को प्राप्त करते हुए मधुरतापूर्वक सत्यता, न्याय और श्रेष्ठ मूल्यों की नींव पक्की करो कि शीघ्र ही सतयुग आये।



चर्चा दिव्य गुणों की

गम्भीरता से विचार करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि वास्तव में गुणों की धारणा में ही हमारे आध्यात्मिक पुरुषार्थ की सार्थकता अथवा सफलता है। अत: जिस मनुष्य के जीवन में जितने अधिक गुण हैं और उनके गुणों की भी जितनी अधिक कलायें हैं, वही मनुष्य वास्तव में आध्यात्मिक पुरुषार्थ में दूसरों से उतना ही आगे है।

फिर,गुण भी अनेक प्रकार के हैं। यों हम आम बोलचाल में तो सभी गुणों को 'दैवी गुण' कह देते हैं परन्तु वास्तव में उनमें से कुछ गुण दैवी न होकर **'ईश्वरीय गुण'** हैं और कुछ **'सद्‌गुण'** अथवा **'मानवी गुण'** हैं। ईश्वरीय गुण इन सभी में से अधिक उच्च हैं और विशेष कल्याणकारी हैं। उनकी धारणा से ही एक नये, सतयुगी, दैवी समाज की स्थापना होती है। अत: जबकि हम सतयुग की स्थापना के कार्य में लगे हैं तो हमें गुणों के इस भेद को जानकर ईश्वरीय गुणों की धारणा पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

मानवी गुण, दैवी गुण और ईश्वरीय गुण में अन्तर

इस भेद को स्पष्ट करने के लिए कुछेक गुणों को उदाहरण के रूप में सामने रखना श्रेयस्कर होगा। इसी उद्‌देश्य से हम 'वीरता' ही पर विचार कर लेते हैं। यह तो निश्चित है कि केवल वही मनुष्य 'वीर' हो सकता है जो **अभय** हो। यह तो मानना पड़ेगा कि मृत्यु को सामने देखते हुए भी उससे न डरना एक बहुत ही बड़ा गुण है। देश के लिए अपनी जान देने को तैयार हो जाना एक बहुत ही सराहनीय **साहस** है। इसी प्रकार, कदम-कदम पर मार्ग की कठिनाइयों, संकटों एवं खतरों का सामना करते हुए हिमालय की चोटी की ओर बढ़ते जाना भी अदम्य साहस, प्रबल उत्साह और निर्भय स्थिति का प्रतीक है। जिन मनुष्यों ने पहले-पहले अन्तरिक्ष-यान में चाँद पर जाना स्वीकार किया, उन्होंने कितने भीषण खतरों का सामना करना स्वीकार किया। अत: निश्चय ही 'वीरता', 'निर्भयता' अथवा 'साहस' महान् मानवी गुण है। परन्तु हम इसे 'दिव्य' गुण नहीं कहेंगे क्योंकि इस गुण को धारण करने वाले व्यक्ति 'देवता' नहीं हैं, न ही वे इसकी धारणा से देवता बन जाते हैं। पुनश्च, सतयुग के देवताओं में भी यह गुण इस रूप में नहीं होता क्योंकि उनके सामने भय की कोई स्थिति ही उपस्थित नहीं होती; ऐसी वीरता प्रदर्शित करने का कोई ही उनके सामने उपस्थित नहीं होता। फिर हम देखते हैं कि यद्यपि वीरता एक

मूल्यवान मानवीय गुण है तथापि इस गुण की धारणा से किसी नये समाज की स्थापना नहीं हुई। वीरता का गुण धारण अथवा प्रदर्शित करके व्यक्तियों, जातियों अथवा देशों में रक्तपात हुआ है, शीत युद्ध छिड़ा है अथवा होड़ लगी है। वे अपने वीरों की महिमा करके दूसरों की उकसाहट के निमित्त बने हैं और जोश में अथवा अहम्भाव से अभिभूत हुए हैं। कभी तो वीरता के नशे में वे धीरज को, सहनशीलता को, अहिंसा को अथवा भ्रातृत्व को खो बैठे हैं और कभी वे दूसरों को दीन मानकर मिथ्या गर्व के वशीभूत हुए हैं। एक वीर से दूसरे वीर ने टक्कर लेने की कोशिश की है अथवा उसका रेकार्ड तोड़ने ही का यत्न किया है। उनके मन में खुशी की बजाय ईर्ष्या ने स्थान लिया है और एक ने दूसरे की वीरता को अपने मान-अपमान का प्रश्न बना लिया है। वह सब न भी हो तो ऐसे वीरों की गाथायें कोई देव-गाथायें नहीं हैं। उनका यशोगान कोई नहीं है। यद्यपि कवियों ने देवों को भी अपनी कृतियों में इस गुण से अलंकृत किया है तथापि हम जानते हैं कि वास्तव में अहिंसक देवताओं के गुण क्या होते हैं।

गुणों की ईश्वरीय व्याख्या

इसी 'वीरता' नामक गुण की नई व्याख्या देकर अथवा इसके प्रति नया दृष्टिकोण देकर शिवबाबा ने इसे सद्गुण के रूप में हमारे सामने रखा है। जब हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष आदि का सामना करते हैं और इन पर विजय प्राप्त करते हैं, तब ही गुण 'सद्गुण' बन जाता है। जब हम आध्यात्मिक यात्रा के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचने के लिए इन विकारों [illegible] की कठिनाइयों को पार करते हैं तो हम सात्विक रूप में 'महावीर' होते हैं। [illegible] 'अभय' [illegible] है। वह लोकनिंदा के भय को और [illegible] के भय को [illegible] करता है। उसकी यह [illegible] है। वह विरोधी मन वालों के [illegible] यातनाओं का, उन द्वारा किये गए [illegible] से मुकाबला करता है।

स्थूल रूप में [illegible] कि [illegible] वो सभी प्रकार की [illegible] पता नहीं सफल [illegible] — [illegible] प्रश्न भी योगी के [illegible]

महावीर के रूप में आध्यात्मिक शक्ति की विजय के निश्चय में स्थित होता है। अत: उसका साहस तो इतना महान् होता है कि वह एक अकेला असंख्य विघ्नों से जूझने को उद्यत होता है और भविष्य के खटके तथा वर्तमान की हलचल में भी वह अंगद के समान अटल होकर खड़ा हो जाता है। योद्धा तो रण-क्षेत्र में मृत्यु से न डरते हुए स्वयं को मृत्यु से बचाता है परन्तु आध्यात्मिक पुरुषार्थ वाला महावीर तो कदम-कदम पर मरने अथवा 'मरजीवा' बनने को तैयार रहता है। इस प्रकार की वीरता को आप चाहें तो इस अर्थ में दिव्य गुण कह सकते हैं क्योंकि इससे मनुष्य का जीवन दिव्य बनता है और वह भविष्य में देवता बनता है।

दूसरा उदाहरण

इसी चर्चा के अधिक स्पष्टीकरण के लिए अब एक और उदाहरण पर विचार कीजिए। गीता में गुणों की चर्चा करते हुए अभय के अतिरिक्त दान को भी दैवी गुणों में गिना गया है। परन्तु हम जानते हैं कि देवताओं के लोक में तो इस गुण की अभिव्यक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वहाँ तो कोई दुखी और दरिद्र होता ही नहीं कि उसे 'दान' दिया जाए। दान तो एक मानवोचित गुण है क्योंकि इस मनुष्य लोक में ही दीन-दुखी, असहाय और असमर्थ लोग होते हैं जिन पर दया करने और जिन्हें दान देने की आवश्यकता है। फिर, जिस रूप में मनुष्य पिछले दो युगों से दान-पुण्य करते आये हैं, उससे तो नये, सतयुगी एवं दैवी समाज की पुनर्स्थापना हुई नहीं बल्कि 'शोषक' और 'शोषित' दो वर्ग बने रहे हैं, अथवा समाज 'दानी' और 'दरिद्र' – इन दो भागों में विभाजित रहा है। ऐसे समाज में जो अधिक दान करता हो, उसे लोग 'दानवीर' तो कहते रहे हैं परन्तु इस प्रकार के दान से और ऐसी वीरता से संसार स्वर्ग तो बना नहीं।

अब शिव बाबा ने इस गुण की भी हमें नई व्याख्या दी है। उन्होंने हमें समझाया है कि ज्ञान, गुण और योग का दान ही ऐसा दान है जिससे कि सतयुग की स्थापना हो सकती है क्योंकि ऐसा दान लेने वाला स्वयं भी दाता बन जाता है, ऊंचा उठ जाता है, महान् बन जाता है और देव-तुल्य हो जाता है। ऐसा दान देने वाले का अपना ग्रहण भी मिट जाता है और लेने वाला भी दीन-हीन नहीं बना रहता बल्कि वह ऐसा समर्थ बन जाता है कि दूसरों को भी ज्ञान-धन देने के योग्य हो जाता है। ऐसा दान देने वाले के मन में भी आत्म-ग्लानि नहीं होती क्योंकि यह धन ईश्वर का दिया हुआ है; यह किसी की निजी जायदाद नहीं है। यह दान लेने वाला सदा के लिए मांगना बन्द कर देता

है और दान देने वाला भी स्वयं को 'दाता' नहीं मानता बल्कि स्वयं को निमित्त-मात्र मानता है यों आम बोलचाल में लोग सहायता देने के कर्म को 'योगदान' अथवा 'सहयोग' कहते हैं परन्तु वे योग का दान तो देते नहीं, इसलिए उनके संदर्भ में 'योग दान' अथवा 'सहयोग' शब्द में 'योग' शब्द निरर्थक ही रह जाता है। परन्तु ये दोनों शब्द (योगदान और सहयोग) इस बात के सूचक हैं कि वास्तव में 'योग' का दान अथवा योग द्वारा सहायता ही विशेष रूप से सहयोग है। इस प्रकार के दान अथवा सहयोग से ही मनुष्यात्मा का तथा विश्व का कल्याण होता है और सतयुग की स्थापना होती है। ऐसा दान सद्गुण है और ईश्वरीय गुण भी है क्योंकि जब परमपिता परमात्मा अवतरित होते हैं तो वे ऐसा दान देते हैं और इस अर्थ में ही दया या करूणा करते हैं वे इस अर्थ में ही हमें 'महादानी', 'वरदानी' या 'विश्वकल्याणी' बनने के लिए कहते हैं। इसी प्रकार से 'सेवा','यज्ञ', 'त्याग', इत्यादि गुणों की भी शिव बाबा ने हमें नई व्याख्या दी है।

कुछेक अन्य उदाहरण :

अब सहनशीलता नामक गुण पर विचार कीजिए। सतयुग में देवी-देवताओं को कुछ भी सहन नहीं करना पड़ता क्योंकि उनका न विरोध होता है न ही उनके सामने कोई विघ्न होते हैं। अतः यह गुण भी एक सद्गुण ही है। यद्यपि इस गुण को धारण करने वाला मनुष्य 'देवता पद' की ओर बढ़ता है।

हाँ, **हर्षितमुखता** एक सद्गुण भी है और दैवी गुण भी। इसी प्रकार, **सन्तुष्टता** भी सद्गुण और दैवीगुण दोनों है। किन्तु देवताओं की हर्षितमुखता एवं सन्तुष्टता स्वाभाविक है जबकि अब संगमयुग में हम इस गुण को ऐसी परिस्थितियों में भी धारण करने का पुरुषार्थ करते हैं जो परिस्थितियाँ इसकी विरोधी अथवा बाधक हैं। सन्तुष्टता के कारण, आधार एवं स्वरूप में अन्तर है।

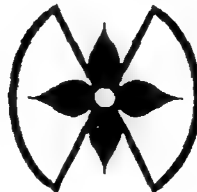
इसी प्रकार, **अनासक्ति, निरहंकारिता या निर्विकारिता** दैवी गुण भी हैं और सद्गुण भी। साथ ही साथ ये ईश्वरीय गुण भी हैं क्योंकि ईश्वर सदा निर्विकार, नम्रचित्त और निरहंकार है।

संक्षेप में हमारे कहने का भाव यह है कि हम मानवीय गुणों की भी ईश्वरीय व्याख्या को जानकर उन्हें सद्गुणों या ईश्वरीय गुणों के रूप में धारण करें, तभी हमारा आत्मिक उत्कर्ष हो सकेगा और तभी हम दूसरों के कल्याण के लिए भी निमित्त

सकेंगे और सतयुगी सृष्टि की पुनः स्थापना के कार्य को कर सकेंगे।

विशेष ईश्वरीय गुण

इस पर भी विशेष तौर पर ध्यान देने के योग्य बात यह है कि **करुणा** अथवा दूसरों के कल्याण की भावना ही ऐसा मुख्य गुण है जिसके साथ लगकर दूसरे गुण स्वतः ही आना शुरू कर देते हैं। जिसमें करुणा हो, वह दानी और महादानी भी होता है और सहयोगी भी। करुणाशील ही त्यागी भी होता है और सेवा-रत भी। फिर जिसमें त्याग और सेवा-भाव हो वह व्यक्ति नष्टोमोहः भी हो ही जाता है। ऐसे व्यक्ति के पास व्यर्थ समय, व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ कर्म करने का समय कहाँ? करुणा रूप ईश्वरीय गुण को धारण करने वाला व्यक्ति ईर्ष्या-द्वेष और निंदा-चुगली से बचकर रहता है। उसे न मान की इच्छा होती है न पद या शान की; उसका मन तो स्वभाव से ही दूसरों के प्रति प्रेम और सेवा-भाव से प्लावित हो उठता है। ऐसे व्यक्ति में सहज प्रेम का होना स्वाभाविक है। ऐसे व्यक्ति का न किसी से वैर होता है, न किसी से शत्रुता। तब निश्चय ही वह न किसी को दुःख देता है न लेता है। वह तो दुःख मिटाने और सुख देने के ईश्वरीय कार्य को ही अपना कार्य मानकर उसी में लगा रहता है। ऐसा ही व्यक्ति प्रभु-पसन्द, लोक-पसन्द और मन-पसन्द बन सकता है। अतः रहमदिल, करुणाशील अथवा महादानी-वरदानी बनना ही सही पुरुषार्थ का पथ अपनाना है।



महत्वाकांक्षा

प्राय: हरेक व्यक्ति को अपने महत्व की 'अनुचित' या 'उचित' आकांक्षा होती है। वह चाहता है कि लोग उसके भी महत्व अथवा मूल्य को समझें और मानें और उसको पूछें, उसे पूरी बात बताएं, उससे परामर्श लें, उससे आदरपूर्वक व्यवहार करें, उसकी बात को मूल्य दें और मानें तथा उसका जैसा व्यक्तित्व या कार्य-क्लाप है, उसके विषय में कुछ सराहना के शब्द कहें। वह समझता है कि उसका भी महत्वपूर्ण अस्तित्व है और लोग उसे कोई स्थान दें, कुछ महत्वपूर्ण कार्य या रोल (Role) दें और उसके स्वमान को ठेस न पहुंचायें।

वैसे चाहे कोई व्यक्ति देवताओं की वन्दना-अर्चना करते हुए कहे कि – " हे देव, मैं तो आपके चरणों का दास हूँ" अथवा "हे देव, मैं आपके चरणों की धूल से भी नीचे हूँ" परन्तु दूसरों को तो वह ललकार कर कहता है कि – "आपने मुझे क्या समझ रखा है? मैं किसी से भी कम नहीं हूँ...।"

यों हरेक में स्वमानपूर्वक जीवन जीने की इच्छा तो स्वाभाविक ही है। हरेक की अपनी आदिम (Original) अथवा प्रारंभिक अवस्था स्वर्णिम (Golden aged) अथवा उच्च रही है, अत: उसमें उस अवस्था की सुषुप्त संस्मृतियाँ उसे अपने गौरव, महत्व या स्वर्णिम अतीत की ओर कुछ-न-कुछ जगाए रखती हैं। वे स्मृतियाँ एक दृष्टिकोण से लाभदायक भी हैं क्योंकि आध्यात्मिक ज्ञान भी आत्मा को उसकी गौरव गाथा अथवा उसकी प्रारंभिक महत्वपूर्ण स्थिति की सोयी हुई याद को जगाकर ही तो उसके जीवन में फिर से परिवर्तन या श्रेष्ठता की प्रक्रिया को प्रेरित करता है। परन्तु देखने की बात यह है कि वर्तमान समय तो किसी भी आत्मा की वह आदिम स्वर्णिम अवस्था नहीं है। अत: अब जबकि हरेक आत्मा अपनी निम्नतम अवस्था में है और उसका अन्य आत्माओं से कर्मों का कड़ा हिसाब-किताब भी है, तब यदि कई लोग उसे महत्व नहीं देते तो यह उपेक्षा सम्भावनीय (Possible) है।

फिर यदि हमारी महत्वाकांक्षा को ठेस इसलिए लगती है कि लोग हमें पहचानते नहीं और हमें मानते भी नहीं, तब भी यह कोई ऐसी बुरा मानने वाली बात तो है नहीं। आज विश्व में करोड़ों लोग ऐसे हैं जो कि परमात्मा को भी नहीं मानते, न जानते हैं और न उसके बारे में चर्चा को ही महत्व देते हैं; हमें यदि लोग नहीं मानते तो इसमें आश्चर्य,

चिन्ता या दु:ख की क्या बात है? यदि लोग हमें कुछ नहीं समझते तो वे भगवान को भी तो नहीं समझते! उनकी न-समझी से हम क्यों बे-समझ बनें और अपने महत्व को जतलाने की उधेड़-बुन में समय गंवाये?

यदि हम अपने महत्व से लोगों को परिचित कराने के लिए या अपने महत्व से स्वयं प्रभावित होकर दूसरों को प्रभावित करने के लिए अपनी ही वीर-गाथा सुनाने लगें, अपना राग अलापने लगें और आत्म-प्रशंसा ही के स्वर मुखरित करने लगें, तब यह तो गोया हम आत्म-श्लाघा या अभिमान की बीमारी में मुबलता हो जायेंगे। क्या अपनी सिफारिश खुद करना या अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना या अपनी प्रशंसा का स्वयं ढिंढोरा पीटना समझदार लोगों का कार्य माना जाता है?

अगर हम अपना गुण-गान तो नहीं करते परन्तु हम उन लोगों से नाराज़ रहते हैं जो कि हमारा या हमारे कार्य के प्रति महत्व की कुछ भी चर्चा नहीं करते, तब इसका अर्थ तो यह होता है कि हम अपने महत्व को स्वयं भी नहीं समझते। क्या हमारा महत्व दूसरों के वर्णन का मोहताज है? क्या गुलाब कभी अपनी प्रशंसा के लिए लोगों को ललकारता है या उनसे प्रशंसा की भीख मांगता है? क्या सौंदर्य या कलात्मक कृति कभी लोगों को मजबूर करते हैं कि उनके बारे में कुछ तो चिकना-चुपड़ा बोलें? बल्कि वास्तविकता तो यह है कि जितना अधिक सौंदर्य या गुण हो, उसे देखने वाले उतना आचम्भित हो कर मूक हो जाते हैं। और यदि वे बोलते भी हैं तो कहते हैं कि इसके सौंदर्य या गुण के वर्णन के लिए शब्दकोष में या हमारे पास वांछित शब्द नहीं हैं। अत: हमें चिन्ता इस बात की नहीं होनी चाहिए कि लोग हमारा महत्व नहीं जानते और हमारी प्रशंसा नहीं करते, बल्कि हमें शुभ-चिन्ता इस बात की होनी चाहिए कि हम महत्वपूर्ण अथवा महान बनें कैसे? यदि हम हीरे के समान चमकेंगे तो देखने वाले हमारी चमक से प्रसन्न हुए बिना रह ही नहीं सकेंगे। वे स्वत: ही कहेंगे कि "वह देखो , वहाँ सच्चा हीरा है! उसकी यह झिलमिल -झिलमिल कितनी सुन्दर है!" अथवा , "वह देखो, वह सच्चे सोने का कितना सुन्दर श्रृंगार है। सौंदर्य का तो वहाँ से झरना बह रहा है!" अत: *महत्व की आकांक्षा* होने की बजाए हम में *महत्व का आवास* होना चाहिए ताकि लोगों को उसका आभास हो। याचना (Desiring) नहीं, योग्यता (Deserving) होनी चाहिए। हमें अपने महत्व का बखान करने की आवश्यकता नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्वक गुणों की खान बनने की ज़रूरत है।

ऽच्छा, मान लीजिए कि कुछ लोग हमारे महत्व को जानते और मानते हैं और वे

हमारी प्रशंसा भी करते हैं। तो क्या हम प्रशंसा के जाल में कैद होना चाहते हैं? जैसे शिकारी दाना डाल कर पक्षियों को आकर्षित करता है और उस प्रलोभन में डाल कर उन्हें बिना गुलेल मारे पकड़ लेता है, क्या वैसे ही हम भी प्रशंसा के फन्दे को दावत का निमंत्रण समझ कर फंसना चाहते हैं? प्रशंसित व्यक्ति तो अपने प्रशंसकों के प्रति आभारी होता है; तो क्या हम भी आभारी होकर अपने ऊपर भार ढोना चाहते हैं? कितने ही लोग इस संसार में सच्चे मन से नहीं बल्कि बनावट से प्रशंसा करके मनुष्य को मदारी की डुगडुगी पर बन्दरिया की तरह नचाते हैं; तब क्या हम भी कुर्ता-पाजामा पहने हुए बंदरिया की भांति नचाए जाना चाहते हैं? क्या इसी डुगडुगी के नाद का नाम 'महत्त्व-वर्णन' और यह बंदरिया का खेल ही 'महत्व-दर्शन' है?

पुनश्च, यदि प्रशंसा ही की इच्छा है, तब तो पहले उसका पात्र बनने की ज़रूरत है। देवी-देवताओं की प्रशंसा के भजन भक्तजन स्वतः ही गाते हैं, एक दिन नहीं रोज़ गाते हैं और साज-सज्जा, ढोल-बाजे के साथ गाते हैं। देवी-देवता कभी गली-मुहल्ले में आ कर लोगों को यह कहते हुए नहीं सुने गए कि – "आप हमारी स्तुति के स्वर गाया करो।" मन्दिर में मूर्ति तो वरद मुद्रा में मुस्कान लिए प्रसन्न-सी खड़ी रहती है; वह आगे बढ़ कर सोए हुए भक्त-भक्तिन को यह तो नहीं कहती कि – "प्रिय भक्तों, तुम क्यों सोए हुए हो; क्या तुम हमारे महत्व को नहीं जानते? यदि जानते हो तो फिर जाग कर उच्च स्वर में गाते क्यों नहीं?" 'देवी' या 'देवता' तो उपाधि ही उनकी है जिन के मन में 'इच्छा' का लेश भी नहीं; परन्तु महत्व की आकांक्षा के पीछे तो आकांक्षाओं की लम्बी पंक्ति खड़ी है। हमें पहले तो यह देखना चाहिए कि हम नारद हैं या नारायण? यदि हम नारद हैं तो प्रशंसा की खड़ताल हमें बजानी पड़ेगी, वर्ना तो पहले नारायण बनना पड़ेगा।

"मेरा मान हो, मेरी शान हो, मेरा ही शासन-प्रशासन हो, लोगों में मेरा ही सिक्का चले" – यह जो इच्छा है, यह कच्चे धागे से नहीं बनी है। यह तो अनेक पक्के डोरों से बना हुआ मजबूत रस्सा है जिसने हमें बान्ध रखा है। कैदी की प्रशंसा कभी होती है क्या? मान-शान की मांग तो भिखारीपन की स्थिति की सूचक है और भिखारी की प्रशंसा कभी देखी है क्या? मान और शान, अर्थात् प्रसिद्धि से पहले तो सिद्धि की स्थिति की आवश्यकता है और सिद्धि से पहले साधना की ज़रूरत है। अतः साधना से पहले ही यह इच्छा करना कि मेरी आराधना हो या प्रसिद्धि एवं प्रशंसा हो, पक्के फल की बजाए कच्चे फल को की इच्छा अथवा यत्न करना है। अपने महत्व को सिक्के की तरह चलाने की कोशिश

उसके नशे में दूसरों पर रोब डालना, उन पर हावी होना या उन पर बड़ा चौधरी बन कर हुकूमत चलाने की चेष्टा करना तो संघर्ष की सोटी खाना है और अपने ही खिलाफ नारे लगाने के लिए लोगों को उक्साना है।

चलो यदि कुछ साधना के फलस्वरूप हमें प्रशंसा और प्रसिद्धि की प्राप्ति हो भी जाए, तब भी इस विधि से तो हमारी अभी की कमाई अभी ही खर्च हो जाएगी। यह तो दिहाड़ी (Daily wages) पर काम या मज़दूरी करने के समान है। आया तली में, खाया गली में — यह कोई महत्त्वशाली व्यक्तियों (VIPs) की पद्धति तो नहीं है। यह तो अभी की मेहनत को अभी ही खा जाने के तुल्य है। ऐसा व्यक्ति तो सदा खाली हाथ ही रहता है। ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा की भूख कभी मिटती नहीं; वह सदा भूखा और कंगाल बना ही रहता है। क्या हम ऐसी स्थिति चाहते हैं?

दूसरों से मिले हुए मान के टुकड़ों पर जीने की बजाए तो स्वमान में रहना चाहिए क्योंकि इसी में ही आत्म-निर्भरता है जबकि दूसरों से दूध के कटोरे की तरह मिला हुआ मान तो पराधीनता का परिचायक है। अथवा वह तो एक प्रकार का कर्ज़ (Loan) है या दान है। वह नज़राना तो तब माना जाएगा जब हम में भेंट पाने के योग्य गुण होंगे और हम ऐसे महान बनेंगे कि लोग हमसे भेंट करने के आकांक्षी होंगे। चूहेदानी के तख्ते पर जब चूहा जाकर बैठता है ताकि चूहेदानी में रखे हुए रोटी और अचार को पा सके तब तो वह तख्ता अन्दर को दब जाता है और चूहा धड़ाम से चूहेदानी के अन्दर जा फंसता है और फिर निकाले बिना निकल भी नहीं सकता। दूसरों द्वारा मान की अपेक्षा या आकांक्षा करना तो चूहेदानी के तख्ते पर बैठने के समान है। जो इस प्रकार के मान-शान की चाश्नी चख लेता है या ऐसे विचारों का अचार खा लेता है, वह तो चूहेदारी का चूहा है, चूहा।

अच्छा तो यह है कि हम स्वमान में रहें, क्योंकि स्वमान हमारी अपनी पूंजी है। स्वमान रूपी लक्ष्मी का पति बनने का हमें अधिकार है। "आत्मा (स्व) सर्वशक्तिमान परमात्मा की सन्तान है"— ऐसा मानना (मान) ही सच्चे स्वमान का सिंहासन है जिस पर बैठने से ही 'राजा विकर्माजीत' बन जायेंगे। "अपनी घोट तो नशा चढ़े" वाली उक्ति इस प्रकार की ही स्थिति पर सही रूप में चरितार्थ होती है। जब हम ऐसे स्वमान के सिंहासन से उतर कर भीख का बर्तन हाथ में लेते हैं और मस्तक से ज्ञान-योग का मुकुट उतार कर मान-शान की भिक्षा मांगते हैं, तब हम पहले स्वयं ही स्वयं को आदर और

सत्कार की स्थिति से वंचित करते हैं।

तब हमारा कोई निरादर या तिरस्कार करता भी है तो हमें चाहिए कि हम मान-शान या महत्व की आकांक्षा करने से पहले स्वमान के सिंहासन पर बैठें और अपने ज्ञान-योग के ताज और आत्म-स्मृति के तिलक को धारण करें। तब लोग स्वत: ही कहेंगे – "खबरदार, होशियार....महाराजाधिराज आते हैं...!" अत: अब किसी द्वारा निंदा को सुन कर हम निन्दक के पीछे न पड़ जायें बल्कि निंदा को निमंत्रण देने वाले कर्मों को ही छोड़ दें। हम महान् बनेंगे तो महत्व मिलेगा और महिमा अपने आप उसके पीछे-पीछे चली आयेगी और वरमाला उसके हाथ में होगी।

महिमा तो कोई तव करता है जब उस पर प्रभाव पड़ता है और प्रभाव सदा तीन कारण से पड़ता है – गुण, कर्म और स्वभाव से। अगर हम में नम्रता, मधुरता, सहनशीलता, सन्तुष्टता, आत्म-नियंत्रण आदि गुण होंगे और हमारे कर्मों में श्रेष्ठता, बुद्धिमता, कुशलता, आदि होगी और हमारे कर्म सेवा, त्याग, उदारता, विश्व-कल्याण की भावना आदि को लिए होंगे तथा हमारा स्वभाव निर्मल, मृदु, निश्छल तथा मिलनसार और आत्मीयता-पूर्ण होगा तो हमारी शान की शहनाईयाँ बज उठेंगी। दूसरे शब्दों में, गुणों ही से व्यक्ति का महत्व होता है, आकांक्षा से नहीं। गुण दो प्रकार से भासित होते हैं – कर्मों से और स्वभाव से। अत: हमें अपने कर्मों तथा स्वभाव को दिव्य गुणों से युक्त वनाना चाहिए।

कहा गया है कि 'मांगने से मरना भला है।' महत्त्व मांगने या उसकी आकांक्षा करने की बजाए भी हमें अपने बुरे जीवन से मर जाना चाहिए, अर्थात् मरजीवा (मृत्जीवा) बनना चाहिए। इससे हम सदा के लिए इच्छा रूपी अविद्या से, आकांक्षा-भरी इन्तज़ारों से तथा मरने से भी अधिक दु:खदायक मांगने के शर्मनाक कर्म से मुक्त हो जायेंगे। "बनो महान, करो कल्याण" के नारे को पूरा करने से हम नर से नारायण बन जायेंगे और सदा महत्त्वपूर्ण स्थिति के स्वामी होंगे।

हमारे इस कथन का कि हमें आकांक्षा नहीं होनी चाहिए, यह भाव नहीं है कि हम अपमानित या तिरस्कृत जीवन जियें। हमारा भाव तो यह है कि हम सम्मान के लिए मांग न करें बल्कि सम्मान के योग्य बनें। हम शान के पीछे न भागें वल्कि शानदार (Excellent) जीवन जीयें। हम हाथ न फैलायें बल्कि वरद-हस्त वनें। हम ने यह भी कहा है कि यदि लोग हमारी निंदा करें तो उसे भी हम सहन करते हुए अपने जीवन को सुधारें और संवारें और उस व्यक्ति से घृणा न करें। परन्तु इस सब का अर्थ यह नहीं है कि यदि

कोई बार-बार हम पर निराधार आक्षेप या इल्ज़ाम लगाये, हमें बदनाम करे, मिथ्या दोष आरोपित करे और हमें दो कौड़ी का बताए तो हम उसकी बातों के सामने काठ के उल्लू बन कर बैठे रहें। हम मनुष्य तो हैं ही, हमें गधे की तरह जीवन नहीं जीना चाहिए कि वजन भी ढोते रहें, लात भी खाते रहें, कान भी मरोड़वाते रहें और मूर्ख-शिरोमणि की अपमानजनक उपाधि पाकर भी ढीचू-ढीचू करते रहें। भारे के टट्टू बनना तो इन्सान की गिरावट है। हमें तो 'पवित्र बनो और योगी बनो' की नीति-रीति अपना कर शान्त और शीतल रहते हुए या तो ऐसे निर्लज्ज, चरित्रहीन और सिद्धान्तहीन व्यक्तियों का बदल कर दिखाना चाहिए या उनकी राह से अपनी राह को मोड़ कर उन्हें उनकी तकदीर पर छोड़ देना चाहिए और स्वयं स्वमान का जीवन जीना चाहिए।

'मान और शान की इच्छा' या 'महत्त्व की आकांक्षा' न करने का यह अर्थ नहीं है कि हम घटिया काम करें ताकि कोई हमें पूछे ही न और हमारी कोई विशेषता किसी के सामने आये ही न। हमें कोई भी कार्य ऐसे ढंग से और ऐसे जम कर तथा उमंग उत्साह से करना चाहिए ताकि हमारे व्यक्तित्व और गुणों का विकास और हमारा किया हुआ कार्य उच्च, उच्चतम या उच्चत्तम स्तर का हो और यदि लोग उस कार्य की श्रेष्ठता को देखकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो उससे हमें इस खुशी का अनुभव होना भी स्वाभाविक है कि हमारी सेवा स्वीकार हुई अथवा पसन्द आयी है। परन्तु मान-शान की इच्छा अथवा आकांक्षा से बच कर रहने का भाव तो यह है कि कार्य करते समय मान-शान ही हमारा लक्ष्य या प्रेरणा का कारण नहीं होना चाहिए बल्कि कर्त्तव्य-परायणता, सद्गुणों का विकास और सेवा तथा लोक-कल्याण की हमारी गतिविधियों के प्रेरक होने चाहिएं। मान-शान की यदि इच्छा होगी तो एक बार इसके प्राप्त न होने पर व्यक्ति अगली बार कार्य करने से इन्कार कर देगा, व्यस्तता, अस्वस्थता, असमर्थता इत्यादि का बहाना बना लेगा और अपना भाग्य बनाने से भी वंचित होगा तथा सहयोग और सेवा छोड़ कर असन्तुष्टता, नाराज़गी और अनबन की मन्द अग्नि में भुट्टे की तरह तिर-तिर कर भुनता रहेगा।

मान-शान की इच्छा तो द्रव्यपान की आदत, इल्लत अथवा दुर्व्यसन की तरह है। जिसे एक बार लत पड़ जाती है, वह इस स्मैक (Smack) से मुश्किल ही छूटा है। जब वह मान-शान पाता है तो तो हिटलर के नशे में रहता है और जब उसे खुराक (Dose) नहीं मिलता तो अधमरी चींटी की तरह करवटें लेता पड़ा रहता है और दूसरों के लिए

परेशानी बन जाता है। यह आकांक्षा तो एड्स (AIDS) की बीमारी की तरह है जिस से व्यक्ति घुलघुल कर, दिनोंदिन आध्यात्मिक दृष्टि से निर्बल होता जाता है। जैसे एड्स से पीड़ित व्यक्ति को लगाई गई सुई (Injecting needle) दूसरों को लगाने से दूसरों को भी रोगी बना देती है, वैसे ही इस इच्छा अथवा आकांक्षा वाला रोगी दूसरों से बात कर-कर के उन्हें भी इस खतरनाक रोग में मुबतला कर देता है।

सच तो यह है कि संसार में फूट और एकता भंग होने का एक कारण राजनीतिज्ञों तथा देश या धर्म के कर्णधारों में मान-शान की इच्छा है। इस इच्छा से ही ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ इत्यादि पैदा होते हैं। यह इच्छा अपने वरिष्ठजनों के प्रति अनादर और अवज्ञा पैदा करती है और सहयोगियों, सहायकों तथा सहानुभूतिकारों को भी छोड़ कर स्वयं मान की माला प्राप्त करने का कुत्सित कर्म सिखाती है। गुप्त रहने में जो आनन्द है वह मान-शान की इच्छा की विस्फोटकारी आदत से करोड़ गुणा अच्छा है।

"बनो महान,
करो कल्याण"

इस नारे को पूरा करने से हम नर से श्री नारायण और नारी से श्री लक्ष्मी बन जायेंगे और सदा महत्त्वपूर्ण स्थिति के स्वामी होंगे।

साक्षी

जीवन का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है और सभी उसके लिये प्रयत्नशील हैं। लेकिन आनन्द के लिए निरन्तर चेष्टारत रहने पर भी आज मानवमात्र दुःखी एवं अशान्त हैं। तो अवश्य मानना पड़ेगा कि मनुष्य का जीवन के प्रति दृष्टिकोण भ्रामक और ग़लत हो गया है। आनन्द की प्राप्ति के लिये हमने जो रास्ता पकड़ा है, उस पर आगे बढ़ते जाने से यदि निरन्तर दुःख ही मिले तो रुक कर सोचने की आवश्यकता होगी कि कहीं हमने ग़लत रास्ता तो नहीं पकड़ लिया है। वास्तव में आज हमारा जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण नहीं है।

सृष्टि एक विराट रंग-मंच है जहाँ विविधतापूर्ण मनोरंजक नाटक चल रहा है। नाटक का आनन्द लेने के लिये साक्षी का भाव अत्यावश्यक है। जिससे हम तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं वह 'संसार' बन जाता है और जिससे हम साक्षी का भाव रखते हैं वह 'नाटक' हो जाता है। इतना ही तो अन्तर है संसार और नाटक में। यह अन्तर मूलतः दृष्टिकोण का है। पीलिया के रोगी को सब-कुछ पीला ही पीला दिखाई पड़ता है और सावन के अन्धे को हरा ही हरा। नेत्रों पर काला चशमा होने पर वही वस्तु काली दिखाई पड़ती है और लाल चशमा होने पर लाल। **तादात्म्य तथा आसक्ति की मनोवृत्ति होने पर संसार दुःखदायक जटिल और जंजाल मालूम पड़ता है और साक्षी तथा अनासक्ति की मनोवृत्ति होने पर आनन्ददायक नाटक।** अतः परिस्थिति नहीं स्वस्थिति को बदलने का पुरुषार्थ करना है। साक्षी की स्थिति में स्थित व्यक्ति के लिये यह संसार नाटक बन जाता है। वह अनेकानेक आत्माओं के विविध पार्ट को देखकर सदा हर्षित होता रहता है। मनोरंजन के लिये उसे किसी नाट्यशाला या सिनेमा घर में जाने की आवश्यकता नहीं रहती। उसके सम्मुख सदा-सर्वदा मनोरम-मनोरंजक नाटक चलता रहता है। शत्रु-मित्र, स्वजन-परिजन के विभिन्न खेल को देखकर वह हमेशा हल्का और प्रफुल्लित रहता है। इसके विपरीत यदि तादात्म्य की मनोवृत्ति हो तो नाटक भी संसार-जैसा फँसाने वाला बन सकता है। नाटक के कल्पित पात्रों से तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण कितने लोग सिनेमा घर में बैठकर आंसू बहाते हैं तथा भारी हृदय से बाहर निकलते हैं।

नाटक के पात्र को सदा आन्तरिक अनुभूति रहती है कि वह जो अभिनय कर रहा

है उससे अलग है। परिणमस्वरूप वह सुख-दुःख के खेल से अनासक्त रहता है तथा अभिनय का आनन्द लेता है। वस्तुत: हम आत्मायें भी इस सृष्टि-नाटक से परे ब्रह्मलोक की रहने वाली हैं तथा ज्योति-बिन्दु स्वरूप हैं। इस सृष्टि-नाटक में हम शरीर धारण कर खेल, खेल रही हैं, लेकिन यथार्थत: हम शरीर नहीं वरन् उससे न्यारी आत्मा हैं। हम आत्मायें इस विराट सृष्टि-नाटक में भाँति-भाँति का चोला धारण कर विविधतापूर्ण हार-जीत का मनोरंजक खेल, खेल रही हैं। परमधाम से इस सृष्टि-नाटक में हम खेल का आनन्द लेने के लिये आये हैं न कि इसमें फँसकर दुःखी व अशान्त होने के लिये। खेल में हम शत्रु-मित्र, पिता-पुत्र, पति-पत्नी का या अन्य कोई भी अभिनय कर सकते हैं लेकिन आत्मा रूप में हम सभी निराकार परमपिता परमात्मा शिव की सन्तान होने के कारण भाई-भाई ही हैं। अत: नाटक के अभिनय का कोई प्रभाव हम आत्माओं के मूल सम्बन्ध पर नहीं पड़ना चाहिये। यही जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण है जिसे भूलकर मनुष्य का जीवन इतना कटुतापूर्ण, विपात्ती तथा दुःख अशान्तिमय बन गया है।

साक्षी अवस्था ही शान्ति की जननी है

किसी भी सिद्धान्त की सत्यता की कसौटी व्यावहारिक जीवन में उसका परिणाम है। आसक्तिपूर्ण मनुष्य का जीवन सदा चिन्तित, तनाव-ग्रस्त तथा उलझनपूर्ण होता है। इसके विपरीत, साक्षी भाव वाला मनुष्य सदा निश्चिन्त, हल्का और हर्षितमुख रहता है। कठिन से कठिन परिस्थिति तथा विपत्ति में भी वह चलायमान नहीं होता। उन्हें भी विविधतापूर्ण नाटक का एक अंग मानकर वह अचल-अडोल बना रहता है। यदि कोई आप का अपमान करे और आप साक्षी होकर देखें कि यह आत्मा अज्ञानवश उल्टा कार्य कर रही है जिसका दुःखद परिणाम इसे भोगना पड़ेगा तो जो अपमान पहले आप के हृदय में तीर की तरह चुभ जाता, वह अब आपको तनिक भी स्पर्श नहीं करेगा। उस अज्ञानी आत्मा के प्रति आपके हृदय में क्रोध की जगह करुणा का उद्रेक होगा। अत: जो कटु वाक्य आपकी कई दिनों की नींद और आराम को हराम कर देते, वे अव कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पायेंगे। आपकी आत्मा कमल पुष्प सदृश्य मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख से सदा ऊपर रहकर आनन्दित रहेगी।

यह अनादि-निश्चित सृष्टि-नाटक इतना युक्तियुक्त और न्यायपूर्ण वना हुआ है कि कोई किसी को अकारण दुःख नहीं देता। जो भी सुख-दुःख हमें मिलता है वह अपने

पिछले कर्मों के हिसाब-किताब के कारण। अत: साक्षी वृत्ति वाला मनुष्य कष्ट और दु:ख को अपने पूर्व कर्मों का फल मानकर प्रसन्न होता है कि इनके द्वारा हमारे विकर्मों का खाता समाप्त हो रहा है तथा हम कर्मातीत बनते जा रहे हैं। साथ ही सुखद भविष्य के लिये वह श्रेष्ठ कर्म करने का पुरुषार्थ भी करता रहता है। बीमारियों को वह अपना कर्म-भोग मानकर साहस-पूर्वक सहन करता है और दूसरों के लिये एक उच्च आदर्श प्रस्तुत करता है। कठिन रोगों में भी वह आनन्दपूर्वक, पतित-पावन परमपिता परमात्मा शिव की पावन स्मृति में रहता है उससे रोग भी उसे कष्ट नहीं दे पाते तथा उसके विकर्मों का खाता भी शीघ्र समाप्त हो जाता है।

कठिनाइयाँ हमारी मनोवृत्ति की सूचक हैं। समुचित मनोवृत्ति वाला मनुष्य पर्वत सदृश्य बाधओं को भी राई बना देता है और गलत मनोवृत्ति होने पर राई भी रास्ते में पर्वत बनकर खड़ी हो जाती है। वास्तव में **कठिनाइयाँ हमें सहनशीलता, निर्भयता तथा हर्षितमुखता का पाठ पढ़ाने के लिए आती हैं। कठिनाइयों को सहर्ष सहकर ही हमारी आत्मा अष्टशक्ति सम्पन्न तथा सर्वगुण सम्पन्न बनती है।** लेकिन जो कठिनाइयों से घबरा जाता है वह सदा के लिये निर्बल बन जाता है। साक्षी दृष्टि वाला मनुष्य कठिनाइयों का सदा स्वागत करता है। तथा रास्ते की चट्टानों को भी स्वर्ग जाने की सीढ़ी बना लेता है। तूफ़ान उसके लिये दिव्य गुणों के तोहफ़े लाते हैं तथा लहरों की चपेटों को आनन्द पूर्वक सहन कर वह ठिक्कर से ठाकुर बन जाता है।

''**साक्षी**'' — इन दो अक्षरों में धर्म का तथा आनन्द का रहस्य छिपा हुआ है। जिसने साक्षी भाव को जीवन में ग्रहण कर लिया, वही सच्चा धर्मिक है तथा उसी का जीवन पूर्ण आनन्दमय है। परमात्मा आनन्द के सागर हैं क्योंकि वे सदा साक्षी हैं। सृष्टि के उत्थान-पतन के खेल को वे साक्षी बन देखते रहते हैं, क्योंकि ज्ञान-सागर में सृष्टि-नाटक के आदि-मध्य-अन्त का यथार्थ ज्ञान है। मनुष्यात्मायें भी सतयुग-त्रेता में आत्मा-अभिमानी होने के कारण साक्षी-भाव में स्थित थीं। अत: उनका जीवन पूर्णत: सुख-शान्तिमय था। द्वापर से नाटक के रहस्य को भूल जाने के कारण अल्पज्ञ आत्माओं ने साक्षी भाव को खो दिया और छोटी-मोटी बातों में 'क्या', 'क्यों', 'कैसे' आदि प्रश्नों की झड़ी लगा दी। फलस्वरूप वे घोर दु:खी-अशान्त हो गयीं। ऐसे समय में ज्ञान-सागर परमात्मा हमें फिर से अनादि-निश्चित ड्रामा के आदि-मध्य-अन्त का ज्ञान देकर पूर्ण साक्षी बना रहे हैं। सृष्टि-नाटक को तथा अपने संकल्पों-विकल्पों को साक्षी होकर देखने वाला मनुष्य ही सच्चा योगी है।



संतुष्ट होने का सन्तोषजनक पुरुषार्थ

कलिकाल की इस तमोप्रधान वेला में मन को क्षुब्ध (Disturb) करने वाले अनेकानेक कारण हमारे सामने अनायास ही उपस्थित होते हैं। अपने काम-काज, लेन-देन या किसी परिस्थिति-प्रसंग के कारण हम जिनके सम्पर्क में आते हैं उनमें से कई लोग, हमारी शुभ-भावना के बावजूद भी हमारे मानसिक सन्तुलन की परीक्षा के निमित्त कारण बन जाते हैं। कुछेक की तो हमसे अपेक्षाएं और आकांक्षाएं ही ऐसी या इतनी होती हैं कि हम उन्हें सन्तुष्ट करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं और वे हमारी सीमाओं और मजबूरियों को न समझने के कारण अपनी खिन्नता, अपनी वेदना या अपना रोष जहाँ-तहाँ दुदुम्बी बजा कर व्यक्त किया करते हैं। हमसे रूष्ट हुए रहना, हमारा विरोध करना या हमें तंग करना उनका दैनिक कार्यक्रम-सा बन जाता है।

अन्य कई ऐसे भी हैं कि वे हमारी ही किसी आदत या कमी के कारण हमसे असन्तुष्ट रहते हैं। वे अपनी असंतुष्टता की दास्तान हम तक पहुँचाते हैं तो भी हम अपनी कमियों या क्रूरताओं को तो निकाल नहीं पाते बल्कि उन लोगों को बुरा मानते हुए उन्हें ही सुधारने का यत्न करते हैं। हम स्वयं उनसे रूष्ट हो जाते हैं और मन-ही-मंन अपने से भी असंतुष्ट होते हैं।

अन्य कई ऐसे भी होते हैं कि हम स्वयं ही उनकी मनोवृत्तियों या कार्य-व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं होते क्योंकि वे न तो न्याय करते हैं न मानवोचित व्यवहार, न सन्तोषजनक कार्य। उनकी कार्य-पद्धति, उनके व्यवहारिक जीवन के मुद्दे (aims) या नैतिक मूल्य, उनकी रीति-नीति हमें अखरती-सी है। जैसे आंख में कंकड़ पड़ जाने से चुभन-सी होती है, वैसे ही उन लोगों के विचार, संस्कार या कार्य हमारे मन में चुभते-से हैं। उनका वह घटिया, स्वार्थपूर्ण या अभद्र व्यवहार मानव के लिए अशोभनीय होता है। 'सद्व्यवहार' तथा 'कर्तव्यपरायणता' की जो परिभाषा हमने सीखी-समझी है, उससे उनके कार्य-व्यवहार मेल नहीं खाते। एक सुलझे हुए, श्रेष्ठ या सज्जन व्यक्ति से जिस प्रकार से सद्भावना की या आपसी लेन-देन के तौर-तरीके की हम आशा करते हैं, उससे उनका रंग-ढंग अलग ही प्रकार का होता है। बार-बार उनके सम्पर्क में आने पर उनके व्यवहार की नोंक-झोंक आरी के दन्दानों की तरह जब हमसे रगड़ खाते हैं तो मन करता है कि हम ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क-संसर्ग और बात करना भी छोड़ दें और ढाई चावल की

ही सही, हमं अपनी खिचड़ी अलग ही पकायें।

असन्तुष्टता असफ़लता का एक चिह्न

परन्तु हम ये भी जानते और मानते हैं कि किसी भी कारण से यदि कोई हमसे सन्तुष्ट न हो या हम किसी से सन्तुष्ट न हों तो इसके परिणाम में तो यही कहा जाएगा कि हम योग विद्या में असफल हैं, फेल (Fail) हैं, नापास (Not-pass) हैं। यदि हम किन्हीं व्यक्तियों से सन्तुष्ट नहीं होंगे तो हम उनके प्रति शुभभावना और शुभकामना की वृत्ति कैसे बनाये रखेंगे और सच्चे मन से हम उनसे कैसे मीठा बोल सकते हैं? यदि हम किन्ही से क्षुब्ध (Disturb) होंगे तो हम एकाग्रता को ही खो बैठेंगे और योगयुक्त स्थिति में भी नहीं रहेंगे। योगयुक्त न होने से हमारे बोलचाल रहन-सहन, कार्य-कलाप युक्तियुक्त भी नहीं होंगे तथा तपस्या करने की बात तो एक ओर रही, हम स्वयं अपने और दूसरों के लिए समस्या बन जायेंगे।

स्थायी सन्तुष्टता, जो कि सहनशीलता तथा धीरज से भिन्न है?

इसलिए प्रश्न यह उठता है कि हममें सन्तुष्टता स्थायी अथवा टिकाऊ रूप से कैसे आए? योग में हमें स्थिरता कैसे प्राप्त हो? दूसरों को अधिकाधिक हम कैसे सन्तुष्ट करते चलें? मन की क्षुब्ध (Disturb) अवस्था से हम कैसे ऊपर उठ कर रहें? योगी जीवन के आनन्द के झूले में हम सदा कैसे झूलते रहें? अपनी आदतों, संस्कारों और कमियों को किस प्रकार हम मिटाते चलें?

जब हमसे कोई अशिष्ट, अभद्र अथवा अनादरपूर्वक व्यवहार करता है, तब यदि हम यह समझें कि "यह मेरे ही कुछ पिछले कर्मों का हिसाब-किताब है" और ऐसा सोच कर हम मन को मौन करा दें तो इसे क्या हम 'सन्तुष्टता' की स्थिति कहेंगे? यह तो वास्तव में 'सहनशीलता' नामक गुण या स्थिति की उपलब्धि का तरीका है। यदि हम यह सोच कर शान्त हो जायें कि "इस व्यक्ति का कर्म इसके साथ है, मुझे तो अपने कर्मों को अच्छे बनाने पर ध्यान देना चाहिए", तब यह तो कर्म-गति के ज्ञान का कवच पहन कर स्वयं को माया और अशान्ति के आघात से बचाने अर्थात् न्यारेपन का गुण धारण करने की एक अच्छी युक्ति है। इसे भी 'सन्तुष्टता' कहना शायद सही नहीं होगा। यदि हम यह सोचें कि — "परमात्मा हरेक के कर्मों को जानते हैं और वे न्यायकारी हैं ... दिन अभद्र व्यवहार करने वाले को अपने कर्मों के परिणाम स्वरूप दण्ड

मिलेगा, ''तब इसे तो कर्म-सिद्धान्त, अन्तिम न्याय तथा परमात्मा में विश्वास के द्वारा स्वयं को दु:खानुभूति से सुरक्षित रखने या शान्त बने रहने की विधि ही कहेंगे। 'सन्तुष्टता' तो इससे भिन्न ही किसी स्थिति का नाम है। यदि हम सोंचे कि ''यह तो ड्रामा की भावी है; यह संसार परिवर्तनीय है; इसमें सब-कुछ अस्थिर है और इसमें आज जो इस व्यक्ति के द्वारा हमें अनुचित व्यवहार मिल रहा है, वह भी शीघ्र ही समाप्त हो जाने वाला है'', तब इसे भी ''ज्ञान-गवेषणा द्वारा उपराम स्थिति की प्राप्ति'' कहना अधिक उपयुक्त होगा। यदि हम स्वयं को इस तर्क से समझाएं कि ''समय बड़ा बलवान है और आखिर एक दिन अच्छाई और बुराई का निर्णय हो जायेगा'', तब यह तो न्याय-प्राप्ति के लिए धीरज धरने का तरीका है। इस प्रकार की सभी युक्तियाँ निस्संदेह हमें सहनशीलता, धीरज, उपरामता, न्यारापन आदि किसी-न-किसी दिव्य गुण को तो प्राप्त कराती हैं परन्तु सन्तुष्टता की स्थिति तो इन सबसे भिन्न है। उसकी अनुभूति ही कुछ और है।

सन्तुष्टता तृप्त-भाव का नाम है

मनुष्य के मन में सन्तुष्टता का प्रादुर्भाव तभी होता है जब उसे ऐसी उपलब्धियाँ हो कि वह तृप्त हो जाए या उसकी परिस्थितियाँ ऐसी हों कि जो प्रसन्नता का वातावरण उत्पन्न करें या उसके सम्बन्धों में ऐसा स्नेह तथा आदान-प्रदान में ऐसा माधुर्य हो कि संघर्ष या वैमनस्य का नाम-निशान भी न हो। ये सब तो सतयुग में ही उपलब्ध हो सकता है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि संगमयुग में सन्तुष्टता की स्थिति कैसे प्राप्त हो? संगमयुग में विपरीत परिस्थिति होने पर भी मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान और आध्यात्मिक पुरुषार्थ द्वारा सन्तुष्टता कैसे प्राप्त कर सकता है?

सन्तुष्टता के लिए ज्ञानानुकूल मनोवृत्ति

सन्तुष्टता की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक पुरुषार्थ यह है कि ज्ञान द्वारा मनोवृत्ति को रूहानी बनाया जाए। ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा सन्तुष्टता की मनोवृत्ति का निर्माण कई-बिन्दुओं से होता है। उदाहरण के तौर पर जब मनुष्य के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि उसे परमात्मा ने ज्ञान के बहुत अनमोल रत्न दिये हैं, उसे पवित्रता रूपी अथाह ईश्वरीय विरासत दी है और उसे अपनी गोद में लिया है तथा अपनी छत्र-छाया के नीचे रखा है, तब उसके मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि अब उसे और कुछ नहीं चाहिए। तब वह स्वयं को भरपूर अथवा तृप्त महसूस करता है। ज्ञान के द्वारा सांसारिक सुख

पदार्थों की क्षणभंगुरता और अस्थिरता को जानकर तो उसके मन में उन पदार्थों के प्रति विरक्ति उत्पन्न होती है। एक परमात्मा से सब सम्बन्ध जान, मान और पहचान लेने के बाद अन्य दैहिक सम्बन्धों के लाड-प्यार और आधार से उसकी स्थिति उपराम हो जाती है और जब उसे यह एहसास होता है कि यह संसार तो एक अनादि-अविनाशी ड्रामा है जिसमें विविधता और विभिन्नता (Variety) अवर्णनीय है, तब भी वह हर एक के भिन्न-भिन्न विचार और व्यवहार देख कर क्षुब्ध नहीं होता बल्कि उसे इस नाटक की कथा-वस्तु की एक विशेषता मान कर चलता है। इसी प्रकार, वह परमपिता परमात्मा से योगयुक्त हो कर जब अपार अतीन्द्रिय सुख और अतुल आनन्द की प्राप्ति करता है, तो उससे भी उसका मन सदा खुशी से छलकता रहता है और उसमें असंतुष्टता की लेश भर भी उपस्थिति नहीं होती।

ऐसी मनोवृत्ति और स्थिति को धारण करने के बाद संसार में उसके सामने जो विकृत परिस्थितियाँ आती हैं, उनसे भी उसका मन बोझिल या दु:खी नहीं होता क्योंकि उसके मन में सदा यह विश्वास बना रहता है कि सर्व-समर्थ परमात्मा मेरा साथी है। साथ ही साथ, उसके मन में सदा यह भी भाव बना रहता है कि अब अपने जीवन को पवित्र और महान् बनाने के फलस्वरूप उसका निश्चित रूप से कल्याण ही होगा। इस प्रकार, केवल सहनशीलता या धैर्य ही नहीं बल्कि सन्तुष्टता की स्थिति भी सहज ही उसका एक स्वभाव बन जाता है।

सबसे विशेष बात तो यह है कि शरीर से न्यारा हो कर आत्मा जब उस परमपिता परमात्मा से योग-युक्त होती है और शान्ति, प्रेम तथा आनन्द में सराबोर हो जाती है, तब वो अनुभूति ही ऐसी सर्वश्रेष्ठ प्राप्ति होती है जो कि उसे सदा सन्तुष्टता की स्थिति में रखती है।

वास्तव में देखा जाये तो जीवन में ऐसे व्यक्ति तो सम्पर्क में आयेंगे ही जिनके साथ भलाई करने पर भी वे हमसे अपनी असन्तुष्टता ही प्रगट करते रहेंगे। परन्तु हमें चाहिए कि हम उन्हें सन्तुष्ट करने का भरसक प्रयत्न करें, परन्तु यदि वे अपने संस्कारों के ऐसे कैदी हैं कि असन्तुष्टता के सांकल या हथकड़ियों से बन्धे हैं, तब हमें निश्चिन्त होकर अपनी स्थिति को सन्तुष्ट बनाये रखना चाहिए।

यदि किसी को असन्तुष्टता हमारी ही कमियों के कारण है तो हमें सच्चे मन से उसके क्षमा मांगनी चाहिए और यदि हम बार-बार यत्न करने पर भी अपनी कमियों को

नहीं निकाल सकते या आदतों को नहीं सुधार सकते तो हमें अपनी इस अयोग्यता या कमज़ोरी को मिटाने के लिए भी दूसरों से सहयोग की कामना करनी चाहिए।

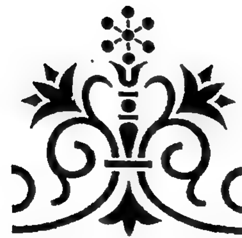
यदि हम अपनी कमियों को देख कर स्वयं से असन्तुष्ट होते हैं तो हमें यह सोचना चाहिए कि हम अपनी कमियों में एक कमी और जोड़ कर उसे बढ़ा रहे हैं; यह बुद्धिमत्ता तो नहीं है। असन्तुष्टता का मल मन पर न ले कर हमें एहसास (Realisation) की स्थिति धारण करनी चाहिए और आलस्य, अलबेलेपन इत्यादि को छोड़कर कमी को ठीक करने के लिए उमंग, उत्साह, आत्म-विश्वास, साहस और ईश्वर-विश्वास के सद्‌गुणों का उत्कर्ष करना चाहिए। असन्तुष्टता या तो मनुष्य से रूठने, उद्यम को छोड़ देने या आत्म-विश्वास से वंचित होने की स्थिति पैदा करती है और या वह स्वयं को अशान्त एवं क्षुब्ध बना कर वातावरण और पारस्परिक सम्बन्धों को बिगाड़ती है। इसके विपरीत एहसास हमें स्व-परिवर्तन या महानता की प्राप्ति में जुटा देता है। अत: स्वयं से असन्तुष्ट होना तो गोया अपनी ही शान्ति और खुशी को चिनगारी लगाना है।

यदि कोई हमें डांट-डपट देता है, हम से अभद्र व्यवहार करता है तो हमें यह सोचना चाहिए कि – "हम पतित-पावन, दु:ख-हर्ता तथा सुख-कर्ता परमात्मा की सन्तान हैं। अत: यदि कोई पतित व्यवहार करता है, तो हमें इसे पावन बनाना है क्योंकि हमारा भी यही कर्तव्य है। यदि वह दु:ख देता है, तो हमें ज्ञान द्वारा अपना दु:ख हरते हुए भी सुख देना है।"

यदि हम इसलिए असन्तुष्ट हैं कि हमारे परिवार में , दफ़्तर में या कहीं कोई वरिष्ठ व्यक्ति हमसे न्याय नहीं करता, हमारी बात नहीं सुनता, हमें प्रगति का कोई अवसर नहीं देता, हमसे स्नेहाभिव्यक्ति नहीं करता और एक मशीन की तरह हमें चलाता है, सौ साल पहले के एक नौकर की तरह हमें अपने अंगूठे के नीचे दबा कर रखता है या हमारे सुख-दु:ख की सुधि भी नहीं लेता तो सोचना चाहिए कि यही तो हमारे मन को इस सड़ी हुई दुनिया से उखाड़ कर इसे परमपिता की ओर मोड़ने में निमित्त बना है। इसके चुभाए गये कांटों ने ही तो हमें सतर्क किया है कि यह संसार कांटों का जंगल है। इसलिए ऐसे व्यक्ति की शक्ल देख कर गहराई से मुस्करा दो और खूब सुख की सांस लो। वह पूछे कि क्या बात है? आज मुस्कुराहट किस बात की है? तो उसे कहो कि आपके दर्शन मात्र से ही मन प्रभु की याद में लग जाता है। आप हमारे मित्र हैं; आप सदा ही हमारे कल्याण में लगे रहते हैं। हो सकता है कि वह पूछ ले कि "हम आपका कल्याण कैसे करते हैं?"

तब उसे कह दो कि "कल्याण के कई तरीके हैं; आपके मन से जो प्रकम्पन्न हम त
पहुँचते हैं, वे हमें कल्याण ही की ओर ले जा रहे हैं।" इस प्रकार, उसे भी कल्याण
निमित्त समझ कर सन्तुष्ट हो जाओ क्योंकि असन्तुष्टता इस संकल्प से होती है कि हमा
अकल्याण हो रहा है।

यदि इन तथा अन्य सभी युक्तियों से भी पूर्णत: सन्तुष्टता नहीं होती और असन्तुष्ट
का कुछ अंश रह जाता है तब या तो यह सोच कर संतुष्ट हो जायें कि असन्तुष्टता
पहाड़ हट कर एक पत्थर मात्र ही तो रह गया है; इतनी रूकावट मिट जाना भी क्या क
प्राप्ति है? यह सोच लो कि थोड़ी-सी असन्तुष्टता तो पुरुषार्थ को तीव्र करने के लि
ज़रूरी थी, यह वही रही हुई है! विकारों की आहुतियाँ देने के लिए जो ज्ञान यज्ञ
अग्नि प्रज्वलित करने की ज़रूरत है, उसके लिए भी कुछ समिधा (लकड़ी) या ईंधन
चाहिए ही होता है; अत: इस असंतुष्टता को योगाग्नि प्रज्वलित करने का ईंधन बना
और इस भाव से सन्तुष्ट हो जाओ कि ईंधन उपलब्ध है।



निर्विकल्प अवस्था

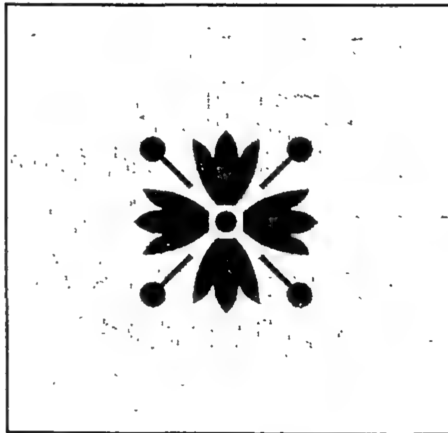
विकर्म विनाश करने के लिए सहज युक्ति है निर्विकल्प अवस्था को धारण करना, क्योंकि कर्मातीत परमात्मा की ओर अपनी निर्संकल्प स्थिति (कर्मातीत स्थिति) की याद में रहने से ही, वर्तमान काल में भी ऐसी अवस्था हो जाती है, जिसमें कि मनुष्य के पिछले जन्म-जन्मान्तर के संस्कार पलटते जाते हैं, दिव्य गुण सहज ही धारण होते जाते हैं और पिछला हिसाब-किताब चुकता हो जाता है।

वास्तव में, मनुष्य निर्संकल्प और निर्विकल्प भी उतना ही बन सकता है जितना-जितना कि उसके विकर्म विनाश होते जाते हैं और संस्कार पलटते जाते हैं, क्योंकि संस्कार अथवा विकर्म ही तो मनुष्य के मन को दूसरी तरफ़ खेंच जाते हैं। तो कर्मातीत बनने के लिए नि:संकल्प बनना, निर्संकल्प बनने के लिए कर्मातीत अवस्था को याद करना और याद करने के लिए, निर्विकल्प परमात्मा का, उनके नि:संकल्पता के धाम (निर्वाणधाम) का और उनकी निर्विकल्प रचना अर्थात् वैकुण्ठ का ज्ञान होना ज़रूरी है। ज्ञान के बिना निर्संकल्प और निर्विकल्प अवस्था हो नहीं सकती। और निर्संकल्पता तथा निर्विकल्पता ही तो ज्ञान का लक्षण है अथवा लक्ष्य प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ है। परन्तु यह पुरुषार्थ परमात्मा के सिवा अन्य कोई भी सिखा नहीं सकता। जब सम्पूर्ण कर्मातीत परमात्मा ही निर्संकल्पता के धाम अर्थात् परमधाम से आकर सबको निर्वाणधाम में ले जाने का पुरुषार्थ कराते हैं तब ही मनुष्य निर्विकल्पता का वास्तविक अर्थ समझ सकता है और यथार्थ रीति निर्विकल्प हो सकता है।

नि:संकल्पता की अवस्था बड़ी ही मीठी है, क्योंकि नि:संकल्प मनुष्य यहाँ बसते भी नहीं बसता, यहाँ के व्यवहार में बर्तते हुए भी उससे उपराम होता है, कारण कि उसका बुद्धियोग तो निर्संकल्पता के धाम अर्थात् निर्वाणधाम से और निर्विकल्पता के धाम अर्थात् वैकुण्ठ से लगा होता है। नि:संकल्प हो ही वह सकता है जिसकी एक आंख में निर्वाण और एक में जीवनमुक्ति धाम बसता हो, अर्थात् जो इस दुनिया को देखते हुए भी न देखता हो, यहाँ चलते-फिरते भी अपनी मंज़िल की याद में रहता हो।

नि:संकल्प आत्मा का अनुभव भी लौकिक न होकर अलौकिक ही होता है, क्योंकि वह परलोक अथवा अलोक (वैकुण्ठ) में बसता है। उसे ऐसा प्रवाह आता है जैसे कि वह अपने उस दूर धाम से, उस प्रिय देश से, थोड़े ही समय के लिए इस पुराने देश में आया

है और उसे तो अब यहाँ से शीघ्र ही वापिस लौट भी जाना है। तो इस पुराने देश की वह किस वस्तु से बुद्धियोग लगावे? अपनी वैकुण्ठ की राजधानी को याद करते हुए उसे इस मृत्युलोक के सांसारिक लोगों का विषयी 'सुख' तो सुहाता ही नहीं, यहाँ के थोथे मनोरञ्जन तो भाते ही नहीं, क्योंकि उसका दिल तो किसी और तरफ़ लगा होता है। इसलिए, यहाँ सब-कुछ करते हुए भी वह इन सबसे न्यारा रहता है और अपने कर्मों का फल यहाँ न पाकर वापिस सुखधाम (स्वर्ग) में जाकर पाता है। तो जबकि इस दुनिया से उसका दिल ही हटकर पिता परमात्मा से, और उनके अव्यक्तधाम (परलोक) से तथा उनकी सुखमय रचना अर्थात् वैकुण्ठधाम से लग गया है तो उसे विकल्प अथवा फ़ालतू संकल्प आ ही कैसे सकता है? क्योंकि वह अब भली-भाँति समझता है कि निर्संकल्पता ही के रास्ते से वह वापिस अपने निर्वाणधाम को, तथा निर्विकल्पता ही के रास्ते से अपने जीवनमुक्ति-धाम (स्वर्ग) को लौटकर अपनी पूर्ण प्रारब्ध प्राप्त कर सकता है।



परिवर्तन के लिए कुछ सहायक कारक

जब हम विश्व के इतिहास, विशेषकर धर्मों के इतिहास का अध्ययन और विश्लेषण करते हैं, तो हम देखते हैं कि कुछ कारक (Factor) ऐसे थे जिन्होंने 'महान' कहलाने वाले लोगों की जीवन-पद्धति में, व्यवहार में, विचार-शैली में या दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया था। चाहे कोई ऋषि मुनि बना या साधु-सन्त या पीर पैगम्बर और चाहे कोई राजा था या अपराधी, सभी के मनोपरिवर्तन में कुछ कारक सहायक बने थे और कोई व्यक्ति किसी भी देश या काल में हुआ हो, बहुधा परिवर्तन के कारक प्राय: यही थे। कोई दो दर्जन कारक ऐसे हैं जो ही सदा जीवन में या संस्कारों में परिवर्तन लाते हैं। आज तक जो सैंकड़ों-हजारों सन्त-महन्त हुए हैं या इतिहास जिन्हें महान कहता है, उनके जीवन-चरित्रों पर यदि विचार करें तो हम देखेंगे कि प्राय: इन्हीं दो दर्जन कारकों में ही कुछ निमित्त बने थे। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछेक महान हुए व्यक्तियों के जीवन-वृत्त का हवाला देकर बतायेंगे कि कैसे ये कारक प्राय: परिवर्तनकारी बने थे।

गौतमबुद्ध का ही उदाहरण लीजिए। गौतम ने एक बीमार व्यक्ति, एक वृद्ध व्यक्ति, और एक शव-यात्रा को देखा, इससे पहले उसने अपने चचेरे भाई द्वारा एक पक्षी को तीर मार कर गिराते हुए और पक्षी को दु:ख से तड़पते हुए भी देखा था। इन वृतान्तों पर उसने गहराई से विचार किया, मनन-चिन्तन किया और सोच-समझ से यह महसूस किया कि संसार में अनेकानेक प्रकार के दु:ख हैं। उसने यह दृढ़ निर्णय किया कि वह इन दु:खों का कारण ढूंढ निकालेगा और स्वयं को इन दु:खों की जंज़ीरों से मुक्त कर सभी को दु:ख की दलदल से निकलने का मार्ग बतायेगा। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सच्चे मन से निरंतर पुरुषार्थ किया और चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ आयीं, उनका दृढ़ता से सामना किया। इस प्रकार (१) गम्भीर विचार एवं मनन-चिन्तन, (२) [illegible], (३) दृढ़ निश्चय, निर्णय एवं प्रतिज्ञा तथा (४) कठिनाइयों का सामना करते हुए लगातार पुरुषार्थ — मुख्यत: इन कारकों (Factors) से ही उसके जीवन में महान परिवर्तन हुआ।

वाल्मीकि ऋषि के जीवन में महान परिवर्तन भी मुख्यत: इन्हीं कारकों के आधार पर हुआ। वाल्मीकि, जिनका नाम पहले रत्नाकर था, जंगल में छिपकर राहियों की ताक में रहता था और अनुकूल अवसर मिलने पर उन्हें लूट लिया करता था। एक दिन कुछ साधु जंगल में से हो कर जा रहे थे। रत्नाकर ने उन पर हाथ डाला। उन्होंने कहा — 'देखो रत्नाकर, तुम राहगीरों को लूट कर अपना पेट भरने का तरीका अपनाते हो, इन

बुरे कर्म का परिणाम तो दु:खधाम ही होगा। आप कहोगे कि आप अपने कुटुम्ब-परिवार के आश्रित लोगों के लिए अपना उत्तरदायित्व निभाते हो परन्तु यह कर्त्तव्य निभाने का सही तरीका नहीं है। जब आपको अपने पाप-कर्मों के लिए ण्ड मिलेगा तो तुम्हारे मित्र-सम्बन्धियों में से कोई भी तुम्हें बचा नहीं सकेगा न उनमें से कोई स्वयं आगे होकर भगवान से कहेगा कि यह दण्ड उन्हें मिलना चाहिए क्योंकि यह पाप उनके पेट पालन के लिए किया गया था। रत्नाकर, अगर तुम्हें हमारी बात पर विश्वास न हो तो तुम अपने रिश्तेदारों से, जिनके लिए तुम यह सब ग़लत काम करते हो, पूछ लो।

रत्नाकर ने उनके पास जाकर उनसे पूछा , तो उन्होंने कहा – रत्नाकर, कमाकर खिलाना तो आपका कर्त्तव्य है परन्तु हम ने यह कब कहा है कि तुम लूट-मार करके हमारा जीवन-निर्वाह का यत्न किया करो? अगर तुम पाप-मार्ग से लाते हो उसकी जिम्मेदारी हम पर नहीं है।

रत्नाकर ने इस बात पर गहराई से विचार (Reflection) और मनन-चिन्तन किया और एहसास (Realisation) किया कि यह ग़लत काम है और दृढ़ निश्चय (Resolve) किया कि उस दिन के बाद वह कभी ऐसा नहीं करेगा। उसने अपने पूर्व कर्मों के लिए प्रायश्चित (Repentence) किया और साधुओं से पूछा कि वह क्या उपाय करे।'साधुओं ने उसे राम नाम का स्मरण करने के लिए कहा। परन्तु वह ऐसा था कि राम का उच्चारण भी ठीक रीति से नहीं कर पाता था। तब उन्होंने कहा कि अच्छा, तुम राम शब्द नहीं कह सकते तो मरामरामरामरामरामरामरा....'' अर्थात् लगातार मरा..मरा शब्द कहा करो। 'मरा' शब्द का उच्चारण वह कर सकता था। क्योंकि जो यात्री सामना करते थे, उन्हें वह मार भी देता था उसने मरामरामरामराराम.... को मन लगाकर स्मरण किया, अर्थात् कठिनाई होने पर भी लगातार पुरुषार्थ किया अथवा ''तपस्या'' के फलस्वरूप साधना की और इससे उसकी योग्यताएँ निखर उठीं और वह ऐसा प्रतिभाशाली बना कि उसने रामायण महाकाव्य लिखा और 'आदि कवि' कहलाया। कहते हैं कि उसने ऐसी अचल ''तपस्या''की कि चीटियों ने उसके चारों ओर बांबी बना लीं, इस कारण ही उसका नाम 'वाल्मीकि' हुआ क्योंकि 'वाल्मीकि' शब्द 'बांबी' का वाचक है।

इसी प्रकार, इस्लाम धर्म के स्थापक जिस इब्राहिम का बाइबल में उल्लेख है, उसने बचपन से देखा था कि उसके नगरवासी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर, उन्हें ही भगवान मान कर उनकी पूजा किया करते थे। वह इस बात पर गहराई से विचार (Reflection) या मनन-चिंतन किया करता था। वह सोचता था कि ये मूर्तियाँ तो मनुष्य की 'रचना' (Creation) हैं, यह 'रचयिता' (Creator) तो नहीं हैं। ये अपनी रक्षा ही नहीं ...ती तो अपने पुजारियों की क्या रक्षा करेंगी? अत: उन्हें एहसास (Realisation)

हुआ कि ये भगवान नहीं हैं। तब उन्होंने सोच-समझकर दृढ़निश्चय (Resolve) किया कि वे मूर्ति पूजा नहीं करेंगे बल्कि एक ज्योतिस्वरूप परमात्मा ही से प्रार्थना किया करेंगे। इसके बाद उन पर कई संकट आये, यहाँ तक कि उन्हें अपना देश भी छोड़ना पड़ा परन्तु वे एक ही ज्योतिस्वरूप परमात्मा की साधना करते रहे। इसका फल यह हुआ कि उनके जीवन में महान परिवर्तन आया और आज यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान उन्हें अपना महान पूर्वज मानते हैं।

अब हज़रत ईसा (Christ) का उदाहरण लीजिए। ईसा ने देखा कि यहूदियों के पूजागृहों (Synagogues) में पूजा तो होती है परन्तु लोगों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा। वहाँ के पुजारी (Priests) भी पैसा कमाने में ही लगे हुए हैं। उनका ध्यान लोगों के व्यवहार परिवर्तन की ओर नहीं है बल्कि उनसे पैसा प्राप्त करने पर है। उन्हें यह धन्धा अच्छा नहीं लगा। वह गहराई से जीवन के मौलिक प्रश्नों पर विचार (Reflection) किया ही करते थे। उन्होंने इस बात का खूब एहसास (Realisation) किया कि पवित्रता और प्रभु प्रेम तथा जन-प्रेम के बिना न मन में शान्ति हो सकती है न जीवन में आध्यात्मिक प्रगति। अत: उन्होंने यह दृढ़प्रतिज्ञा (Resolve) की कि वे प्रभु प्रीति करेंगे, जनप्रेम किया करेंगे और पवित्र बनेंगे। इसके लिए उनके सामने भी कई विकट परिस्थितियाँ और परीक्षाएं आयीं परन्तु वे डटे रहे। अन्ततोगत्वा उन्हें सूली (Cross) पर चढ़ाया गया परन्तु उन्होंने अपना पुरुषार्थ या अपनी साधना नहीं छोड़ी बल्कि निरन्तर साधना में लगे रहे।

महाराजा अशोक के दृष्टान्त पर विचार कीजिए। कलिंग की लड़ाई जो वे लड़े थे, उनसे कितने बच्चे अनाथ हुए और कितनी नारियाँ विधवा हुई थीं और कितनी आर्थिक हानि सभी को हुई थी। उन्होंने जब इस पर गहराई से विचार (Reflection) किया और उन्हें इस बात का खूब एहसास (Realisation) हुआ कि हिंसा, लड़ाई और रक्तपात पाप है तो उन्होंने लड़ाई को सदा के लिए छोड़ देने का दृढ़निश्चय (Resolve) किया और फिर अहिंसा और दया की निरंतर साधना की। उन्होंने पत्थर के स्तम्भ बनवा कर उन पर ऐसी शिक्षाएं खुदवा दीं और अपने लड़के तथा लड़की को भी ऐसी शिक्षाओं के प्रचार के लिए भिक्षु बना दिया। इस प्रकार चिन्तन, एहसास, दृढ़निश्चय तथा साधना ही उनके जीवन में भी परिवर्तन लाने के निमित्त बने जिससे कि वे 'अशोक महान' कहलाए।

संत तुलसीदास के जीवन में जो परिवर्तन हुआ, उसके भी यही कारण थे। [illegible]

उठी कि तुलसीदास ने आधी रात गये, यह क्या किया। अत: उसने कह ही दिया –

हाड़-मांस का देह मम, तापर जैसी प्रीति।
तिसु आधो जो राम प्रति, अवसि मिटहि भव भाँति।।

तुलसीदास के मन को यह बात लग गयी। उसने अपनी पत्नी के कथन पर गहराई से विचार (Reflection) किया। उन्होंने अपनी गलत कृति और अपनी अज्ञानता की स्थिति का एहसास (Realisation) किया और अपने मन में यह दृढ़निश्चय किया कि वे अब मोह का त्याग करेंगे और अब श्री राम की भक्ति-अराधना किया करेंगे। इस विधि उन्होंने जो दृढ़ता से साधना की, उससे उनकी सुषुप्त योग्यताएँ जागृत हुई और वे एक महान कवि भी बने और भक्त भी। आखिर उसने अपना समस्त जीवन राम-भक्ति में ही लगा दिया।

कहा जाता है कि बाद में उनकी पत्नी ने उन्हें लिख भेजा था कि मैं तो अपनी सखियों के साथ सोती हूँ और मेरी तो ठीक कट रही; मुझे अपना तो डर नहीं है परन्तु डर है कि आपकी तो ठीक कट रही है न?

कटिकी रवीनी कनक-सी, रहित सखिन संग सोइ।
मोहि कटे को डर नहीं; अनत कटे डर होई।

इसके उत्तर में तुलसीदास जी ने अपने भक्ति-रंग की बात करते हुए लिख भेजा।

कटे एक रघुनाथ संग, बांधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस,पत्नी के उपदेस।।

अब अगर हम प्रसिद्ध भक्तिन मीरा के जीवन-वृत्त पर विचार करें तो उसमें भी इन्हीं कारकों से परिवर्तन हुआ था। मीरा अपने धनाढय परिवार में, सुख-सुविधा का जीवन व्यतीत कर रही थी। एक दिन उनके यहाँ एक साधू आये। वे उनकी माता से बात कर रहे थे और हाथ में एक भव्य मूर्ति लिए थे। मीरा को वह मूर्ति बहुत अच्छी लगी। वह तब छोटी आयु की थीं। उन्होंने अपने बाल स्वभाव में कह दिया "साधू जी, यह मूर्ति मुझे दे दो ना!" उस सरल स्वभाव वाले साधु ने, वह मूर्ति सहज ही मीरा को दे दी और यह कहा – " अच्छी लगती है, तो इसकी पूजा किया करोगी न? यह लो गिरधर गोपाल। इस की पूजा किया करना"। ये शब्द मीरा के मन को अच्छे लग गये, मीरा थी तो छोटी परन्तु उन्होंने गहराई से विचार (Reflection) किया कि यह अच्छे लगते हैं तो इनके समीप तो आना ही चाहिए और इस प्रियवर की भक्ति तो करनी ही चाहिए न"? उन्होंने एहसास (Realistation) किया कि प्रभु-प्रीति बिना जीवन फीका है। प्रभु के हो

जाने में ही जीवन सार्थक और जीने योग्य है। अतः उन्होंने उस छोटी आयु में ही दृढ़निश्चय (Resolve) किया कि वे ही उसके सर्वस्व हैं और उन्हीं की ही प्रेम-प्याली पीने की साधना वह किया करेगी। इस से मीरा में अन्तर्निहित शक्तियाँ जागृत हुई और उस गिरधर गोपाल की प्रीति में उन्होंने गीत भी लिखे जो कि आज तक लोग 'प्रेम दीवाने' हो कर गाते हैं।

मीरा जब बड़ी हुई और चित्तौड़ के प्रसिद्ध राणा सांगा के पुत्र के साथ उनका विवाह रचा गया तो विवाह के समय वे अपने गिरधर गोपाल को साथ लिये रही और लम्बे-फेरे पड़ने के बाद बोली मेरा विवाह गिरधर गोपाल के साथ हो गया। उनकी माता जी ने, सखियों ने, सभी ने बहुत तरह से उसे कहा – "मीरा, ऐसा न कहो। मीरा, यह क्या कह रही हो? राणा बिगड़ जायेंगे।" परन्तु मीरा अपनी माता जी से बोली–

माई म्हाँ सुपने वरी गोपाल
राती पीति चुनड़ी ओढ़ी, मेहंदी हाथ रसाल।
काँई और को वरूँ भाँवरी म्हाँ के जग जंजाल।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, करी सगाई हाल॥

परन्तु उनकी माता सखियों और सम्बन्धियों ने उस पर बहुत ही जोर डाला। उसको राणा के साथ जोर-जबरदस्ती भेज दिया परन्तु मीरा दृढ़प्रतिज्ञा (Resolve) से नहीं टली। उन्होंने कहा –

ऐसे वर को के वरूँ, जो जनमै और मर जाय।
वर वरिये गोपाल जी, म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

उनकी माता जी ने उन्हें संदेश भेजा "मीरा, तुम किस कारण हम सभी से नाराज़ हो? हमने दहेज तो बहुत दिया है, और भी देते हैं। तुम वहाँ राणा के साथ रहो; वही तुम्हारे घर है।" परन्तु मीरा ने लिख भेजा कि मुझे दहेज मत दो, बस एक गिरधर मिल जाय।

करते हुए कहा–

सीसीद्यो रूठयो तो म्हारो काई कर लेसी।
म्हे तो गुण गोविन्दरा गास्याँ हो माय।।
राणा जी रूठयो तो बाँरो देस रखासी।
हरि जी रूठयो किठे जास्याँ हो माय।।

मीरा जी ने कहा कि अगर राणा जी रूठ गये तो अधिकाधिक यही होगा कि देश से निकाल कर दूसरे, बाहर के देश में भेज देंगे परन्तु अगर हरि जी रूठ गये तो फिर मैं कहाँ जाऊंगी?

खैर, मीरा जी के पति सिरोदियाजी ने तो अपने विषय-विकारों के लिए दूसरी पत्नी कर ली, और उन्होंने आखिर मीरा जी को पवित्र रहने की स्वीकृति भी दे दी। परन्तु कुछ वर्षों के बाद जब उनकी मृत्यु हो गयी तो मीरा जी के देवर, राणा विक्रामाजीत ने मीरा जी को बहुत सताया। लोगों ने भी राणा को बहुत भड़काया कि मीरा रात-भर कमरा बन्द कर के किसी पुरुष के साथ गाती-नाचती है और दिन में भी सत्संगों में जाती है और, इस प्रकार, राणा कुल की लाज गँवा रही है। या तो यह दुष्चरित्र है या दीवानी हो गयी है। तब राणा ने मीरा को विष का प्याला भेजा। उन्होंने यह कहला भेजा कि हरि का चरणामृत भेज रहा हूँ जबकि था वह विष। मीरा ने वह पी लिया। फिर उन्होंने एक पिटारी में काला साँप भेजा और कहला भेजा कि सालिग्राम भेज रहा हूँ। इस प्रकार, मीरा की बहुत परीक्षाएं हुई ज़हर भेजने पर मीरा जी ने कहा –

राणा जी ज़हर, दियो मैं जाणी।
जिन हरि मेरे नाम निवेरया, छरयो दूध अरू पाणी।
जब लग कंचन कसियत नाहिं, होत न बाहर बानी।

फिर, जब उनके पास साँप भेजा गया तो वे बोली–

मीरा मगन भइ हरि के गुण गाय।।
साँप पिटारो राणा भेज्या, मीरा हाथ दिया जाय।
न्हाय-धोय जब देखण लागी, सालगराम गई पाय।
मीरा के प्रभु सदा सहाई, राखे विघ्न हटाय।।

भजन भाव में मस्ती ड़ालती, गिरधर पै बलि जाय।। इतनी परिस्थियों का सामना करने पर और भक्ति-पूजा करने पर भी पहले तो गिरधर-दर्शन की उनकी इच्छा पूरी न ई। इसलिए उन्होंने कहा –

दरस बिन दुखण लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे मेरे प्रभु जी, कबहुँ न पायो चैन।
सबद सुनत मेरी छतियाँ कंप मीठे लागे वेण।
एक टकट की पंथ निहारूं भई छहमासी रैण।
बिरह किया कासूं कहूं सजनी, वह गयी करवत नैन।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, देख मटेण सुख दैण ॥

ऐसा होने पर भी वे दृढ़ता से भक्ति करती ही रहीं और आखिर उन्हें श्री कृष्ण का साक्षात्कार हुआ। तब उन्होंने कहा –

आज मैं देख्यो गिरधारी।
सुन्दर बदन मदन की शोभा चितक अवियारी॥
बजावत बंसी कुंजन में।
गावत लाल तरंग रंग धुन नचत ग्वालगन में॥
माधुरी मूरति वह प्यारी।
बसी रहै निसिदिन हिरदे टरै नहीं टारी॥
वाही पर तन मन है वारी॥

इस तरह मीरा ने मन लगाकर आराधना-साधना की और गिरधर को पति रूप में याद किया –

बात सुनाई और कहा कि – "मेरे लिए तो तुम ही सब-कुछ हो! तुम्हारी आयु बड़ी हो और तुम्हारे जीवन में सुख हो तो मुझे खुशी होगी ही।"

भरतृहरि की रानी का प्यार वहाँ के पुलिस के सर्वोच्च अधिकारी से था और उसका एक वैश्या से। रानी ने पुलिस अधिकारी को वह फल दे दिया और उसने उस वैश्या को और हरेक ने अपने प्रिय से यही कहा कि वह फल साधू ने दिया था और उससे धन-धान्य, सुख-समृद्धि और भाग्य बना रहेगा।

वह वैश्या अथवा गणिका राजा के यहाँ नृत्य किया करती थी। अत: अगले दिन जब वह राजा के यहाँ गयी तो फल ले गयी, क्योंकि वह राजा को बहुत अच्छा मानती थी और उसके प्रति आभारी थी। उसने वह फल राजा भरतृहरि को दिया और यह भी बताया कि यह एक साधु ने दिया और उसने इसमें वरदान भर दिया है।

यह सब देख और सुन कर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सभी पूछताछ की तो उसे पता लगा कि कैसे एक का दूसरे से लगाव है। परन्तु कहने को सभी यही कहते हैं कि अमुक से प्यार है जबकि उनके दिल के टुकड़े हुए-हुए हैं।

राजा भरतृहरि ने उस पर गम्भीरता से विचार और मनन, चिन्तन (Reflection) किया और एहसास (Realisation) किया कि वास्तव में किसी का भी किसी से सच्चा प्यार नहीं है। अत: उसने दृढ़ निश्चय किया कि अब वह शिव से ही सच्ची प्रीति करेगा। तब के बाद उसने मन लगाकर साधना की और संस्कृत में वैराग्य पर एक पुस्तक लिखी जो कि प्रसिद्ध है।

मोहन लाल कर्मचंद गाँधी के जीवन-परिवर्तन में भी मुख्यत: यही कारण थे। जब वे लण्डन पढ़ाई के लिए गये थे तो उनकी माता ने उनसे प्रतिज्ञा कराई थी कि वह वहाँ न कभी मांसाहार करेंगे, न मद्यपान और न स्त्री-भोग। उनकी इस दृढ़-प्रतिज्ञा ही ने उन्हें पतित होने से कई बार बचाया था – ऐसा उन्होंने अपनी जीवन-कहानी में स्वयं लिखा है।

फिर दक्षिण अफ्रीका में, सही टिकेट होने के बावजूद भी जब एक बार रेल यात्रा करते हुए एक टिकेट-कण्डकटर ने उन्हें भी रेल-डब्बे से बाहर धकेल दिया और उनका समान भी बाहर प्लेटफार्म पर फेंक दिया तब उन्हें एहसास (realisation) हुआ कि देश की गुलामी का अभिशाप क्या होता है। गहराई से विचार करने पर उन्हें यह अपमानजनक लगा और उन्होंने दृढ़प्रतिज्ञा (Resolve) की कि वे अब देश को स्वतंत्र कराने में ही अपने जीवन का सर्वस्व लगा देंगे। उसके बाद उन्होंने ऐसा ही किया। यद्यपि वे न तो कोई बहुत अच्छे वकील थे और न विद्यार्थी जीवन में बहुत प्रतिभाशाली परन्तु ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिंसा व्रतों को लेकर साधना करने के बाद वे महात्मा भी कहलाये और गीता

के बल से तथा साधना से उन्होंने अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का ऐसा विकास किया कि वे जगत-प्रसिद्ध हो गये और देश को स्वतंत्र कराने में भी सफल हुए।

ऊपर तो हमने उन व्यक्तियों के उदाहरण दिये हैं जो भक्तिमार्ग के अनुयायी थे और जिन्होंने अपने जीवन में जब गहराई से विचार या मनन-चिंतन (Reflection) किया और एहसास (Realisation) किया और फिर दृढ़-निश्चय से दृढ़प्रतिज्ञा (Resolve) कर के मन लगा कर साधना की तो उनके जीवन में काफ़ी बड़ा परिवर्तन आया था। परन्तु हम देखते हैं पिता श्री दादालेखराज के प्रजापिता ब्रह्मा पद पर आसीन होने की जो कहानी है, वह भी प्राय: इन्हीं कारकों (Factors) पर आधारित हैं।

अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों से जबकि दादा श्री नारायण की भक्ति किया करते थे। गहराई से विचार (Reflections) करने तथा मनन-चिन्तन में लगे रहते थे। बाद में, उन्हें कई दिव्य साक्षात्कार हुए। एक बार उन्होंने दिव्य दृष्टि से देखा कि कोई स्व्-प्रकाश तारे से हैं और वे जब नीचे धरती पर उतरते हैं, तो उनमें से कोई दैवी राजकुमार और कोई दैवी राजकुमारी का रूप धारण कर लेता है। उन्हें एक बार ज्योति-बिन्दु परमपिता शिव का भी साक्षात्कार हुआ। तब उन्हें ऐसा लगा कि उनका सारा कमरा लाल-सुनहरे अव्यक्त प्रकाश से भरा है और वह ज्योति-बिन्दु शिव उन्हें बहुत ही धीमी आवाज़ में कह रहे हैं – "अब ऐसी सुखमय नई सृष्टि रचनी है। आपने ही इस कार्य के निमित्त बनना है। "

तब दादा ने बार-बार इन महावाक्यों और साक्षात्कारों पर गहराई से विचार (Reflection) किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इस पवित्र, दिव्य एवं सद्गुणों से युक्त सृष्टि की स्थापना के लिए पवित्र एवं गुणवान बनना है। उन्होंने पवित्रता की दृढ़प्रतिज्ञा (Resolve) की और उसके लिए निरंतर पुरुषार्थ किया। उन पर कटु आलोचना भी हुई तथा अनेक प्रकार के विघ्नों का उन्हें सामना करना पड़ा परन्तु वे दृढ़ता पूर्वक अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे। उनके इस दृढ़ संकल्प तथा महान पुरुषार्थ के कारण ही वे भागीरथ हुए। शिवबाबा ने उनके शरीर को धारण किया और वे प्रजापिता ब्रह्मा हुए। चूंकि शिवबाबा ने उन द्वारा सत्यज्ञान दिया, राजयोग की शिक्षा दी और दिव्यगुणों की धारणा कराई, इसलिए वे सम्पूर्णता को प्राप्त हुए।

इन कुछेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि मनोपरिवर्तन के लिए गहरा विचार अथवा मनन-चिन्तन (Reflection), एहसास (realisation), दृढसंकल्प या प्रतिज्ञा (Resolve) तथा अनेक विघ्न आने पर मन लगाकर निरंतर पुरुषार्थ करना ही जीवन में विशेष परिवर्तन के साधन हुआ करते हैं।



मनुष्य-जीवन का उच्चतम लक्ष्य

नर से श्री नारायण तथा नारी से श्री लक्ष्मी पद की प्राप्ति

यह कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य एक मननशील प्राणी होते हुए भी अपने जीवन के लक्ष्य को स्पष्ट रूप से नहीं जानता अथवा उसके विषय में सभी मनुष्यों का एक मत नहीं है। बहुत-से लोग तो आज यही कहते हैं कि उनका लक्ष्य अपने धन्धे में सफ़लता प्राप्त करना है। वे कहते हैं – "हमारे जीवन का लक्ष्य तो यही है कि हमारा कारखाना अच्छी तरह से चल निकले, व्यापार काफ़ी अच्छा हो जाये अथवा हमारे दर्जे (Status) में हमें तरक्की मिल जाये ताकि हम काफ़ी धन प्राप्त करके अपनी गृहस्थी को भी अच्छी तरह से सुख-सुविधाएं पहुंचा सकें और स्वयं भी बुढ़ापे में अथवा अपनी असमर्थता की स्थिति में, धन के बल से ठीक रह सकें।" मानो ये लोग धन ही को अपना ईश्वर मानते हैं और अपना सारा दिन धन ही की साधना और आराधना में लगा देते हैं। दो शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्राय: मनुष्य सम्पत्ति की प्राप्ति ही को अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं।

परन्तु प्रश्न उठता है कि जिनके पास धन या सम्पत्ति है, क्या वे अपने जीवन से पूरी तरह सन्तुष्ट हैं? क्या धन के अतिरिक्त मनुष्य को और किसी प्राप्ति की इच्छा नहीं होती? आप देखेंगे कि यदि किसी मनुष्य के पास धन तो काफ़ी हो परन्तु स्वास्थ्य न हो तो भी वह अपने जीवन को अधूरा मानता है। बहुत बार रोगी मनुष्य चाहते हैं कि बहुत धन खर्च करने पर भी उन्हें किसी प्रकार स्वास्थ्य मिल जाये परन्तु फिर भी उन्हें आरोग्यता प्राप्त नहीं हो पाती। अत: स्पष्ट है कि धन ही सब कुछ नहीं है बल्कि स्वास्थ्य भी मनुष्य के लिए ज़रूरी है।

मन की शान्ति आवश्यक

इसके अतिरिक्त, **मन की शान्ति** भी मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है। यदि मनुष्य के मन को शान्ति प्राप्त नहीं है तो उसे धन भी नहीं सुहाता। कितने ही उदाहरण इतिहास में हमें मिलते हैं कि राजाओं ने अपनी अतुल सम्पत्ति को भी मन की शान्ति के लिए छोड़ दिया।

इसी प्रकार, आप देखेंगे कि कई लोग जनता द्वारा यश प्राप्त करने अथवा उनकी

शासन सत्ता को अपने हाथ करने, उनका नेता बनने अथवा उनकी सेवा करके भी उन द्वारा 'जनता-सेवक' कहलाने के लिए अपने तन की भी सुध नहीं लेते, अपने धन को भी न्योछावर कर देते हैं और अपने मन के चैन की भी परवाह न करके उसे समझा-बुझा देते हैं।

तो आप विचार करने पर इसी निर्णय पर पहुंचेंगे कि हर-एक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है तो दुःख की पूर्ण निवृत्ति और सुख की प्राप्ति ही, परन्तु आज वह अधूरे ही प्रयत्न कर रहा है। कोई मनुष्य धन का सुख प्राप्त करने के लिए अपने स्वास्थ्य और अपने मन की शान्ति की परवाह नहीं करता, कोई मन की शान्ति के लिए धन के सुख को और घर-बार को छोड़कर जंगल में जाने की सोच रहा है और कोई तन का सुख प्राप्त करने के लिए सारा धन लुटाने को तैयार हो रहा है, तो कोई जनता की खातिर अथवा जनता से सुख प्राप्त करने के लिए इस सभी से हाथ धोने के लिए तैयार है। परन्तु वास्तव में तो दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तथा तन, मन, धन और जन, इन चारों प्रकार के सम्पूर्ण और स्थाई सुखों की प्राप्ति ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है।

आप ज़रा सोचिये कि उस मनुष्य का क्या हाल होगा जिसके पास धन तो बहुत हो परन्तु जिसका बच्चा कुल को कलंकित करने वाला हो, अवज्ञाकारी हो या धन को बरबाद करने वाला हो और कोई न कोई उत्पात मचाते रहने वाला हो अथवा जिसके कारख़ाने के मज़दूर आये दिन हड़ताल करके अथवा काम से जी चुराकर मालिक को हानि पहुँचाते रहें? उस धनवान का क्या हाल होगा जिस पर चोरों और डाकुओं की निगाह लगी रहती हो और जिसके पीछे पड़कर मतलबी दोस्त खूब गुलछर्रें उड़ाते रहें अथवा जो धनवान मनुष्य अपने ही व्यसनों और वासनाओं के कारण शराब, कबाब और शबाब में ही अपने दिन गुज़ारने लगे? अथवा, उस धनवान की क्या गति होगी जो धन इकट्ठा करते-करते चार दिन की चाँदनी देखकर शीघ्र ही मौत के मुँह का ग्रास बन जाये? अतः धन ही सब कुछ नहीं है बल्कि मनुष्य को चारों ही प्रकार का सम्पूर्ण और सदा काल का सुख चाहिए।

हो सकता है कि आज किसी मनुष्य के जीवन में यह चारों प्रकार का सुख थोड़ा-बहुत हो। परन्तु आप देखेंगे कि आज की दुनिया में किसी भी व्यक्ति के सब दिन सम्पूर्ण सुख से नहीं गुज़रते। आज यदि कोई सुखी है तो कल उसे तन का रोग, व्यापार में घाटे, सम्बन्धियों की ओर से अशान्ति, सरकार की ओर से कठिनाई, दुर्घटना के कारण अथवा प्राकृतिक आपदा के कारण पीड़ा अथवा बुढ़ापे का दुःख आ घेरता है। आज के इस संसार में स्वजनों-सम्बन्धियों इत्यादि के कारण भी तो मनुष्य दुःखी होता है [illegible]

यदि कोई व्यक्ति दु:खी नहीं है तो भी उसे समझना चाहिए कि इस जीवन में कभी भी दु:ख आ सकता है और वैसे भी इस तमोप्रधान पुरानी तथा निस्सार दुनिया में सुख का सार नहीं। सच्चे सुख की अवस्था (Stage) तो वह अवस्था है जिसमें दु:ख का पता ही न हो। मनुष्य को न केवल अपने जीवन में सम्पूर्ण सुख प्राप्त हो बल्कि उसे अन्य किसी के दु:ख का भी समाचार न मिले, वह अन्य किसी को भी दु:खी न देखे और उसके चारों ओर किसी भी प्रकार का दु:ख हो ही नहीं। उसे यह मालूम ही न हो कि रोग, शोक, लड़ाई-झगड़ा, आपदा और अशान्ति क्या होते हैं! परन्तु आज मनुष्य को सुख की इस स्टेज का ज्ञान ही नहीं है। वह समझता है कि इस दुनिया में दु:ख तो अनादि काल से चला आया है। मनुष्य ने अपने इस जीवन के आरम्भ से दु:ख का अस्तित्व तो देखा ही है, अत: वह समझता है कि मनुष्य-जीवन तो ऐसा ही होता है। उसे सम्पूर्ण सुखमय जीवन का पता ही नहीं है, इसलिए वह उसके लिए पुरुषार्थ ही नहीं करता बल्कि, आज की दुनिया में जो ऊंचा जीवन समझा जाता है, वह उसी को ही अपना लक्ष्य मानता है। वह सम्पूर्ण सुख की बात को कल्पना मानता है अथवा उसे असम्भव समझता है।

परन्तु आप ज़रा सोचिये कि यदि यह चारों प्रकार का सुख कभी भी मनुष्य को उपलब्ध नहीं हो सकता तो मनुष्य इसकी इच्छा ही क्यों करता है और इसके लिए भगवान् से प्रार्थना क्यों करता है? मनुष्य को इच्छा हमेशा होती ही उस चीज़ की है जो पहले कभी न कभी उसे प्राप्त रही हो अथवा जिसका उसने पहले कभी अनुभव किया हो परन्तु समयान्तर में वह उसे गंवा बैठा हो। अत: आज मनुष्य 'विश्व-शान्ति', 'रामराज्य', 'घर-घर स्वर्ग', 'सभी में भाई-भाई जैसा प्रेम', इत्यादि के लिए जो इच्छा और प्रयत्न करते हैं उनसे स्पष्ट है कि कभी विश्व की, राज्य की, घर-गृहस्थ की तथा मानव की ऐसी स्थिति रही होगी जिसमें सभी को सम्पूर्ण और स्थाई सुख प्राप्त रहता है और दु:ख, रोग, अशान्ति, लड़ाई का नाम मात्र भी नहीं होता। वास्तव में वही सुख प्राप्त करना मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। उस अवस्था को **'जीवनमुक्त अवस्था'** कहते हैं क्योंकि वह जीवन सभी प्रकार के बन्धनों, दु:खों, रोगों इत्यादि से मुक्त, अति सुखी, अति प्यारा और अति मधुर और सार वाला जीवन होता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या इस मनुष्य-सृष्टि में ऐसा भी कोई जीवन हो सकता है अथवा क्या ऐसे भी कभी कुछ लोग हुए हैं जिनके जीवन में वह चारों प्रकार का सुख ऊपर बताई स्टेज तक प्राप्त हो? विश्व का जो इतिहास आज मनुष्य मात्र को मालूम है उसके अनुसार तो कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ परन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि के

आदि काल में हमारे जो पूर्वज हुए हैं उन्हें सम्पूर्ण और स्थाई सुख प्राप्त था। उस काल को सतयुग अथवा कृतयुग के नाम से याद किया जाता है और उस युग के सर्व प्रथम विश्व महाराजन् और विश्व-महारानी श्री लक्ष्मी और श्री नारायण की मूर्तियाँ भी बाद में पूजी जाती रही हैं। उस समय की सृष्टि ही वास्तव में स्वर्ग अथवा वैकुण्ठ थी और 'यथा राजा-रानी तथा प्रजा' सभी को अपार सुख प्राप्त था। कहावत प्रसिद्ध है कि शेर और गाय एक घाट पर पानी पीते थे, और 'दूध और घी की नदियां बहती थीं', 'प्रकृति उनकी दासी थी', 'काया उनकी निरोगी थी', अकाले मृत्यु नहीं होती थी, सभी मनुष्य दिव्य-गुण धारी और सतोप्रधान होते थे और इसलिए उन्हें "देवी-देवता" कहा जाता है। आपने ध्यान दिया होगा कि श्री लक्ष्मी-श्री नारायण को दोनों ताजों से युक्त दिखाया जाता है अर्थात् उन्हें रत्न-जड़ित सोने के ताज से तथा प्रकाश के ताज "प्रभा मण्डल" से भी सुसज्जित दिखाया जाता है। ये दोनों ताज भी क्रमश: सुख-सम्पत्ति और शान्ति के सूचक हैं।

आज श्री लक्ष्मी और श्री नारायण की जीवन-कहानी को न जानने के कारण भारतवासी उनकी ज़ड़ प्रतिमाओं का पूजन मात्र ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। वे उन-जैसा बनने का पुरुषार्थ नहीं करते। उन्हें यह मालूम नहीं है कि कभी हम भारत-वासियों का अपना जीवन भी पहले ऐसा ही था और कि श्री लक्ष्मी-श्री नारायण सतयुग में इसी सृष्टि पर चक्रवर्ती, अखण्ड, निर्विघ्न और अति सुखकारी राज्य करते थे। उन्हें ज्ञान नहीं है कि सतयुग में 'यथा राजा रानी तथा प्रजा' सभी पूर्ण सुखी थे परन्तु बाद में धीरे-धीरे सृष्टि में दु:ख क्यों आया और अब वह कैसे दूर हो, वे इन रहस्यों को भी नहीं जानते। अत: वे जीवन को श्रेष्ठ बनाने की ओर ध्यान नहीं देते बल्कि यह समझ बैठे हैं कि जीवन जैसे आज चल रहा है, सदा वैसा ही रहता है।

अत: आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने जीवन के इस लक्ष्य को जाने और प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे। श्री लक्ष्मी और श्री नारायण आदि देवी-देवता भी तो हमारी ही तरह तन-धारी थे और वे गृहस्थी भी थे। यदि हम अपने जीवन में पवित्र और दिव्य गुणों की धारणा करें अथवा कमल पुष्प के समान रहें तो हम भी गृहस्थ के कर्त्तव्यों को निभाते हुए उनके समान बन सकते हैं।



ब्रह्मचर्य

अखण्ड ब्रह्मचर्य की महिमा से शास्त्र भरे पड़े हैं। लेकिन पूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थापना ब्रह्मा ही आ कर कराते हैं। वस्तुत: ब्रह्मचर्य का अर्थ होता ही है– **ब्रह्मा का आचरण।** जैसे दिन में किये गए आचरण को दिनचर्या कहते हैं वैसे ही ब्रह्मा के आचरण को ब्रह्मचर्य कहते हैं। पद्मपुराण कहता है कि पूर्वकाल में ब्रह्मा ने शुद्ध अन्त:करण वाले ऋषियों के सामने ब्रह्मचर्य के धर्म का प्रतिपादन किया था। गीता में भगवान ने काम को 'महाशत्रु' घोषित किया है और आज्ञा दी है कि ज्ञान-विज्ञान के नाश करने वाले इस काम रूप पाप को निश्चय-पूर्वक मार। एक बार प्रज्वलित हुई कामाग्नि वर्षों की तपस्या और साधना को भस्मीभूत कर देती है। अत: परमात्मा आकर ज्ञान का तीसरा नेत्र देकर इसका समूल विनाश कराते हैं। पौराणिक कथा भी है कि जब काम का उत्पात चरम सीमा पर पहुँच गया तो भगवान् शिव ने तीसरा नेत्र खोल कर उसे भस्म कर दिया। अर्थात् मनुष्यात्माओं को ज्ञान का तीसरा नेत्र देकर काम-विकार का समूल नाश 21 जन्म अथवा आधा कल्प के लिए कर दिया। रति के बहुत विनती करने पर उन्होंने कहा कि काम पुन: द्वापर में जन्म लेगा। यह उल्लेख सिद्ध करता है कि सतयुग और त्रेता में इस पृथ्वी पर काम का अस्तित्व नहीं था। उस समय 16 कला सम्पूर्ण, सर्वगुण सम्पन्न, सम्पूर्ण निर्विकारी देवताएं यहाँ निवास करते थे जिनकी उत्पत्ति योग-बल से होती थी। छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है कि ब्रह्मचर्य के तप से देवता मृत्यु को जीत लेते है, यहाँ तक लिखा है कि जिसको तप कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है। यही सर्प-यज्ञ भी है, जिसमें 5 विकार रूपी सर्पों की आहुति दी जाती है।

महाभारत में हरिवंश पर्व में कालिय नाग का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके 5 मुख थे और उनसे उच्छ्वास के साथ आग की लपट उठती थी। उसकी जीभ चंचल गति से लपलपाती रहती थी और मुँह में आग भरी थी। वह पाँच भयंकर एवं स्थूल सिरों से [illegible] था। कृष्ण उसके बिचले विशाल सिर पर चढ़ गए और नृत्य करने लगे। [illegible] कूदने से सर्प का दिमाग ठण्डा हो गया और मुँह से खून निगलता हुआ [illegible] कि मेरा [illegible] विष नष्ट हो गया है। अब मैं आपके आधीन हूँ। रूपक की भाषा में [illegible] और उसके पाँच सिर पाँच विकारों के प्रतीक हैं। जब उसके विष से [illegible] प्रज्वलित हो जाती है तो परमात्मा शिव आकर इसका दमन करते हैं।

भगवान् ने कहा भी है कि इसीलिए ब्रज में मेरा निवास हुआ है और इसीलिए मैंने गोपों में अवतार ग्रहण किया है। इस कुमार्ग पर स्थित हुए दुरात्मा का दमन करने के लिए ही यहाँ मेरा अवतार हुआ है। अब विचारणीय प्रश्न है कि क्या परमात्मा का अवतरण एक नाग का दर्प-दमन के लिए ही हुआ था?

महाभारतकार का कथन है कि "ब्रह्म-विद्या ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही उपलब्ध होती है। देवताओं ने मृत्यु से बचने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया था। ब्रह्मचर्य के पालन से ही ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है। इस जगत् में ब्रह्मचर्य से बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है," इत्यादि। उर्वमुनि से कहा गया कि आप स्त्री-संयोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करें, तो उन्होंने उत्तर दिया कि ब्रह्मा ने मानसी प्रजा की सृष्टि की थी। उस समय स्त्री-पुरूष का संयोग और चित्त की विकृति (कामातुरता) नहीं थी। जिसमें आत्मिक बल है वह मानसिक सन्तान पैदा कर सकता है और उन्होंने योग-बल से पुत्र उत्पन्न भी किया। मनु-स्मृति में वर्णन आता है कि ब्रह्मा के पुत्रों ने भी मानसिक सृष्टि की थी। कालक्रम से, युगपरिवर्तन से तपः सृष्टि क्षीण हो जाने के कारण आगे चलकर मानसी सृष्टि का होना बन्द हो गया, केवल मैथुनी सृष्टि ही रह गयी। फिर भी समय-समय पर ऐसे तप सिद्ध भी होते रहे जिनके द्वारा मानसी, चाक्षुसी आदि सृष्टि होती रही – ऐसा शास्त्रों में लिखा है। समष्टि तमोगुण के उद्रेक से अब ऐसा समय आ गया है कि लोग विश्वास करने से भी हिचकिचाने लगे हैं कि बिना स्त्री-पुरूष के संयोग से भी सृष्टि हो सकती है।

कुछ भी हो काम विकार को नरक का द्वार तो माना ही गया है। यही दूसरे विकारों को जन्म देता है। ये सभी विकार मिलकर मानव के लिए दुःख और अशान्ति का कारण बनते हैं। अतः मनुष्य को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन तो करना ही चाहिए। क्योंकि इससे ही आत्मिक शक्ति मिलती है।



सम्पूर्ण स्टेज के पुरुषार्थ का स्वरूप

सम्पूर्ण स्टेज के पुरुषार्थ का स्वरूप क्या है उसको जानने से पहले तो यह पता होना चाहिए कि सम्पूर्ण स्टेज क्या है? सम्पूर्ण स्थिति को ही 'अन्तिम स्थिति' भी कह सकते हैं। सम्पूर्ण स्थिति प्राप्त करने का अर्थ यह है जैसे निराकार बाप है, वैसा ही मुझ आत्मा को भी बनना है। अब प्रश्न उठता है कि सम्पूर्ण बनने के लिए मुझे क्या करना है?

सम्पूर्ण स्थिति को प्राप्त करने के लिए विशेष पुरुषार्थ पहले तो यह करना है कि मन में सदैव यह शुद्ध संकल्प हो कि मुझ आत्मा को वापिस अपने घर, अर्थात् शान्तिधाम, में जाना है। इसके लिए यह चेक (Check) करना है कि मैं कहाँ तक इस देह-अभिमान से परे की स्थिति में रहता हूँ, अर्थात् देही-अभिमानी अवस्था में रहता हूँ। उसके लिए दिन-रात यही अभ्यास करते रहें कि मैं सर्व प्रकार से उपराम रहता हूँ? उपराम रहने का अर्थ केवल दैहिक सम्बन्ध से परे रहना ही नहीं बल्कि पुराने संस्कारों से भी बुद्धि परे रहे। ज्यों-ज्यों आत्मा देह व देह की दुनिया से परे जाती है त्यों-त्यों वह पावन और शक्तिशाली होती जाती है क्योंकि जितना ऊपर जाती है उतना सर्वशक्तिवान बाप के समीप आ जाती है।

सम्पूर्ण स्थिति कैसे बने

हमें चाहिए कि सम्पूर्ण स्थिति बनाने के लिए अन्तर्मुखता में रहें। अन्तर्मुखी रहने से सर्व संकल्प परमपिता शिव की याद में समा जाते हैं और उस परमपिता की याद में रहने से आत्मा पवित्र (Pure) बनती जाती है।

इसके अतिरिक्त हमें चाहिए कि हम स्वयं में यह दृढ़ संकल्प रखें कि मुझे सम्पूर्ण बनना ही है। दृढ़ता से शक्ति आती है और अपने ऊपर अटेन्शन (Attention ध्यान) रहता है जिससे टेन्शन (Tension तनाव) खत्म हो जाता है।

फिर, हमें मन में सदैव यह भी याद रहे कि हम इस देह में कल्याण के निमित्त रहे हुए हैं और हमें अपने शक्तिशाली प्रकम्पनों (Powerful Vibrations) से, शुद्ध संकल्पों से विश्व को पावन बनाना है। इसी एक संकल्प के सिवाए और दूसरा कोई संकल्प न रहे।

फिर हमें सदैव अपने सिर पर लाईट के ताज (Crown Of Light) का अनुभव हो। मुझे पूरे विश्व को लाईट (Light) और माईट (Might) देनी है उसके लिए सदैव यही

स्थिति रहे कि मैं बाप के समान पावन हूँ, योगी हूँ, फरिश्ता हूँ। फरिश्ते का फर्श वालों से कोई रिश्ता नहीं। यह मंत्र सदा याद रहे तो सहज ही साक्षीपन की स्थिति रह सकती है।

पुनश्च, हमें सदैव यह याद रहने से कि मुझे कर्मातीत बनना है, कोई भी व्यक्त कर्म मेरी बुद्धि को भारी नहीं कर सकता। आत्मा पक्षी की तरह अतिन्द्रिय सुख में उड़ती रहेगी।



हमें चाहिए कि सम्पूर्ण स्थिति बनाने के लिए अन्तर्मुखता में रहें। अन्तर्मुखी रहने से सर्व संकल्प परमपिता शिव की याद में समा जाते हैं और उस परमपिता की याद में रहने से आत्मा पवित्र (इली) बनती जाती है।

मधुर

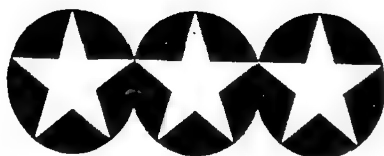
इस अलौकिक ज्ञान को यथार्थ रूप से समझकर अपने से हर एक के जीवन में अलौकिक मधुरता अवश्य आती जानी चाहिये, क्योंकि यह ज्ञान है ही माया के कड़वेपन अथवा विष के कांटे को निकाल बाहर करने के लिये। परन्तु यह मधुर अवस्था रह तभी सकती है जब कोई मनुष्य इस अद्भुत सृष्टि-लीला के भेद को जानकर एकरस परमपिता परमात्मा की याद में टिका रहे। जब तक कोई मनुष्य सृष्टि लीला के भेद को पूरा नहीं समझा है तब तक उसकी अवस्था मधुर नहीं हो सकती, क्योंकि अनेक प्रकार के ऊंच-नीच, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान की परिस्थितियाँ आने से अगर कोई मनुष्य 'भावी' से सन्तुष्ट नहीं है और उसे देखते हुए भी साक्षी व स्वरूप-स्थित नहीं है तो उसकी अवस्था हर्षित रह ही नहीं सकती।

इसलिये इस याद में रहना है कि – ''बनी-बनाई ही हर हालत में बन रही है; अब नई तो कुछ भी बननी नहीं है। इस अद्भुत सृष्टि-लीला में हर एक मनुष्य अपना अनादि-निश्चित अभिनय (पार्ट; Part) कर रहा है। हम किसी को दोष देकर ईश्वर के दरबार में दोषी क्यों बनें? हर कोई अपने ही किये कर्मों का फल पाता है। इसलिये किसी पार्टधारी को निन्दा, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि का पार्ट (कर्म) करते देखकर, हमें उससे विकल्पों का आदान-प्रदान (एक्सचेन्ज; Exchange) नहीं करना है बल्कि उसके प्रति मधुर दृष्टि से, हर्षित हृदय से, सदा मुस्कराते हुए ही पेश आना है। हमें खुद (स्वयं) अपने ही कर्मों के लिये ज़िम्मेदार होकर अपनी बिगड़ी को बनाना है। तभी तो 'आत्मा को अपना शत्रु आप और अपना मित्र भी आप' कहा गया है, क्योंकि दूसरों के प्रति बुरा सोचकर स्वयं भी बुरा बनने वाले मनुष्य का अपना भी कल्याण नहीं होता है।''

अतएव अगर कोई व्यक्ति किसी ज्ञानवान मनुष्य के प्रति कड़वी दृष्टि रखता है, उससे कड़वा बोलता है अथवा विघ्नकारक कर्म करता है तो वह ज्ञानवान मनुष्य सोचता है कि – ''यह तो मेरे ही कर्मों की भावी अमुक व्यक्ति द्वारा मेरे सन्मुख आ रही है। अगर किसी मनुष्य के भूत (Past) अथवा वर्तमान कर्म बिल्कुल ही निर्दोष अथवा श्रेष्ठ हों तो कोई मनुष्य उसकी निन्दा कर ही नहीं सकता, गाली दे ही नहीं सकता और प्रकृति भी कष्ट पहुँचा नहीं सकती और परिस्थितियाँ या परिणाम विपरीत हो नहीं सकते। यह सब होता इसलिये है कि मनुष्य को अपने ही विपरीत कर्मों की भोगना भोगनी होती है।''

अत: कर्मों की इस गुह्य गति (फ़िलासॉफ़ी) को समझ कर हर्षित हो, साक्षीपन की अवस्था में टिक, सहनशीलता से कर्म-भोग भोगना ही ज्ञानी की रीति है; क्योंकि इन विपरीत परिस्थितियों से तो अपने पापों का बोझ सर से उतरता जाता है ना? इससे तो आगे के लिये कल्याण ही होता है।

जो मनुष्य अपने आप से सन्तुष्ट अथवा प्रसन्न नहीं, वह दूसरे मनुष्यों को भी प्रिय अथवा मधुर प्रतीत नहीं हो सकता। इसलिये पहले तो स्वयं में दैवी गुण लाने चाहियें, क्योंकि दिव्य वस्तु ही सुखकारक होने के कारण स्वयं को और अन्य सबको एक न एक दिन अवश्य प्रिय लगती है। अत: मधुर बोलने, मधुर रीति देखने, मधुर चाल चलने और मधुर कर्म (ऐक्ट; act) करने का मतलब ही है – मन, वाणी तथा कर्म का दिव्य होना अर्थात् देवता बनना। देखो कौवा भी काला होता है और कोयल भी काली होती है, परन्तु कोयल को सब पसन्द करते हैं और काँव-काँव करने वाले कौवे को सब लोग उड़ा देना चाहते हैं, क्योंकि मीठे बोल ही सबको प्रिय लगते हैं। परन्तु वास्तव में मीठे बोल तो अव्यक्त अवस्था में स्थित हुई ज्ञानी आत्मा ही के हो सकते हैं, क्योंकि उस ही की वाणी कल्याणकारी होती है। इसलिये ज्ञानी अथवा योगी की ही अवस्था 'मधुर' होती है।



सहयोग-असहयोग



स संसार में जितने भी संगठन अथवा संस्थान हैं, उनका उद्देश्य संस्था के सदस्यों के सहयोग से एक सांझे लक्ष्य को प्राप्त करना है। संस्था के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य जिन लोगों को वो लक्ष्य अच्छा लगता है, वे भी यथा योग्य यथा इच्छा उसमें सहयोग देते हैं। सबसे पहले ऐसा संगठन, जो परस्पर सहयोग से चलता है, कुटुम्ब अथवा परिवार है जिसमें जन्म लेते ही व्यक्ति को सहयोग मिलने लगता है और शरीर छोड़ने तक वह सहयोग पाता है। इस जीवन-यात्रा के बीच में अपनी मनोवृत्ति तथा परिस्थिति और स्वभाव के अनुरूप वह सहयोग देता भी है। इस प्रकार सहयोग से ही यह संसार चल रहा है क्योंकि हरेक व्यक्ति को इस बात का थोड़ा-बहुत एहसास है कि एक-दूसरे के सहयोग के बिना न कोई व्यवस्था बन सकती है न मनुष्य की आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं और न ही उसका जीवन सुखमय हो सकता है। संसार में जितने रिश्तेनाते हैं, वे परस्पर सहयोग ही को उत्पन्न करने के लिए बने हुए मालूम होते हैं। आज हम जिन्हें 'कर्त्तव्य' और 'अधिकार' की संज्ञा देते हैं, वह तो एक प्रकार से कानूनी संज्ञा है। व्यवहार दर्शन में तो उसे परस्पर सहयोग कहना ही अधिक उपयुक्त है।

सहयोग का सम्बन्ध परस्पर स्नेह, सहानुभूति, लक्ष्य अथवा उद्देश्य की एकता, व्यवस्था बनाने की चेष्टा और जीवन को सुखमय बनाने के भाव से है। इसके पीछे मनुष्य की यह मान्यता छिपी है कि हरेक मनुष्य की कुछ आवश्यकताएं हैं और उन सभी आवश्यकताओं को (पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि) व्यवस्था के बिना पूरा नहीं किया जा सकता और इस व्यवस्था को बनाने, चलाने अथवा सफ़ल करने के लिए परस्पर सहयोग ज़रूरी है। यदि हम यह कहें कि मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक अथवा बहुमुखी विकास के लिए भी सहयोग अत्यावश्यक है तो अतिश्योक्ति न होगी। जहाँ सहयोग न हो, वहाँ खुशी की कमी, उत्साह का अभाव और जीवन में भारीपन तथा घुटन महसूस होती है और सहयोग न देने वाले तथा सहयोग की आवश्यकता महसूस करने वालों के बीच नाराज़गी, उलाहना, मनमुटाव, अनबन तथा संघर्ष पैदा हो जाता है तथा जीवन में स्नेह और खुशी की बजाय मायूसी, रिक्तता, वंचना और गति-अवरोध का अनुभव होता है यहाँ तक कि अगर बार-बार ही कोई सहयोग न

देकर असहयोग की भावना की अभिव्यक्ति करता है तब उसके प्रति सामान्य जन के मन में घृणा, क्रोध और तनाव भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार यह जीवन सुखमय की बजाय दुःखमय बनने लगता है।

चूँकि हरेक व्यक्ति अपना जीवन सुखमय बनाना चाहता है इसलिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में हरेक के मन में यह तथ्य अंकित है कि सफ़लता और खुशी के लिए सहयोग देना और लेना चाहिए। परन्तु स्वार्थ, लोभ, निरंकुश इच्छाओं और कुछेक कुत्सिक संस्कारों के वशीभूत होकर कई व्यक्ति अपना मतलब हल करने के लिए सहयोग देने के समय आंखें फेर लेते हैं अथवा वे सब के हित का विचार न करके, सबकी भलाई न सोचकर अपना ही उल्लू सीधा करना चाहते हैं। इन्हें ही 'मतलबी', 'स्वार्थी', 'स्नेहहीन', अथवा 'मतलब परस्त' कहा जाता है। संसार में संघर्ष पैदा करने वाले व्यवस्था को बिगाड़ने वाले, संगठन को कमज़ोर करने वाले, समाज में विघटन पैदा करने वाले तथा किसी कार्य की खुशी को भंग करने वाले यही लोग हुआ करते हैं।

सहयोग की बजाय स्वार्थ को अपनाने वाले लोग यह नहीं समझते कि स्वार्थी को दूसरों की शुभ भावनायें और शुभ कामनायें प्राप्त नहीं होती और कि दूसरों के आशीर्वाद तथा उनकी शुभ मनोभावना के बिना प्रात की हुई चीज़ वैसे ही होती है जैसे कोई छीनकर, झपटकर, चोरी करके अथवा लूट-खसूट करके अपनी शक्ति का भय देकर अथवा आतंक करके कोई चीज़ हथिया लेता है। ऐसी प्राप्ति तो निकृष्टतम है। यह उस मिठाई की तरह से है जो देखने में तो सुन्दर और स्वादिष्ट मालूम होती है परन्तु जिसे बनाने वाले हलवाई ने कीट-पतंग, अथवा मक्खी-मच्छर से दूषित चाश्नी प्रयोग की हो। इस प्रकार असहयोग मन की किसी-न-किसी प्रकार की मलीनता अथवा प्रदूषण ही का प्रतीक है। हाँ, किसी की परिस्थिति ही ऐसी हो कि तन के रोग, समय की अत्यन्त व्यस्तता, धन की शून्यता अथवा अभाव के कारण वह सहयोग न दे सकता हो, परन्तु ऐसा व्यक्ति मन से शुभ भावना और अपनी लाचारी को ऐसे ढंग से व्यक्त करेगा जिससे दूसरे को उसकी मजबूरी का एहसास हो।

असहयोग के कई रूप हैं। कोई व्यक्ति अन्य किसी योग्य, कार्य-कुशल, अनुशासित एवं मर्यादा युक्त व्यक्ति को यदि उसकी उन्नति के लिए नये-नये अवसर न देकर स्वयं ही सब प्रकार के अवसरों को अपने ही लिये प्रयोग करे तो इसे क्या कहेंगे? यद्यपि यह स्पष्ट रूप से असहयोग मालूम नहीं होता, परन्तु यह दूसरों के प्रति हित भावना, स्नेह

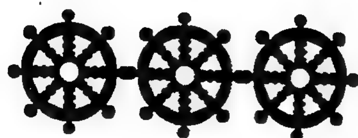
आदि से तो रहित ही है और स्वार्थ युक्त तथा संघर्ष-उत्पादक है, यह भी तो एक प्रकार का शोषण है। असहयोग केवल उस व्यवहार को नहीं कहा जा सकता कि जिसमें सहयोग मांगने वाले को सहयोग से वंचित रखा जाए बल्कि जहाँ सहयोग की आवश्यकता हो और उस आवश्यकता का किसी को पता है और पता होने पर भी तन, मन, धन, शुभ भावना, शुभ कामना, उत्साह वर्द्धक बोल या उत्कर्ष के लिए अवसर अथवा सहुलियत न देना भी तो जाने-अनजाने एक प्रकार का असहयोग ही है। अच्छा, यह 'असहयोग' न सही परन्तु यह 'सहयोग' भी तो नहीं है। सूक्ष्म रूप से सहयोग का अभाव तो है ही।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कई बार नकारात्मक अथवा ऋणात्मक (Negative) पहलु को भी स्पष्ट करना पड़ता है। उससे गुणात्मक (Positive) पहलु और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसलिए ऊपर सहयोग के अतिरिक्त असहयोग के बारे में भी कुछ कहा गया है क्योंकि यह कहना स्पष्ट करने के विचार से आवश्यक समझा गया है। कोई व्यक्ति धूम्रपान करता है अथवा शराब पीता है तो उसे कहना ही पड़ता है (चाहे हाथ जोड़कर कहना पड़े) कि "भाई, सिगरेट मत पीयो", "शराब पीना छोड़ दो" क्योंकि यह तुम्हारे लिये भी हानिकारक है और इससे सारा वातावरण तथा घर-परिवार बिगड़ जाता है। मतलब-परस्ती उससे अधिक नहीं तो कम-से-कम उतनी तो खराब है ही।

कहने का भाव यह है कि परस्पर सहयोग या कम-से-कम सहयोग की भावना अथवा उसकी चेष्टा तो आध्यात्मिकता का एक चिह्न है। करुणा, दया, कृपा, लोक-कल्याण सेवा, दान, त्याग ये तो बड़े गुण हैं परन्तु यदि कोई सहयोग की पहली सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ा तो मानिये कि वह सच्ची आध्यात्मिकता से दूर खड़ा है। थोड़ा-बहुत सहयोग तो हम एक जाति के पशुओं में भी देखते हैं; मानव तो महान् है। अत: केवल स्वार्थपरक जीवन जीने की बजाय उसे दूसरों के लिए भी कुछ जीना चाहिए। सेवा और उत्सर्ग में ही उसका उत्कर्ष है। मानव से अति मानव (Superman) बनने की ओर उसका यह पहला कदम है जो उसमें दिव्यता का विकास करता जाता है।

अभी 'सर्व के सहयोग से सुखमय संसार' — इस नाम से जो सेवा योजना बनाई गई है, उसका यही मुख्य उद्देश्य है कि मनुष्य में यह भावना जागृत की जाये कि वह केवल स्वार्थ ही का जीवन न जिये, बल्कि विश्व को एक कुटुम्ब मानकर, अपने सहित सर्व के हित को सामने रखकर, संसार में स्नेह और सौहार्द से व्यवहार करता हुआ, इसे

सुखमय बनाने में अपना सहयोग दे। इसका यह भी उद्देश्य है कि सहयोगी के अतिरिक्त लोग योगी भी बनें। ताकि वे केवल सहायक ही न हों, बल्कि सहयोगी अर्थात् योगयुक्त होकर सहकारी बनें। इस संसार में इस समय लोग अनेकों प्रकार के दु:खों से पीड़ित हैं और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अशान्त एवं दु:खी कर रहा है। सहयोग देने की बात तो अलग रही, बहुत लोग दूसरों से निर्दयता, निरीहता और संतप्त एवं त्रस्त करने वाला व्यवहार करते हैं। इसलिए अब उनके स्वभाव को परिवर्तित करके मानव-मानव को परस्पर सहयोगी बनाना ही इसका लक्ष्य है। हर कोई अपने व्यवसाय अथवा धन्धे से अपना ही पेट पालने में न लगा रहे बल्कि अपनी विशेष योग्यता, कार्य-कुशलता या व्यवसाय क्षमता से दूसरों की भी कुछ भलाई करे – यह इसका एक लक्ष्य है। साथ-साथ वह अपनी ऐसी बुराइयों को भी छोड़े जिनसे दूसरों को कष्ट मिलता है और वातावरण में प्रदूषण अथवा अशान्ति फैलती है – यह भी इस योजना का एक अंग है और जो पहले से ही योगी अथवा सहयोगी हैं वे और अधिक सहयोगी बनें तथा दूसरों को भी सहयोग और विकास का अवसर दें – यह भाव भी इसमें निहित है।



मर्यादा



तयुगी सृष्टि और कलियुगी दुनिया में एक विशेष और महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्रथम युग में मर्यादा होती है। उस मर्यादा ही के कारण तब परस्पर सम्बन्धों में अनबन पैदा नहीं होती। हर व्यक्ति हर दूसरे के व्यवहार से सन्तुष्ट होता है। कोई किसी की इज़्ज़त पर कभी भी हाथ नहीं डालता। अपमान, निन्दा, आक्रमण, अत्याचार, अनाधिकार चेष्टा, सीमा-उल्लंघन इत्यादि का नाम-निशान नहीं होता। इसी व्यवस्था के बारे में कहा गया है कि 'गाय को भी शेर से भय नहीं होता' और शेर अधिक बलशाली होने पर भी न दुर्व्यवहार करता है और न दूसरों के जीने के अधिकार का अतिक्रमण ही करता है। वहां 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' की कहावत चरितार्थ नहीं होती बल्कि हरेक के अधिकार हर दूसरे के श्रेष्ठ व्यवहार द्वारा सदा सुरक्षित रहते हैं। उनके कर्मों में अनौचित्य, असभ्यता, अशिष्टता, अभद्रता, अनियमितता या अमंगल भावना कदापि नहीं होती। इसलिए उस समय की दुनिया प्रेम और पावनता की सृष्टि, नेह और नैतिकता का संसार और रास तथा रस का जगत होता है।

अमर्यादा ही दुःख का मूल

इसकी तुलना में कलियुग का संसार ऐसा संसार है जिसमें हाय-हल्ला हो रहा है। बहू सास का सम्मान नहीं करती और सास हर समय बहू को डांटती-डपटती है। प्रजा सरकार द्वारा बनाए नियमों का उल्लंघन करती और सरकार पुलिस द्वारा प्रजा पर लाठी व गोली बरसाती है। एक-दूसरे का सम्मान, और एक-दूसरे के प्रति कृतज्ञता तथा कर्त्तव्य-पालन के न होने से ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि जिसमें कोई किसी से सन्तुष्ट नहीं। हर कोई हर दूसरे की निन्दा अथवा आलोचना करने में अथवा उसके प्रति मन-मुटाव व्यक्त करने में व्यस्त है। ऐसे वातावरण में न सहयोग है न सहनशीलता और इन सबके परिणामस्वरूप दुःख ही दुःख है, क्योंकि हर कोई हर दूसरे को कांटे की तरह चुभ रहा है। अमर्यादा के कारण ही इस संसार को कांटों का जंगल (Forest of thorns) कहा गया है। आज छोटे बड़ों का आशीर्वाद अथवा उनसे इजाज़त लेकर काम करने में अपनी स्वतन्त्रता की कमी अनुभव करते हैं। जो समान स्तर के सम्बन्धी हैं, वे एक-दूसरे को सम्मान पूर्वक सूचना देने में अपनी शान और अपनी ऊंचाई में कमी अनुभव करते

हैं और हर किसी की जिह्वा पर ये शब्द हैं –

"हम तो उसे पूछते ही नहीं; वह कौन होता है?".....

"हम क्या उससे कम हैं? क्या हम उसके नौकर हैं जो उससे पूछते रहें?"....

"नित्य प्रति हम ही उसे नमस्ते कहें, वह अपने को क्या समझती है?"....

"हमें क्या आवश्यकता है कि हम किसी को बुलाएं? जिसे आना हो, आ जाए; नहीं आता तो न आए?"....

मर्यादा में ही सुख की शोभा और व्यक्तित्व की महानता है

इस प्रकार मनुष्य का मुख 'कमलमुख' नहीं रहा। मुख की शोभा मनुष्य के वचन से होते हैं और वो वचन बिगड़ जाने से अथवा मर्यादा नष्ट हो जाने से मनुष्य की सूरत और सीरत दोनों बदल गए हैं। मुख द्वारा पुष्प वर्षा होने की बजाय पत्थर बरसते हैं। अपने सम्मान की भावना अधिक, दूसरों को सम्मान (Regard) देने की भावना कम है – ऐसी एक हवा चली हुई है। बड़ों का अभिवादन करना भी छोटे अपनी हतक मानने लगे हैं। वे यह नहीं समझते कि यह भी एक अभिमान का रूप है – ऐसा अभिमान जिसमें घृणा, द्वेष और उद्दण्डता भरे हुए हैं। समकक्ष के लोग भी एक-दूसरे का लिहाज़ नहीं करते, कहा-सुनी में कोर-कसर नहीं छोड़ते। वे इसे ही स्वतन्त्रता मान बैठे हैं जबकि है वास्तव में ये अनुशासनहीनता। आज सभाओं में भी अनुचित शब्दों का प्रयोग होता है। इसे वे असंसदीय भाषा (Unparliamentary Language) कहते हैं। आम बोलचाल में, घर में, गाड़ी में जिस भाषा का प्रयोग होता है, उसकी तो बात ही मत पूछिये। खूब शब्दों का कीचड़ उछाला जाता है।

जहाँ मर्यादा है, वहाँ कानून की आवश्यकता नहीं

सतयुगी सृष्टि में न विधान सभाएं होती हैं न विधि-विधान बनाये जाते हैं, न उनको लागू करने वाला गृह मन्त्रालय होता है न पकड़-धकड़ करने वाली पुलिस और न दण्ड-चंड देने वाले कारावास क्योंकि लोग स्व-अनुशासित हैं और उत्तम मर्यादा वाले हैं। उनमें परस्पर स्नेह है और वे खूब हँसते-बहलते भी हैं परन्तु वे ऐसी हँसी नहीं करते जिसमें किसी का दिल दुःखे। न वे ऐसा खेल खेलते हैं जैसे इस कलियुगी सृष्टि में होली के दिन कई खेलते हैं या बन्दूक लेकर जंगल (Game Centuries) में पशुओं और पक्षियों का शिकार करते हैं। वहां किसी भी प्रकार की चंचलता और स्वच्छन्दता (Looseactivity)

है ही नहीं। इसलिए रामायण आदि जैसे ग्रन्थों में आज भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें यह कहा गया है कि सतयुग त्रेता में प्रजा स्वशासित (Self-disciplined Self-Governed) होती है। वहां कोई दण्ड-संहिता (Penal Code) नहीं होती, न ही दण्ड की आवश्यकता होती है।

अमर्यादा के पीछे अपवित्रता छिपी है

देखा जाए तो मर्यादा में सभी दिव्य गुण समाए हैं क्योंकि नियन्त्रण तथा पूर्ण संयम वहां होता है जहां मन निर्विकार हो। कामी मनुष्य कामाधीन होता है; वह काम को काबू नहीं कर पाता। क्रोधी सब नियन्त्रण तोड़कर आपे से बाहर हो जाता है। लोभी सरकार द्वारा बनाए नियमों, समाज द्वारा स्थापित मर्यादाओं और डॉक्टरों द्वारा बताई सावधानियों को तोड़कर अन्न आदि के लोभ में विचरता है। मोह वाला मन के काबू को खोकर दूसरे पर लोट-पोट हो जाता है और जिसमें अहंकार है उसका नियन्त्रण तो ऐसे टूट चुका होता है जैसे मद-मस्त हुए हाथी का। नियन्त्रण खो जाने से ही मनुष्य अपराध में प्रवृत्त होता है। अनुशासन गंवा देने से ही मनुष्य तोड़-फोड़ करता है। इस प्रकार मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि मर्यादा को भंग करना गोया विकारों की भांग पीना है।

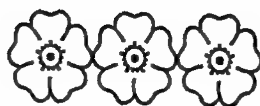
मर्यादा में पवित्रता और सर्वगुण समाये हैं

दूसरी ओर मर्यादा में नियन्त्रण, गम्भीरता, स्वमान और परसम्मान तथा संयम आदि समाए हुए हैं। अपनी जिह्वा पर भी नियन्त्रण हो और मन पर नियन्त्रण उसी का होता है जिसकी बुद्धि बलशाली और विवेक युक्त हो। और बुद्धि उसी की बलशाली व विवेक युक्त होती है जिसमें सत्य-असत्य का प्रखर निर्णय हो और जिसमें पवित्रता व तपस्या की शक्ति हो। अत: योगी ही मर्यादा वाला हो सकता है। जो मर्यादा को भंग करता है, वह निश्चय ही भोगी है। या तो उसमें इच्छाएं और तृष्णाएं हैं कि जिनको पूर्ण करने और भोगने में वह बड़ों की बात नहीं मानता। समक्ष वालों का भी लिहाज़ नहीं करता। और संसार में कुरीति फैलने का भी उसको विचार नहीं रहता। मर्यादा-पालन करने वाले के मन में स्वत: ही यह भाव समाया रहता है कि हरेक व्यक्ति महान् है और कि कानून को अपने हाथ में लेना ग़लत है। तिरस्कार करना तिमिर में जाना है और सबका सम्मान करना तथा स्वयं में मान्यता का गुण होना ही महानता है।

मर्यादा ही से व्यवस्था, अमर्यादा से अनाचार

हम देखते हैं कि सरकार के कार्य में हरेक का अपना-अपना स्थान (Protocol) निश्चित है। इसके अनुसार ही हरेक को मान मिलता है। मान और मर्यादा साथ-साथ चलते हैं। जेलर का स्थान अपना है, 'मेजर जनरल' का अपना और कैप्टिन का अपना। यदि स्थान के अनुसार आज्ञा-पालन और सम्मान न हो तो फ़ौजी अनुशासन या व्यवस्था चला नहीं सकते। इसी प्रकार, सिविल कार्यों में भी हरेक का अपना-अपना स्थान है। प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति का अलग-अलग स्थान है। राज्य की शोभा इसी में है कि हरेक अपने-अपने कार्य को यथा-अधिकार करें और दूसरों को यथा-स्थान सम्मान दें तथा हर कोई दूसरों से शिष्टतापूर्वक व्यवहार करे। ऐसा स्वाभाविक रूप से न होने के कारण ही संसार में अवैधानिकता (Lawlessness) फैलती है और बढ़ते-बढ़ते अफरातफरी हो जाती है। ऐसी अमर्यादा ही का नाम धर्म-ग्लानी है। धर्म मर्यादा-पालन सिखाता है। उससे व्यवस्था, स्नेह तथा सुचारूता स्थापित होते हैं। अत: परमपिता परमात्मा धर्म-ग्लानि अथवा मर्यादा-ग्लानि के समय अवतरित होकर अनुशासन या मर्यादामूलक धर्म की पुन: स्थापन कराते हैं।

अत: जो मनुष्यात्माएं ईश्वरीय ज्ञान लेती, योगाभ्यास करती, पवित्र बनने का पुरुषार्थ करती तथा दिव्यगुण धारण करती हैं, उन्हें मर्यादा का भी पूर्ण पालन करना चाहिये क्योंकि हरेक को मर्यादा पुरुषोत्तम भी बनना है और मर्यादा वाली सृष्टि की स्थापन के निमित्त भी।



समर्पण

आध्यात्मिक विकास के लिए दो तरह की साधनायें हैं — एक पुरुषार्थ में विश्वास रखते हैं। वे पूर्ण स्वावलम्बी होते हैं। परमात्मा की करुणा पर भी वे आश्रित नहीं होना चाहते। उनकी साधना संकल्प की पूर्णता की साधना है। वे अपने तीव्र संकल्प द्वारा आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त करते हैं। परावलम्बन को वे आध्यात्मिक मार्ग की बाधा समझते हैं। बुद्ध और महावीर की साधना पुरुषार्थ की, संकल्प की साधना है। अत: उसे श्रमण संस्कृति कहा जाता है — वह संस्कृति जिसकी प्राप्ति श्रम द्वारा हो। चैतन्य तथा मीरा की साधना समर्पण की साधना है। हमें और कुछ नहीं करना है। केवल अपने को पूर्णतया परमात्मा के हाथों में छोड़ देना है। फिर वह सब कुछ हमारे लिए कर देता है।

समर्पण की साधना सहज है

पुरुषार्थ की, संकल्प की साधना अति श्रम-साध्य है। अत: सबके लिए सम्भव नहीं. समर्पण की साधना सहज है। इसमें हमें अपने को परमात्मा पर पूर्ण रूपेण छोड़ देना है तथा अपनी तरफ से कोई बाधा उपस्थित नहीं करनी है। जैसे बिल्ली का बच्चा माँ के लिए कोई बाधा उपस्थित नहीं करता। परमात्मा हमारे परमपिता, परम कल्याणकारी हैं। वे करुणा के सागर, प्रेम के सागर, तथा ज्ञान के सागर हैं। उनके हाथों में अपने जीवन-नौका की पतवार छोड़ देने पर नौका कदापि पथ भ्रष्ट नहीं हो सकती। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी तरफ से चिन्ता छोड़ परमात्मा के श्रेष्ठ काम का साधन मात्र बन जाय। उसमें हमारा कल्याण ही होगा। यह सृष्टि-नाटक एक बना-बनाया खेल है। उसका प्रत्येक पार्ट हमारे कल्याण के लिए ही है। उसमें संशय उठाना व्यर्थ है। अत: हर्षित रह हमें सृष्टि-नाटक के प्रत्येक दृश्य को साक्षी हो देखते रहना चाहिए। परमात्मा पर हमें उतना ही अटूट विश्वास होना चाहिए जितना एक बच्चे का माँ पर होता है।

परमात्मा के प्रति समर्पित होने से सदा कल्याण

एक बार एक नवविवाहित दम्पत्ति समुद्र में यात्रा कर रहे थे। अचानक ज़ोर का

तूफ़ान उठा और जहाज़ डगमगाने लगा। सभी लोग घबड़ा गए लेकिन वह युवक हर्षित मुख बना रहा। उसकी पत्नी ने पूछा कि क्या आपको चिन्ता नहीं हो रही है। युवक ने तलवार निकाली और पत्नी की गर्दन पर टिका दी। लेकिन वह घबड़ाई नहीं। युवक ने पूछा तुम घबड़ाती क्यों नहीं जब तलवार की नोक तुम्हारी गर्दन पर है। उसने उत्तर दिया कि आप मुझसे इतना प्रेम करते हैं कि मैं सोच भी नहीं सकती कि आप के हाथों मेरा नुकसान होगा। युवक ने कहा उसी तरह परमात्मा का मुझसे असीम प्रेम है और उनके द्वारा मेरा कुछ भी नुकसान नहीं हो सकता। जो भी होगा उसमें मेरा कल्याण छिपा होगा। अतः मैं निश्चिन्त हूँ।

परमात्मा के हाथों में अपने को छोड़ देने पर दुःखद घटनाएं भी सुखद बन जाती हैं। श्राप वरदान बन जाता और विष अमृत। अपनी ओर से चिन्तित होकर हम विपत्तियों को बढ़ाते ही तो हैं। इसके अनेकों भौतिक दृष्टान्त भी हैं। युवा या वृद्ध पुरुष जब ऊंचाई से गिरते हैं तो उनकी हड्डियाँ टूट जाती हैं। लेकिन छोटा बच्चा गिरता है तो कुछ नहीं होता। क्यों? युवा व्यक्ति बुद्धिमान है। वह अपने को बचाने का प्रयत्न करता है। गिरते समय अपने को बचाने के प्रयत्न में उसकी हड्डियाँ कड़ी हो जाती हैं; ज़मीन की चोट से कड़ी हड्डियाँ टूट जाती हैं। उसकी बुद्धि ही उसके लिए खतरनाक सिद्ध होती है। बच्चे में ऐसी बुद्धि नहीं होती है। गिरते समय भी वह निश्चिन्त रहता है तथा उसमें अपनी रक्षा का कोई भी विचार नहीं उठता। उसकी हड्डियाँ मुलायम बनी रहती हैं और उसे कोई भी विशेष चोट नहीं आती।

समर्पित करने वाला ही विश्व सागर से पार

परमात्मा की इच्छा पर अपने को समर्पित कर देने वाला व्यक्ति सदा सफ़ल होता है। आप देखते हैं कि मुर्दा पानी में तैरता रहता है पर जिन्दा डूब जाता है। क्या क्षमता है मुर्दे में? कौन-सी विशेषता है उसमें? सिर्फ यही कि वह लड़ता नहीं वरन् नदी में अपने को छोड़ देता है। नदी में अपने को समर्पित कर देने के कारण मुर्दा तैरता रहता है। नदी से बचने का संघर्ष करने के कारण जिन्दा व्यक्ति डूब जाता है। तैरने की भी तो यही कला है। प्रवीण तैराक मुर्दा बनने की कला जान जाता है। वह अपने को नदी में छोड़ देता है। संघर्ष नहीं करता। परिणामस्वरूप वह तैरता रहता है। जल तो आपको ऊपर फेकता है। आप स्वयं संघर्ष कर नीचे चले जाते हैं। भंवर में पड़ने पर यदि कोई बचने

के लिए हाथ पैर पीटता है तो वह अवश्य डूबेगा। मनुष्य की शक्ति भँवर की शक्ति के आगे नगण्य है। उससे लड़कर वह थकेगा और डूब जायेगा लेकिन जो अपने को भँवर में निश्चेष्ट छोड़ देता है उसे भँवर ऊपर फेक देता है। वह कभी डूबता नहीं। इसी तरह जो सर्व-कल्याणकारी सर्व-शक्तिमान् परमात्मा के हाथों में अपने को समर्पित कर देता है वह अन्ततोगत्वा सदा विजयी होता है।

समर्पण का आधार श्रद्धा

आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रद्धा बहुत बड़ी सम्पत्ति है। श्रद्धा ही तो समर्पण का आधार है संशय ग्रस्त व्यक्ति कभी परमात्मा को नहीं पा सकता। बीसवीं शताब्दी संशय से भर गई है। अत: परमात्मा से तथा आध्यात्मिकता से बहुत दूर चली गयी है। विज्ञान प्रत्येक वस्तु पर संशय करना सिखलाता है। भौतिक क्षेत्र में तो संशय की मनोवृत्ति से हमें अनेकानेक उपलब्धियाँ हुई। लेकिन आध्यात्मिक प्रगति के लिए संशय की मनोवृत्ति बहुत खतरनाक सिद्ध हुई। आत्मानुभूति और ईश्वरानुभूति के लिए श्रद्धा की मनोवृत्ति अत्यावश्यक है। आज के युग में श्रद्धा की मनोवृत्ति अत्यावश्यक है। आज के युग में श्रद्धा के पुनर्जागरण की अत्यावश्यकता है।

श्रद्धा द्वारा ही परिवर्तन सम्भव

तर्क चेतन मन की वस्तु है। उससे हम किसी के चेतन मन को ही प्रभावित कर सकते हैं। लेकिन अचेतन मन – हृदय अछूता रह जाता है। चेतन मन का प्रभाव क्षणिक होता है। अत: किसी को हम तर्क से पराजित कर बदल नहीं सकते। परिवर्तन तो तभी होगा जब उसका अचेतन मन प्रभावित हो जाय। यह कार्य तर्क से नहीं हो सकता। अत: धार्मिक वाद-विवाद का कहीं अन्त नहीं होता। हृदय के प्रभावित होने पर ही मनुष्य बदलता है और हृदय को प्रभावित करने वाली वस्तु श्रद्धा है। जब तक तर्क बुद्धि शान्त नहीं हो जाती, मनुष्य श्रद्धा नहीं कर पाता। जागृत अवस्था में तर्क और संशय के कारण हम किसी को नहीं मानते। लेकिन सम्मोहित अवस्था में जब चेतन मन सुप्तावस्था में होता है, हम जो करते हैं, वह व्यर्थ मान लेता है, क्योंकि उस समय सीधा अचेतन मन प्रभावित होता है। समर्पण की भावदशा में भी तर्क बुद्धि शान्त हो जाती है और हृदय सीधा प्रभावित होता रहता है। उस समय अन्तर्मन का सीधा सम्बन्ध परमात्मा से हो जाता है।

परमात्मा से शक्ति, प्रेम तथा आनन्द की तरंगे प्रभावित होकर हम में प्रवेश करने लगती हैं। बिना सम्पूर्ण समर्पण के अन्तर्मन का पूरा परिवर्तन सम्भव नहीं। वह समर्पण परमपिता परमात्मा के प्रति भी हो सकता है अथवा किसी श्रद्धास्पद महान् व्यक्ति के प्रति भी।

अहम् का विसर्जन ही समर्पण है

समर्पण का अर्थ अहम् का पूर्ण विसर्जन है। क्षुद्र अहम् के कारण ही सर्वशक्तिवान् परमपिता परमात्मा से हमारा सम्बन्ध नहीं जुट पाता है। अहंकार के उन्मूलन के बाद परमात्मा की सर्वशक्तियाँ हममें प्रवाहित होने लगती हैं। गज-ग्राह युद्ध और चीर हरण इसी का प्रतीक है। जब तक गज अपनी शक्ति के अहंकार से भरा रहा, ग्राह उसे जल में खींचता चला गया। अन्ततोगत्वा जब उसका अहम् टूटा और पूरे हृदय से उसने परमात्मा से रक्षा की प्रार्थना की तो ईश्वरीय शक्ति उसमें प्रवाहित होने लगी और ग्राह मारा गया। द्रोपदी को भी जब तक अपने पतियों की शक्ति पर विश्वास था, परमात्मा की सहायता उसे न मिल सकी। सब तरफ से निराश होकर जब उसने परमात्मा को पुकारा तो परमात्मा तत्क्षण उपस्थित हो गए। गीता में परमात्मा का आदेश है – मामेकम् शरणम् व्रज। लेकिन हम केवल एक परमात्म शक्ति का भरोसा न लेकर अनेकों का भरोसा करते रहते हैं। फलस्वरूप दो नाव पर पाँव रखने वालो की जैसी हमारी गति हो जाती है।

समर्पित व्यक्तित्व शून्य होता है। उसमें कोई आशा, आकाँक्षा, कामना और वासना नहीं होती। वह परमात्मा का यंत्र, उनका वाद्य बन जाता है। मुरली की तरह वह भीतर से रिक्त होता है परमात्मा के स्वरों के लिए वह कोई अवरोध नहीं करता वह जो चाहे, जैसा चाहे वैसा बन जावे। तभी तो मुरली का इतना गायन है। धन्य हैं वे लोग जो परमात्मा की ज्ञान-मुरली, ज्ञान-वीणा बन जाते हैं। उन्हीं का जीवन सफ़ल है, कृतकृत्य है, कृतार्थ है।

समर्पण के सर्वोत्कृष्ट आदर्श

पिताश्री और श्री मातेश्वरी समर्पण के सर्वोत्कृष्ट आदर्श थे। निराकार परमात्मा शिव के एक संकेत पर रंचमात्र भी हिचकिचाहट दिखाये .बिना पिताश्री ने अपना सर्वस्व ईश्वरीय सेवा में समर्पण कर दिया। 35 वर्षों की लम्बी अवधि में उन्हें स्वयं में भी

न उठा, कठिन से कठिन परिस्थितियों में उन्होंने कभी 'क्या' 'क्यों' 'कैसे' का प्रश्न नहीं उठाया। इतना सम्पूर्ण था उनका तन-मन-धन का समर्पण। उन्होंने यश, मान, कामना का तो क्या, अपनी बुद्धि का भी समर्पण कर दिया था। तभी तो उनका निराकार परमात्मा से पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो गया था। उस सर्वशक्तिमान् की शक्ति से वे भी शक्तिसम्पन्न बन गये थे। उस प्रेम-सागर की तरंगों से तरंगित होकर वे भी प्रेम-स्वरूप बन गये थे तथा उस आनन्द सागर की लहरों में सदा आनन्दित रहकर वे लहराते रहते थे। श्री मातेश्वरी जी का निराकार परमात्मा शिव तथा उनके साकार रूप पिताश्री पर समर्पण भी ऐसा ही अद्वितीय था। पिताश्री के कठिन से कठिन आदेशों पर भी उन्होंने कभी नहीं सोचा कि यह कैसे होगा और सदा 'जी बाबा' कहा। तभी तो यह दोनों आज दैवी जगत् के दैदीप्यमान नक्षत्र बन गये हैं। जिनके दिव्य प्रकाश में पथभ्रष्ट जीवात्मायें सच्चे पथ का पथिक बन जाती हैं। और संशय ग्रस्त जीवात्मायें अपने संशय का निवारण पाकर लक्ष्य तक पहुँच जाती हैं।

परमात्मा की इच्छा पर अपने को समर्पित कर देने वाला व्यक्ति सदा सफ़ल होता है। आप देखते हैं कि मुर्दा पानी में तैरता रहता है पर ज़िन्दा डूब जाता है। क्या क्षमता है मुर्दे में? कौन-सी विशेषता है उसमें? सिर्फ यही कि वह लड़ता नहीं वरन् नदी में अपने को छोड़ देता है। नदी में अपने को समर्पित कर देने के कारण मुर्दा तैरता रहता है। नदी से बचने का संघर्ष करने के कारण ज़िन्दा व्यक्ति डूब जाता है।

स्मृति और विस्मृति

यदि हम आध्यात्मिक पुरुषार्थ के विधि-विधानों पर विचार करें तो हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि इसमें 'स्मृति' और 'विस्मृति' का अतुल महत्व है। हमारे पुरुषार्थ का प्रारम्भ ही 'आत्मिक स्मृति' से होता है। यदि हमें इस ज्ञान-बिन्दु की विस्मृति हो जाती है कि 'हम आत्माएं हैं' तो देह-अभिमान के कारण सभी मनोविकारों की उत्पत्ति होती है और उसके कारण कर्म 'विकर्म' बन जाते हैं। इस एक बात से भी हमारे पुरुषार्थ में 'स्मृति' और 'विस्मृति' का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

फिर आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने के लिये सबसे बड़ा पुरुषार्थ है "ईश्वरीय स्मृति"। उस स्मृति ही से संस्कार बदलते हैं और विकर्म दग्ध होते हैं। उससे ही इस जीवन में सम्पूर्णता आती है और भविष्य में भी जीवन-मुक्ति का लाभ होता है। यदि परमपिता परमात्मा की विस्मृति हो जाती है तो आत्मा में आध्यात्मिक शक्ति और दिव्य प्रकाश का संचार ही रुक जाता है और आध्यात्मिक विकास होना भी बन्द-सा हो जाता है।

इस प्रकार, हमारे जीवन में जो परिक्षायें आ उपस्थित होती हैं अथवा जो समस्याएं या संकट सामने आते हैं, उस समय परमात्मा द्वारा प्राप्त श्रेष्ठ मत की स्मृति बना रहना ज़रूरी है। यदि कार्य-क्षेत्र और व्यवहार-क्षेत्र में, परमपिता द्वारा बताई दिव्य धारणाएं या श्रीमत विस्मृत हो जाती हैं तो भी ऐसी परिस्थितियों को पार न कर पाने से हमारा जीवन कमल पुष्प के समान अथवा दिव्य नहीं बन पाता और हम माया को परास्त कर विजयी बनने में सफ़ल नहीं हो पाते। यदि हमें ज्ञान-बिन्दुओं की विस्मृति हो जाती है तो अज्ञान-जनित संकल्पों से युद्ध करने में हम असमर्थ हो जाते हैं और माया के आक्रमणों से हताहत हो जाते हैं। यदि समय पर हमें ईश्वरीय ज्ञान के उपयुक्त महावाक्य की शक्तिशाली स्मृति आ जाती है तो हम माया के तीव्र प्रहारों का मुकाबला करने में सफ़ल होते हैं।

हम प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा अपनाये गये परमपिता शिव के धर्म-के-बच्चे हैं, हमारा यह जीवन शुद्ध ब्राह्मण जीवन है, हम नये, पवित्र, सतयुगी, प्रेममय समाज के और दिव्य मर्यादा वाली सृष्टि के स्थापक हैं — इसकी विस्मृति के परिणाम से हमारे कर्म पुनः लौकिक, कलह-क्लेश और अनबन से युक्त हो जाते हैं। हमने अनेक वर्षों से आध्यात्मिक

पुरुषार्थ करने वालों के जीवन में देखा है कि आत्मिक और अलौकिक सम्बन्ध की विस्मृति के कारण उनके जीवन से मर्यादा मिट जाती है, स्नेह निकल जाता है और 'मेरे-तेरे' की भावना आ जाती है जिसके परिणामस्वरूप अनेकों को आन्तरिक पीड़ा का अनुभव होता है।

हमने अपने इस पुरुषार्थी जीवन में देखा है कि 'स्मृति' और 'विस्मृति' ही उन्नति और पतन के प्रदायक हैं। कई आत्माओं ने अपना जीवन परमपिता परमात्मा को समर्पित किया परन्तु कुछ समय के बाद वे अपने इस वचन को भी विस्मृत कर बैठे। उन्होंने किसी कार्य को छोड़ने से इन्कार कर दिया या जो कार्य उन्हें दिया गया, उसे करने से इन्कार कर दिया। गोया उन्हें इस बात की विस्मृति हो गयी कि अब इस तन-मन पर हमारा अधिकार नहीं रहा क्योंकि हम तो इसे परमपिता के हाथों सौंप चुके हैं। इस विस्मृति से वे अपने से बड़ों के परामर्श, सुझाव, शिक्षा या समालोचना को भी न सुनने या उसे ठुकराने को उद्यत हो गये और मर्यादा को भंग करने से भी न सकुचाये। परिणाम यह हुआ कि मन-मत, पर-मत या अहम् भाव को वे पालने लगे और आगे चलकर इसके नतीजे हानिकारक सिद्ध हुए। "मैं कौन हूं?", "हमारे साथ व्यवहार में आने वाले दूसरे कौन हैं?", "बाबा ने अपने मुखारविन्द से उनको क्या स्थान दिया है?", "हमारे बीच मान्यता और मर्यादा क्या होनी चाहिये?", "हमें एक-दूसरे के अनुभवों से लाभ उठाकर आगे कैसे बढ़ना चाहिये?", "प्यारे शिव बाबा की सेवा में अधिकाधिक गति कैसे लानी चाहिये?", "जिस सेवा के लिए हमने स्वयं को प्रभु समर्पित किया है, उसके लिये हमें तैयार रहना चाहिये" — इन सबकी विस्मृति हो जाने से संगठन को हम कमज़ोर बनाने और अपने पुराने संस्कारों में अटक जाने के निमित्त बनते हैं।

स्मृति और विस्मृति का एक और तरह भी हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कई बार ऐसा होता है कि हमें जिन बातों की स्मृति होनी चाहिये, उनको तो हम विस्मृत कर देते हैं और जिनकी हमें विस्मृति होनी चाहिये, उनको हम अपनी स्मृति में धारण कर लेते हैं। इससे भी हमारे पुरुषार्थ में, सेवा क्षेत्र में, दैवी संगठन में स्नेह बनाये रखने में बाधा उपस्थित होती है। दो व्यक्तियों के बीच यदि कोई दु:खद व्यवहार हुआ तो वे उनकी ही स्थायी स्मृति बना लेने से स्वयं भी रुक जाते हैं और कार्य में भी गति-शून्यता ला देते हैं। जो घटनाएं घटती हैं, वे हमें अनुभवी बनाती हैं और आगे के लिये कार्य को सुचारु रूप से करने के लिये कुछ शिक्षा रूपी मोती दे जाती हैं, परन्तु यदि उनके दु:खद

अंश को स्थायी स्थान दे देते हैं तो दिव्यता के उत्कर्ष में रुकावट आती है। वास्तव में हमें उनके कटु भाव को विस्मृत कर, उसके निष्कर्षों को स्मृति में रखना चाहिये।

श्रुति और स्मृति

ऊपर हमने 'स्मृति' और 'विस्मृति' के कुछेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है। वास्तव में जो ईश्वरीय ज्ञान हम सुनते हैं, वह 'श्रुति' है और ईश्वरीय याद तथा श्रीमत की याद ही 'स्मृति' है। गोया हमारा आदि सनातन देवी-देवता धर्म 'श्रुति' और 'स्मृति' पर आधारित है। परन्तु समयान्तर में लोगों ने वेदों को 'श्रुति' और मनु आदि द्वारा बताई गयी आचार-संहिता या व्यवहार-नियमावली को 'स्मृति' कहकर इन्हें ही आदि सनातन धर्म की नींव बताया। सत्यता तो यह है कि 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है – 'ज्ञान' अथवा 'जानना'। हम प्रतिदिन जो ईश्वरीय ज्ञान सुनते हैं, वह 'वेद' है जिसके चार विषय हैं। अर्थात् प्रतिदिन हम चार प्रकार की बातें सुनते – (१) आत्मा और परमात्मा विषयक सिद्धान्त, (२) योग के सिद्धान्त और विधि-विधान, (३) दिव्य व्यवहार और आचार के सिद्धान्त और (४) समाज-कल्याण के सिद्धान्त तथा उसका क्रियात्मक पक्ष। ये चारों मिलाकर 'श्रुति' हैं। ये हमने प्रजापिता ब्रह्मा के मुख से सुनी है। इसी को लेकर कई लोगों ने समयान्तर में कह दिया है कि ब्रह्मा ने चार वेद दिये और चित्रकारों ने ब्रह्मा के चार हाथ बना कर उनमें चार वेद दिखा दिये। फिर हमें जो श्रीमत मिली, उसकी हम स्मृति बनाये रखते हैं ताकि वह हमारे व्यवहार में उतर आये। उसी को लेकर युगान्तर में अन्य स्मृतियां बना डाली गयी।

अब हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हम स्मृति के स्थान पर विस्मृति और विस्मृति के स्थान पर स्मृति का उल्टा प्रयोग न करें। अर्थात् कहीं ऐसा न हो कि जिन बातों को भुलाने से हमारा कल्याण हो उन्हें तो हम स्मृति में रख लें और जिन्हें हमें स्मृति में रखना चाहिये, उन्हें कहीं हम भुला डालें। स्मृति और विस्मृति की योग्यता का सही उपयोग ही सफ़लता को देने वाला और इनका उल्टा प्रयोग हानि करने वाला होता है – यह हम भली-भांति समझ लें।



लाईन क्लीयर

स्टेशन पर जब रेलगाड़ी पहुँचती है तो मुसाफिर, गाड़ी से उतरकर प्लेटफार्म पर टहलने लगते हैं। कोई तो पानी पीने लगता है, कोई चाट-पकौड़ी लेकर खाने लगता है और कोई चाय के स्टॉल पर जाकर चाय पीने लगता है। जिसकी जो इच्छाएं और आवश्यकताएं होती हैं उन्हीं की पूर्ति के लिए वह सक्रिय हो जाता है। कई बार तो ऐसा भी हो जाता है कि वह खाने-पीने में ऐसा तल्लीन हो जाता है कि गाड़ी भी छूट जाती है। और कई बार वह रुका भी रहता है क्योंकि जब तक सिग्नल (Signal) डाउन न हो और जब तक लाइन क्लीयर न मिले तब तक गाड़ी रुकी रहती है। वह वहाँ से एक इन्च भी आगे नहीं बढ़ती। तब मुसाफिर गार्ड से, टी. टी. से, ड्राइवर से पूछताछ करते हैं कि गाड़ी क्यों रुकी हुई है, वह चलती क्यों नहीं?

उन्हें उत्तर मिलता है कि अभी लाइन क्लीयर नहीं मिली, अभी सिग्नल डाउन नहीं हुआ। जब तक लाइन क्लीयर न हो तब तक गाड़ी नहीं चल सकती।

ठीक इसी तरह, जो लोग आध्यात्मिक मार्ग पर अपनी जीवन-रूपी गाड़ी को ले जाते हैं, वे कुछ आगे उन्नति करने पर, किसी अवस्था तक पहुँचने पर, मानो किसी स्टेशन तक पहुँचने पर वे कई बार खाने-पीने में अथवा अपनी पुरानी इच्छाओं को पूर्ण करने में लग जाते हैं और परिणाम यह होता है कि वैकुण्ठधाम की यात्रा की गाड़ी से वे चूक जाते हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य का अहंकार रूपी सिग्नल डाउन नहीं होता अथवा उसकी बुद्धि की लाइन क्लीयर नहीं होती। अर्थात् वह कभी देह को, कभी विषय-पदार्थों को, कभी दैहिक सम्बन्धों को याद करने लग जाती है और इस प्रकार याद-रूपी लाइन या पटरी क्लीयर न होने के कारण उसका पुरुषार्थ वहीं रुक जाता है। उसकी अवस्था आगे नहीं बढ़ पाती। वह वहीं-का-वहीं रुक जाता है। वह अन्य पुरुषार्थियों से पूछता है कि – "क्या कारण है कि मेरी स्थिति में उन्नति नहीं हो रही, उसमें हर्ष की एवं आनन्द की वृद्धि नहीं हो रही?" इसके बारे में परमपिता परमात्मा समझाते हैं कि – 'हे वत्स, जब तक तुम्हारी बुद्धि की लाइन क्लीयर नहीं होगी अर्थात् जब तक तुम मेरी एकांतिक (Single-minded) एवं अमिश्रित (Un-mixed) याद में नहीं रहोगे और जब तक व्यर्थ या अशुद्ध संकल्पों में उलझे रहोगे तब तक यह पुरुषार्थ की गाड़ी यहीं रुकी रहेगी, यह आगे नहीं

बढ़ पायेगी।''

अत: हम सभी को अपने हृदयों को टटोलना चाहिए कि हमारी याद-रूपी लाइन पर कोई रुकावट तो नहीं, उस पर कोई पत्थर या रोड़े तो नहीं पड़े हुए, उसमें कहीं तोड़-फोड़ तो नहीं हो रही? वर्ना कोई दुर्घटना होने की, गाड़ी के पटरी पर से उतर जाने की अथवा अन्य कोई हादसा होने की आशंका रहेगी अर्थात् बुद्धि के मायावी एवं विकारी होकर कोई अकर्त्तव्य करके दंडित होने की अथवा योग के आनन्द से गिरकर नीरस अवस्था को भोगने की आशंका रहेगी। यह बात हमें अच्छी प्रकार समझकर सदा अपनी याद-रूपी पटरी को क्लीयर ही रखना चाहिए ताकि शीघ्र ही और दुर्घटना के बिना ही हम अपनी मंज़िल तक पहुँच जायें।




"हे वत्स, जब तक तुम्हारी बुद्धि की लाइन क्लीयर नहीं होगी अर्थात् जब तक तुम मेरी एकांतिक (Single-minded) एवं अमिश्रित (Un-mixed) याद में नहीं रहोगे और जब तक व्यर्थ या अशुद्ध संकल्पों में उलझे रहोगे तब तक यह पुरुषार्थ की गाड़ी यहीं रुकी रहेगी, यह आगे नहीं बढ़ पायेगी।"




''एक रस अवस्था में रहने की युक्तियाँ'

प्रफुल्लित कैसे रहें?

जो विघ्न हम हटा सकते हैं वह हटा देने चाहिए, जो हटा नहीं सकते उनके लिए क्या करना चाहिए? दुःखी होने से विघ्न कम नहीं हो जाते। दुःखी होने में तो अपनी ही हानि है। तब!

''जो जाता नहीं संवारा, वो जाए सहारा''

इसलिए प्रसन्नचित्त होकर सहन करना चाहिए। वीर मनुष्यों की यही रीत है।

यह सृष्टि हार-जीत का एक खेल है। खेल तो सदा प्रसन्नता और आमोद-प्रमोद के लिए होता है। यह भी तो तुम जानते हो कि खेल में हार भी होती है तो जीत भी होती है। तब दुःखी क्यों होते हो? खेल के राज़ को भूलना ही तो अज्ञान है। ज्ञान इसमें है कि साक्षी होकर इस खेल को देखकर हर्षित होते रहो। आमोद ही के विचार से ठीक प्रकार खेल खेलो यानी कर्म करो — ज्ञानीजन ऐसा ही कहते हैं। इस दृष्टि से जीवन सुखमय है। इसके बिना जीवन नर्क है। मृत्यु के तुल्य है। मृत्यु अथवा अभिशाप तो कोई भी नहीं चाहता। तब दुःखी क्यों हुआ जाए। क्यों न हर्षित हृदय रहा जाए। यही विचारधारा अथवा दृष्टिकोण युक्तियुक्त है एकरस अवस्था में रहने का!

यदि विनाशी और परिवर्तनीय वस्तुओं में मन लगा रहेगा तो मन की अवस्था में अवश्य ही परिवर्तन आएगा। एकरस अवस्था तो तब ही हो सकती है जबकि मन एकरस पदार्थ में लगा रहे। सदा एकरस तो एक मात्र अजन्मा, अमर परमात्मा ही है। मनुष्यों का संसार के जड़ पदार्थों में बुद्धियोग भटकने से अवस्था स्थिर और एकरस कभी भी नहीं हो सकती। इसलिए उस अविनाशी पिता से योग लगाओ। उस परमात्मा पिता को छोड़कर तुम्हारा मन कभी भी ठौर नहीं पा सकता और स्थायी सुख-शान्ति की प्राप्ति का तुम्हारा कोई भी उपाय सफ़ल नहीं हो सकता। दुःख का अनुभव तब होता है जब मनुष्य में हर्ष-शोक, निन्दा स्तुति, मान-अपमान आदि का भाव हो। यह याद रहे कि अन्तर्मुखी को कभी दुःख का अनुभव हो नहीं सकता। परन्तु मनुष्य अन्तर्मुखी तब हो सकता है जब वह अपनी वृत्तियों को देह और देह के सम्बन्धियों, व्यक्तियों से समेट लेता है। यदि खुशी का अनुभव चाहते हो तो देही का ज्ञान प्राप्त कर देही निश्चय में स्थित हो जाओ

इस बात की चुनौती है कि बिना परमात्मा की याद से कभी भी जीवन में अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। आज संसार में वैभव होते हुए भी लोग दु:खीं क्यों हैं? क्योंकि उन्हें आत्मा-परमात्मा का ज्ञान ही नहीं है।

यदि तुम्हारा मन कभी अशान्त होने लगता है या कभी तुम ऐसा अनुभव करते हो कि तुम से कुछ खो गया है तो समझ लो कि तुमने अभी मन से पूर्ण संन्यास नहीं किया। अभी तुम्हारे मन में इतना प्रेम जागृत नहीं हुआ जितना कि एक सच्चे आशिक का अपने माशूक से होता है। मन आनन्द की एकरस (सच्ची) अवस्था में उतने समय रहता है जितना समय तुमने अपना दिल उस परमात्मा दिलबर को दिया है। जब तुम दिल को वहाँ से हटाते हो तभी अशान्त माया आ जाती है। क्योंकि दिल की एक विशेषता है कि वह कभी खाली नहीं रहता। दिल परमात्मा को देना ही योग है और एकरस परमात्मा से सच्ची एकरस स्थिति प्राप्त करना है। एकरस अवस्था का न रहना ही सिद्ध करता है कि तुम्हारा मन किसी जगह पर अटका हुआ है। अब प्रश्न उठता है कि प्रभु के साथ मन पूर्ण रीति से कैसे लगे? उसके प्रति हृदय में भरपूर प्रेम कैसे जागे? विषयों और व्यक्तियों से मन का पूर्ण संन्यास कैसे हो?

इस गुह्य रहस्य को समझने के लिए अपने वर्तमान जीवन पर विचार करो और अपने से पूछो कि मेरा मन सभी व्यक्तियों व पदार्थों पर एक-सा लगता है? उत्तर मिलेगा नहीं। इसका कारण क्या है? आप कहेंगे कि मन को जहाँ से अधिक से अधिक सुख-शान्ति प्राप्त होती है वहाँ दोड़ता है भले ही वह सुख क्षणिक हो और बाद में दु:ख का ही कारण बनता हो। बस इसी उत्तर में ही तुम्हारी समस्या का समाधान छुपा है। तुम्हारा मन सांसारिक तमोप्रधान व्यक्तियों का संन्यास नहीं करता। क्योंकि तुम समझते हो कि इनसे तुम्हें रस आता है। तुम्हारा मन प्रभु में नहीं लगता। यदि तुम्हें ज्ञान द्वारा पूरा निश्चय हो जाए कि प्रभु ही मुक्ति-जीवनमुक्ति का दाता है तो कभी भी दु:ख का लेशमात्र भी नहीं आयेगा।

विघ्न तो अपने ही विकर्मों का फल समझना चाहिए। कर्म का फल तो अवश्य मिलना ही है तब घबराहट किस बात की? उसको प्रसन्नतापूर्वक सहन करना चाहिए। इससे क्लेश टल-सा जाता है। इससे शारीरिक कष्ट अथवा अन्य विघ्न हल्के हो जाते हैं। अब जो विघ्न आया वह आया ही इसलिए है कि पश्चात् आध्यात्मिक उन्नति में प्रगति होनी है, क्योंकि कलियुग के अन्त में [illegible] करने वाले की [illegible] है

अब जो हो चुका उसकी चिन्ता न करके आगे उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि प्रगति भी पुरुषार्थ के बिना अपने आप तो तुम्हारे पास नहीं चली आयेगी।

"मत रंज कर ऐ दिल तू,
गर अब यह काली रात है।
फिर वही दिन आयेगा,
दो-चार पल की बात है।"

दुःख का अनुभव तब होता है जब मनुष्य में हर्ष-शोक, निन्दा स्तुति, मान-अपमान आदि का भाव हो। यह याद रहे कि अन्तर्मुखी को कभी दुःख का अनुभव हो नहीं सकता। परन्तु मनुष्य अन्तर्मुखी तब हो सकता है जब वह अपनी वृत्तियों को देह और देह के सम्बन्धियों, व्यक्तियों से समेट लेता है।

श्रीमत

यह बात तो सर्वमान्य है कि मनुष्य अल्पज्ञ है और उसके विचार अपने जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से रंगे हुए तथा कर्म-फल के आवरण से ढके हुए होते हैं। अत: कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना भी महान् हो, पुरुषार्थ के विषय में जो अपने विचार प्रस्तुत करता है, उसमें ये तीन दोष तो सदा रहते ही हैं – १. अल्पज्ञता, २. अपने संस्कार और स्वभाव, ३. कर्म-फल का प्रभाव। अत: किसी भी मनुष्य का मत सम्पूर्ण रूप से कल्याणकारी नहीं हो सकता। एक परमपिता परमात्मा ही त्रिकालज्ञ हैं, आत्माओं रूपी बच्चों की जन्म-जन्मान्तर की जन्म-पत्री को जानने वाले हैं और सम्पूर्ण निर्मल तथा कर्म-फल से मुक्त हैं। इसलिए सभी मनुष्य आत्माओं के लिए सामान्य रूप से और किसी भी मनुष्य के लिए व्यक्तिगत रूप से वे जो मत देते हैं, वह समर्थ और कल्याणकारी होती है।

मत के विषय में एक बात यह भी है कि किसी भी व्यक्ति को राय देने के लिए उसकी योग्यता और अयोग्यता, सामर्थ्य और असमर्थता, कठिनाई और सुविधा, परिस्थिति तथा स्वस्थिति को भी देखना होता है। डाक्टर भी जब किसी रोगी को किसी रोग के लिए निश्चित औषधि देता है तो उसके लिए यह निश्चित करता है कि उसको वह औषधि कितनी मात्रा में, किस रूप में, कितने-कितने समय के बाद और किस प्रकार से देनी चाहिए। वह किसी को एक गोली देता है और किसी को दो, किसी को दिन में दो बार तो किसी को चार बार, किसी को इंजेक्शन लगाता है तो किसी को पीने को दवाई अथवा लगाने के लिए मरहम देता है; किसी को खाने के लिए पौष्टिक पदार्थ बताता है। कोई भारी-भरकम व्यक्ति हो और युवा अवस्था के वेग-पूर्ण विकार में हो तो उसे अलग मात्रा में दवाई देता है और कोई छोटा बच्चा हो तो उसी रोग के लिए उसे मीठी-मीठी, छोटी-छोटी गोलियाँ दे देता है। इसी प्रकार अध्यात्म में भी हर आत्मा के लिए एक प्रकार की औषधि ही है जो सबके लिए सामान्य होते हुए भी हर व्यक्ति की परिस्थिति-स्वस्थिति के अनुसार मात्रा में, समय में अथवा रूप में कुछ अन्तर लिये हुए होती है। तथापि कुछ बातें ऐसी होती हैं जो मौलिक अथवा आधारभूत अथवा अनिवार्य होती हैं।

एक विशेष बात यह भी है कि किसी को राय इस प्रकार से दी जाये कि उसे कोई

कार्य करना सहज, सुगम और सुहावना लगे। किसी ऊंची मंज़िल तक हंसते-खेलते, खाते-पीते और मौज मनाते हुए बातों ही बातों में किसी को पहुँचा देना एक बहुत बड़ी कला है। यह कला, जिससे मनुष्य को चढ़ती कला वाले मार्ग पर ले जाया जा सकता है, भी मनुष्यों में नहीं होती, बल्कि उनके अपने जीवन में अलबेलापन, थकावट, निराशा, द्वन्द्व, उलझन, परेशानी आदि देखी जाती है। वे मार्ग में आये हुए संकट को देखकर स्वयं अपनी ही समर्थ के विषय में संशय में पड़ जाते हैं, राई को पहाड़ मान लेते हैं अथवा मंज़िल को दूर समझकर रुक जाते हैं। उदाहरण के तौर पर, ब्रह्मचर्य पालन को ही ले लें तो मनुष्य कहते हैं कि घर-गृहस्थ में रहते हुए आजीवन इस व्रत का पालन ही नहीं हो सकता। परन्तु इसके विपरीत शिव बाबा कहते हैं कि ये तो आपका आदि स्वरूप ही है और आप अनेक बार ऐसे रह चुके हैं; यह आपके लिए कोई नई बात नहीं है। इसी प्रकार, कई लोग कहते हैं कि मन को काबू करना तो असम्भव-सा है परन्तु शिव बाबा कहते हैं कि आप अपने स्वरूप और स्वधर्म को जानेंगे तो मन स्वतः ही शान्त हो जायेगा। इस प्रकार, कंकर-पत्थर, खाई-खड्डे और कांटों तथा कठिनाइयों से भरे हुए मार्ग को पार करने के लिए शिव बाबा ऐसी मत देते हैं कि जिससे मनोरंजक तरीके से मंज़िल तक पहुँच जायें।

मत देने के विषय में एक ज्ञातव्य बात यह भी है कि जीवन-भर के लिए एक ही किश्त में सारा मत तो दिया नहीं जा सकता बल्कि चलते-चलते व्यवहारिक रूप में जो परिस्थिति अथवा जो अवस्था आती है, उसी अवसर से सम्बन्धित मार्ग-दर्शना, उत्साह वर्द्धन आदि की आवश्यकता होती है। अतः मुक्ति-जीवनमुक्ति की राह दिखाने के लिए जिस मत की आवश्यकता है, ऐसी मत देने वाला तो एक परमात्मा ही हो सकता है जो हमारी जीवन-यात्रा तक हमें अपना साथ और हाथ दे सके और किसी भी कारण से हमारा साथ न छोड़े। यदि मत देने वाला स्वयं ही कोई रोगाधीन, जराधीन, असमर्थ व्यक्ति होगा तो वह अपने मत का सहारा देने के लिए सदा हमारे साथ नहीं होगा। एक परमात्मा ही ज्योति-स्वरूप, जन्म-मरण रहित और जरा-व्याधि से मुक्त हैं जो हमें अपने मत का लाभ जीवन-पर्यन्त सहज-सुलभ रूप से देकर हमारा कल्याण करके ही रहते हैं।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखने से परमात्मा का अस्तित्व भी सिद्ध होता है। हर व्यक्ति सम्पूर्ण सुख और सम्पूर्ण शान्ति की मंज़िल तक तो पहुँचना चाहता ही है और यह सत्य अकाट्य है कि उस लक्ष्य तक ले जाने वाला स्वयं सम्पूर्ण सुख-शान्ति सम्पन्न

परमात्मा ही है जिसका मत सम्पूर्ण रूप से सत्य, समर्थ और कल्याणकारी ही है। अतः जो लोग परमात्मा के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं रखते उन्हें सोचना चाहिए कि तब वे किसके मत पर चलकर एक सम्पूर्ण सुख-शान्ति सम्पन्न जीवन की कामना करते हैं? इतिहास के पन्ने इस सत्यता की साक्षी देते हैं कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, पीर-पैगम्बर, भक्त-उपासक, मनीषि-चिन्तक, वीर और योद्धा तथा नेता और नीतिज्ञ अपने-अपने विचार-चिन्तन, सिद्धान्त और सिद्धि या बल और मत के आधार पर संसार को सम्पूर्ण सुख-शान्ति सम्पन्न नहीं बना सकते। अत: जैसे हर समस्या का कोई समाधान हुआ करता है, वैसे ही इस आभास को पूर्ण करने के लिए एक सम्पूर्ण आत्मा अर्थात परमात्मा भी है अवश्य जो अपना सम्पूर्ण मत देकर सबका कल्याण करता है। उसके अस्तित्व को न मानना गोया यह मानना है कि मनुष्य सम्पूर्ण शान्ति और सम्पूर्ण सुख के लक्ष्य तक कभी पहुँच ही नहीं सकता।

अब यह एक अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि जिसके अस्तित्व में संशय करके मनुष्य सत्य से भटक गया है अथवा जिसके स्वरूप के बारे में वह खोज कर-करके थक चुका है, उस त्रिकालक्ष्य परमात्मा का सम्पूर्ण सत्य और श्रेष्ठ मत हमें मिल रहा है और वह हमें अपना हाथ-साथ, सहयोग-सहारा, सामर्थ्य और सानिध्य देकर हमें सतत सुख-शान्ति के द्वार तक ले चल रहा है और उस द्वार के बहुत निकट हम आ पहुँचे हैं।

हम तो उस परमपिता परमात्मा के मत की श्रेष्ठता के चिरानुभवी हैं। उसके मत पर चलने से जीवन कैसा श्रेष्ठ बनता है, उसका साक्षात् उदाहरण प्रजापिता ब्रह्मा के रूप में हमारे सम्मुख है। उस जीवन की महिमा करने बैठें तो महिमा से भी एक महान् पुस्तक बन जाएगी। उस आदर्श जीवन के अतिरिक्त हम सबने अपने-अपने जीवन में भी यथा-पुरुषार्थ श्रीमत का पालन करके उसकी श्रेष्ठता का अनमोल अनुभव पाया है। परन्तु जब हम कुछ नवागन्तुक पुरुषार्थियों के सम्मुख श्रीमत की चर्चा करते हैं तो वे हमसे पूछते हैं कि वह श्रीमत क्या है जिससे जीवन श्रेष्ठ बनता है? वे इसकी रूप-रेखा जानना चाहते हैं ताकि वे भी अपने जीवन को उसके अनुसार ढाल सकें। हम उन्हें कहते हैं कि शिव बाबा की मुरली ही श्रीमत का स्रोत है। मुरली ही के झरने से अथवा अमृत सरोवर से हम श्रीमत रूपी अमृत पीकर अपने जीवन को कृत-कृत कर सकते हैं। परन्तु चूँकि मुरलियाँ तो बहुत बड़ा ज्ञान, भण्डार हैं, एक सामान्य व्यक्ति थोड़े-से समय में उसका सार जानने की कामना करता है। यों उसका सार भी थोड़ा-सा विस्तार पाकर अधिक

होता है परन्तु फिर भी हम विस्तार के सार का भी सार करते हैं।

१. श्रीमत का पहला सूत्र यह है कि हमें स्वयं को आत्मा निश्चय कर, आत्मा के शांति रूपी स्वधर्म में टिक, दूसरों को भी आत्मा देखते हुए आत्म-स्थित होकर कार्य करना है।

२. हमें स्वयं को ब्रह्मा-मुखवंशी ब्राह्मण समझकर ब्राह्मणों के लिए निर्धारित श्रेष्ठ नियमों, मर्यादाओं और विधियों का पालन करना है। उदाहरण के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, आहार की शुद्धि, संग की शुद्धि और प्रतिदिन ईश्वरीय ज्ञान का श्रवण-मनन तथा अमृतवेले का योग और सिनेमा न देखने, नॉवल न पढ़ने रूप नियमों का पालन करना।

३. देह के सम्बन्धों, पुराने रीति-रिवाज़ों, भक्ति मार्ग की प्रचलित प्रथाओं से आसक्ति मिटाने, उपराम होने और न्यारा बनने का लक्ष्य सामने रखते हुए हर लौकिक सम्बन्ध व कार्य को अलौकिक बनाना।

४. तन, मन, धन को शिव बाबा का समझकर स्वयं को निमित्त मानकर न्यासी (Trustee) की न्यायी चलना, सादा जीवन व्यतीत करना और मान तथा शान को सामने न रखकर त्याग-तपस्या को सामने रखना।

५. सदैव लोक संग्रह को सामने रखना और लोक-कल्याण की भावना के विपरीत कोई कार्य न करना। इस प्रकार जीवन को एक यज्ञ मानकर और सेवा को ध्यान में रखकर कल्याण के कार्य में लगे रहना।

६. ब्राह्मण परिवार अथवा दैवी परिवार के साथ स्नेह, सहयोग, सम्मान और सेवा का नाता निभाना और कोई भी ऐसा कार्य न करना जिससे इस परिवार की ग्लानि हो या इसकी मर्यादा भंग हो। सबसे खीर-खण्ड बनकर चलना।

७. संगमयुग को छोटा-सा युग मानकर और महाविनाश को निकट जानकर नष्टोमोहा स्मृतिर्लब्धा की शिक्षा को धारण कर कमल फूल समान और योग-युक्त जीवन व्यतीत करते हुए चढ़ती कला का पुरुषार्थ करना और दिनोंदिन अपनी शक्ति, रूहानियत आदि को बढ़ाते रहना। स्थूल तथा सूक्ष्म सेवा में ही श्वास, समय, सामर्थ्य, सम्पत्ति आदि को अधिकाधिक लगाते हुए सबका आशीर्वाद पाने का पुरुषार्थ करना।

८. बाबा की जीवन-कहानी को सामने रखते हुए अपनी परिस्थितियों को उनकी तरह

स्वस्थिति से और समस्याओं को योग-बल से सहज ही हल करना।

१. कोई भी विघ्न, परीक्षा, समस्या या विकट परिस्थिति सामने आये और उसमें स्वस्थिति में कुछ हलचल पैदा हो तो अपने से जो बड़े निमित्त हैं, अर्थात् जो योग और धारणा में आगे हैं, उनसे सहयोग लेकर चलते चलना अर्थात् शिव बाबा का हाथ, साथ और दैवी परिवार का संग तथा स्नेह तथा ज्ञान के श्रवण-मनन को छोड़ने का कभी भी संकल्प न करना बल्कि अंगद के समान अथवा महावीर की न्यायीं अपने कदम हिलने नहीं देना।

ऊपर हमने अत्यन्त संक्षेप में श्रीमत के कुछ स्तम्भ अथवा नींव-जैसे सूत्र दिये हैं। इनमें से कुछेक को अधिक महत्व देने के लिए पुनरोक्त भी किया गया है। इनसे विपरीत जो भी कार्य हों, वे श्रीमत के विरुद्ध ही होंगे और हमें सम्पूर्णता की ओर ले जाने वाले नहीं होंगे।

एक विशेष बात यह भी है
कि – किसी को राय इस प्रकार से
दी जाये कि उसे कोई कार्य करना
सहज, सुगम और सुहावना लगे।
किसी ऊंची मंज़िल तक हंसते–
खेलते, खाते–पीते और मौज मनाते
हुए बातों ही बातों में किसी को
पहुँचा देना एक बहुत बड़ी कला है।

मनोदशा और मूड

मनुष्य का मन कोरे-चिट्टे कागज़ की तरह नहीं है। इस पर हल्का या गहरा कोई-न-कोई रंग चढ़ा ही रहता है। इस पर कुछ-न-कुछ संस्कार-विचार लिखा ही रहता है। मनुष्य का हर समय कोई-न-कोई मूड भी बना रहता है। जैसे उसके भाव हों वैसी ही उसकी मनोदशा होती है। जब वह कुछ सोचता, बोलता या करता है तो जैसे उसका 'मूड' (Mood) होता है, वैसा ही वह अनुभव करता है। सामान्य मनुष्य के मूड क्षण, पल-पल में बदलते रहते हैं। इसलिए उसकी अवस्था एकरस नहीं रहती। कई मूड ऐसे हैं जिनका प्रभाव मनुष्य के शरीर और मस्तिष्क पर भी बुरा होता है और उसकी मनोस्थिति भी अशान्त होती है। और अन्य मूड ऐसे हैं जिनसे मनुष्य हर्षोल्लास की स्थिति का अनुभव करते हैं। हानिकारक मूड, जिन्हें निषेधात्मक (Negative) मनोदशा भी कहा जा सकता है, का प्रभाव मनुष्य के रक्त-चाप (Blood-Pressure), स्नायु-मण्डल, हृदय-गति, श्वास-प्रश्वास क्रिया इत्यादि पर ऐसा पड़ता है, जिससे कि आगे चलकर उसे कई रोग हो जाते हैं और मनुष्य की आयु छोटी हो जाती है। योगी मनुष्य अपने अभ्यास द्वारा एकरस, संतुलित अथवा शान्त मनोदशा में रहता है जिससे कि उसका स्वास्थ्य अच्छा होता है, आयु लम्बी होती है और मन में भी सदा हर्ष रहता है। देखा गया है कि लगभग सोलह मूड ऐसे हैं जो निषेधात्मक हैं। मनुष्य को चाहिए कि ईश्वरीय ज्ञान एवं योग द्वारा उन पर नियंत्रण करे।

नीरस -- जब मनुष्य का यह मूड हो तो उसे सबकुछ फीका लगता है, कुछ भी सुहाता नहीं। सब बातों, चीज़ों या व्यक्तियों में जिनमें उसकी कल तक रूचि थी, अब रूचि नहीं प्रतीत होती। वह कुछ नवीनता और परिवर्तन की इच्छा करता है और खोया खोया-सा रहता है। जब मनुष्य किन्हीं बातों से ऊब जाता है (Bore हो जाता है) उसकी भी कुछ ऐसी ही स्थिति होती है। ज़ब मनुष्य के विचार लोगों से नहीं मिलते या वातावरण और वस्तुएं मनोनुकूल नहीं होतीं तो भी उसकी ऐसी मनोदशा हो जाती है। ऐसी मनोदशा वाले मनुष्य के स्वभाव में रुक्षता (रुखापन) आ जाती है, उसमें रमणीयता नहीं रहती। न वह मिलनसार मालूम होता है न मधुर, बल्कि 'सीधा सिपाही' मालूम होता है और दूसरों को लगता है कि हम से अकारण ही शुष्क बोलता या परे रहता है। इसकी बजाय मनुष्य को रमणीक, विनोद-प्रिय और सरस बनना चाहिए। दूसरे शब्दों में उसे *मुदित अवस्था* धारण करनी चाहिए। यह स्थाई प्रमुदित मनोदशा या चारुता योग एवं ज्ञान द्वारा

ही आ सकती है। अब हम पहले उपरोक्त मनोदशा को ज्ञान द्वारा परिवर्तित कर मूड को ठीक बनाने की युक्ति स्पष्ट करेंगे:-

नीरस की बजाय मुदित अवस्था कैसे हो?

शिवबाबा ने समझाया है कि इस सृष्टि को ज्ञान-दृष्टि से देखोगे तो आपको ऐसा लगेगा कि यह बहुत ही अद्भुत, विराट नाटक है। इस में बहुत ही विविधता और रंगीनियाँ हैं। कैसी कैसी शक्लें और अक्लें, कैसी कैसी वेश-भूषा और भाषा, कैसी कैसी भाव-भंगिमाएं हैं! अजब-अजब बोलियाँ, लोकगीत, परम्परायें, कलायें और संस्कृतियाँ हैं। भाँति-भाँति के पशु-पक्षी, ऋतु-रीतियाँ, फल-फूल, नदी-पर्वत, इतिहास-भूगोल, तीज-त्योहार, रस्म-रिवाज, खेल-कूद, ध्वनियाँ-गीत, रस और रास हैं। चीजों के कैसे कैसे रूप हैं। आकाश मण्डल को देख लो या समुद्र-तल में, पर्वत पर चले जाओ या उपवन में, कमाल है। इसे साक्षी होकर देखो तो कभी मन नीरस नहीं हो सकता। ज्ञान होने पर स्वयं ब्रह्मा बाबा के मुखारविन्द से ये शब्द निकले थे –

आहा, आज मुझे बेहद है भाता।
देखा सृष्टि अति सुन्दर, मन है हर्षाता।।

फिर, इस सृष्टि-नाटक की सतयुग से लेकर कलियुग तक की कहानी अथवा कथा-वस्तु पर ध्यान दिया जाय तो यह विराट नाटक ऐसा युक्ति-युक्त एवं रसीला है कि बात मत पूछिये। इसमें वीर रस, शान्त रस इत्यादि सभी रस जो कवित्व, साहित्य, नाटक इत्यादि में होते हैं, उत्तम कोटि के हैं। एक-एक पार्ट बहुत अजीब-सा है। इसमें नायक, जीत-हार प्रतिनायक, सभी हैं। परमात्मा का अपना पार्ट तो विचित्र है, उसे जानकर और देखकर तो रोम-रोम में हर्ष भर जाता है।

इसके अतिरिक्त, यदि ज्ञान की इन बातों पर मनन किया जाय कि छोटी-छोटी-सी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, बिन्दुरूप आत्मा में कैसे जन्म-जन्मान्तर के संस्कार भरे हुए हैं, अथवा कैसे परमात्मा बिन्दु होते हुए भी सिन्धु है, वह कैसे विश्व-परिवर्तन का महान कार्य करता है और सारी सृष्टि को स्वर्ग बना देता है। छोटी-सी आत्मा में 84 जन्मों के क्षण-क्षण का पार्ट भरा होना – यह तो बड़ी कुदरत है।

पुनश्च, माया भी मनुष्य को कैसा नचाती है, अपना मुरीद बनाती है और प्रभु भी कैसे अपना बनाते हैं –यह कम विचित्र खेल नहीं है। यह कैसा भूल-भुलैया का खेल है।

इस प्रकार, ज्ञान-दृष्टि से इसको देखा जाय तो इसमें ऊबने का तो कोई कारण ही

नहीं, क्योंकि इसमें तो मिनट-मिनट मुहूर्त बदलता है, दृश्य परिवर्तन होता है और अनगिनत विविधता है।

फिर, ज्ञानी तो सूक्ष्म लोक की भी सैर कर सकता है, पुरियों में भ्रमण कर सकता है, भगवान को साथी बनाकर उससे बातचीत कर सकता है और ज्ञान के किसी बिन्दु को लेकर मनन कर सकता है। इससे उसके मुख मण्डल पर स्वतः ही हर्ष आ जायेगा। जैसे कहा गया है कि विष्णु जी से पूछा गया कि आप क्या सोच रहे हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि – मैं गीता-ज्ञान में रमण करके अति हर्षित हो रहा हूँ, उसी प्रकार, ज्ञानी भी हर्ष-युक्त हो सकता है। इससे उसकी शुष्कता दूर हो जायेगी और उसका स्वभाव रमणीक हो जायेगा। जैसे कोई पहेली हल करने पर मनुष्य के होठों पर स्वतः ही मुस्कान आ जाती है, वैसे ही इस सृष्टि की पहेली को हल करने से भी वह सदा मस्त एवं विनोदपूर्ण तथा **मुद्रित** अवस्था में रहेगा। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि – "मनुष्य को यह सकंल्प करना चाहिए कि यह सृष्टि-नाटक तो मनोरंजन के लिए है ना कि मनोमालिन्य या व्यथा के लिए" – तो मनुष्य का मूड बदल जायेगा।

अस्थिर, चंचल अथवा ***विक्षिप्त*** अवस्था में मनुष्य का मन भटकता रहता है। वह धैर्यवत् और शान्त-चित्त नहीं होता और उसके सामने कोई एक निश्चित लक्ष्य तथा निश्चित मार्ग नहीं रहता। वह सब ओर छलांग लगाना चाहता है और व्यर्थ में ही अपने मस्तिष्क को थका देता है। वह कभी एक इच्छा और कभी दूसरी तृष्णा के वश या कभी एक आशंका तथा कभी दूसरी चिन्ता के वश हुए उछल-कूद करता रहता है। इन्द्रियों के गुलाम, विकारों के दास और तृष्णाओं के कैदी मनुष्य की यही मनोदशा होती है। परेशान होकर ऐसा मनुष्य पान, सिग्रेट, शराब इत्यादि व्यसनों का आधार लेता है। उसके मन को और कोई टेक न मिलने के कारण वह इन्हें ही चबाने, फूंकने और पीने-पिलाने में लगा रहता है या तो किसी मूर्ति के सामने दुःखड़ा रोकर या माला के मणके में गम गलत करके थोड़ा आराम पाने की कोशिश करता है। मनुष्य को चाहिए कि मन को ***स्थिर, नियंत्रित, अनुशासित,*** विरुद्ध कर उसे निग्रह में लाये। मन की यह ***एकाग्र*** अवस्था अथवा यह स्थित-प्रज्ञ अवस्था भी ईश्वरीय ज्ञान एवं योग द्वारा ही हो सकती है।

अस्थिर अवस्था की बजाय स्थिर अवस्था कैसे हो?

मनुष्य के स्वभाव में चंचलता तभी तक होती है जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं पहचानता और अपने स्वमान तथा स्वाधिकार को नहीं संभालता। जब मनुष्य के मन में

यह भाव ठन जाता है कि संकल्प तो मेरी रचना है, मैं उसका रचयिता हूँ, वह मेरा सेवक है, मैं उसका स्वामी हूँ तो मनुष्य का मन उसे बे-लगाम घोड़े की तरह यहाँ-वहाँ नहीं खींचता। पुनश्च, जब मनुष्य को कोई उच्च वस्तु मिल जाती है तो निम्न कोटि की वस्तु की ओर उसका मन नहीं जाता।

हीन की बजाय निर्भय अडोल कैसे बनें?

कई मनुष्य ऐसे स्वभाव के होते हैं कि जब भी उन्हें कोई थोड़ा कठिन कार्य बताया जाय या उनके सामने कोई विषम परिस्थिति आ जाय तो वे घबरा-से जाते हैं। उनके हाथ-पाँव फूल जाते हैं दूसरे शब्दों में वह नर्वस (Nervous) हो जाते हैं। उनकी स्थिति डोल जाती है उसे अपनी सामर्थ्य में निश्चय नहीं रहता और छोटी-सी बात को भी पहाड़ मानने लगता है। इसका बुरा प्रभाव उसके हृदय पर भी पड़ता है और स्नायु-मण्डल पर भी। परिणाम स्वरूप वह बैठ जाता है। इसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि बाद में वह जब अपनी इस कमज़ोरी पर विचार करता है तो फिर अपने आपसे ही नाराज़ या असन्तुष्ट हो जाता है। वह सोचता है कि मेरी इस कमज़ोरी ने मुझे तंग कर रखा है, लोग मेरे बारे में क्या कहेंगे। और लोग इस कार्य को कर लेते हैं और मैं यों ही पीछे होता जाता हूँ। इस प्रकार उसमें हीनता की ग्रंथि (Inferiority complex) दृढ़ होती जाती है और वह स्वयं से सन्तुष्ट न होने के कारण दूसरों की ग़लती के बिना ही उनसे रुठा-सा रहता है और यह सोचता है कि ये सभी सहानुभूति करके मुझे आगे क्यों नहीं बढ़ाते। मनुष्य की ऐसी मनोदशा से उसे कई मानसिक रोग भी होने लगते हैं और वह विचारों की उधेड़ बुन में पड़ा रहता है। उसे कोई कार्य बतायें तो या तो वह कोई बहाना बना देता है, अपनी असमर्थता एवं अयोग्यता को छिपाता है या आत्म-विश्वास न होने कारण तथा असफ़लता के भय के कारण उसे अपने हाथ में नहीं लेता और फिर जब उसकी बजाय दूसरे लोगों को ही उस प्रकार के कार्यार्थ अवसर दिये जाते हैं तब वह और भी हीनता का भाव अपना लेता है, उदास रहने लगता है तथा उन से कुछ ईर्ष्या-सी करने लगता है। इस प्रकार इस नर्वसनैस (Nervousness) की अवस्था में कई स्वाभाविक खराबियाँ समाई हुई हैं। इसकी बजाय मनुष्य को चाहिए कि *निर्भय, अडोल* और *आत्म विश्वास* की अवस्था में स्थित हो और इसके लिए ईश्वरीय ज्ञान व योग का आधार ले।



मनुष्य के ग्यारह बहाने......
ईश्वर के उत्तर

मनुष्य जब ईश्वरीय ज्ञान और योग के मार्ग पर चलता है तो ऐसे अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उसके मन में उठते हैं जोकि उसके लिए विघ्न रूप बन जाते हैं। मनुष्य स्वयं ही छोटी-मोटी बातों को लेकर, बहाने बनाकर बैठ जाता है जिससे उसके पुरुषार्थ में और उसकी आध्यात्मिक कमाई में कमी पड़ जाती है। मनुष्य के उन बहानों अथवा विकल्पों में से 11 मुख्य हैं। उन सबका करारा उत्तर भगवान् ने स्वयं दिया हुआ है। यदि उस उत्तर पर मनुष्य ध्यान दे तो उसका एक भी बहाना नहीं चल सकता। अत: नीचे हम पुरुषार्थ में बाधा डालने वाले 11 बहानों का तथा उनके लिए स्वयं भगवान् द्वारा दिये गए उत्तरों का उल्लेख कर रहे हैं ताकि मनुष्य उन 11 बहानों को छोड़कर सच्ची एकादशी (ग्यारस) मनाये।

१. बच्चों को सम्भालना पड़ता है, मेहमान भी आते रहते हैं, हमें फुर्सत नहीं मिलती

बहुत-से लोगों को जब यह कहा जाता है कि – "आप प्रतिदिन हमारे ईश्वरीय शिक्षा-केन्द्र पर आकर ज्ञानामृत पिया करो" तो वे कहते हैं कि – "क्या करें, हमें बच्चों को सम्भालना पड़ता है। उनकी सेवा से हमें फुर्सत ही नहीं मिलती। प्रात: उन्हें तैयार करके स्कूल भेजते हैं, उनके पीछे हम अभी चौका-बुहारी से निपटे ही होते हैं कि वे वापस आ जाते हैं। फिर हमारे घर मेहमान भी तो आये रहते हैं। अत: हमारे लिए समय निकालना असम्भव है।"

परन्तु भगवान् कहते हैं कि – "**यदि आपका एक बच्चा और होता तो आप क्या करते?** तब उस बच्चे के पालन-पोषण, आदि-आदि पर भी तो आप ध्यान देते तथा समय लगाते? आप उसे छोड़ तो न देते? तो आप अनसुइया की तरह मुझे भी अपना एक बच्चा ही मान लो, क्योंकि मेरे साथ तो आत्मा के सर्व सम्बन्ध हैं! अत: उतना समय तो ज्ञान सुनने के लिए दे दिया करो जितना कि एक बच्चे के पालन-पोषण और तैयारी पर लगता है।"

भगवान् कहते हैं – "आप ही तो जन्म-जन्मान्तर मुझे बुलाते आये हो कि – 'हे पतित-पावन, आओ और हमें पावन करो तथा वापस अपने पास ले चलो।' अत: मैं भी तो आपके निमन्त्रण पर आया हुआ **मेहमान** ही हूँ। मैंने इस पृथ्वी-मंच पर कोई सदा थोड़े ही रहना है? मैं तो आपके आह्वान पर, अथवा निमन्त्रण पर, कुछ ही समय के लिए, आपको पतित से पावन बनाकर परमधाम तथा वैकुण्ठ लोक ले चलने के लिए आया हूँ। तो क्या आप स्वयं ही मुझे निमन्त्रण देकर अब मेरे आने पर कहते हैं कि हमारे पास समय ही नहीं है और कि आपके पास अन्य मेहमान आते रहते हैं!"

कई महिलाएं कहती हैं कि – "हम माताओं को घर की, बच्चों की, गृहस्थ की सम्भाल करनी पड़ती है।" परन्तु भगवान् कहते हैं – **'आप शुरू ही से माता थोड़े ही हैं? पहले तो आप शिशु अवस्था में थीं, फिर किशोरी थीं, फिर वाद में माता वनीं। अत: आप वास्तव में तो एक आत्मा ही हैं जोकि शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न पार्ट वजाती रहीं।** अत: पहले स्वयं को **'आत्मा'** निश्चय करो तभी अपने कर्त्तव्य भी ठीक तरह निभा सकोगी। और, यह 'आत्मा' क्या चीज़ है, यह कहाँ से आई, यह कैसे वर्तमान अवस्था को पहुँची – इस रहस्य को जानो, बस इतना ही तो मैं कहता हूँ। बच्चों को भी ट्रस्टी (Trustee;प्रन्यासी) होकर कैसे सम्भालना है – यह ज्ञान सीखो। इसीके लिए थोड़ा-सा समय निकालो। आप कहते हैं कि हमारे पास समय नहीं है, परन्तु मैं कहता हूँ कि अविनाशी कमाई करने का यही समय है, फिर यह समय कभी आयेगा ही नहीं! सारे कल्प में अथवा 84 जन्मों में यह सुनहरी अवसर एक ही बार आता है और उसमें से भी अब काफी समय बीत चुका है, थोड़ा ही बाकी रहा है। यह बात भी मुझसे समझो। तभी आपको निश्चय होगा कि अब ही समय है; फिर ऐसा समय आयेगा ही नहीं।'

२. हम अनपढ़ हैं, हम ज्ञान धारण नहीं कर सकते

कई लोग कहते हैं कि – "हम तो अनपढ़ हैं; हम ईश्वरीय ज्ञान को समझ ही नहीं सकेंगे।" जो अनपढ़ व्यक्ति ईश्वरीय ज्ञान लेते हैं, वे भी कहते हैं कि – "यह हमारे दुर्भाग्य है कि हम पढ़े-लिखे नहीं हैं, वर्ना हम स्वयं इस ज्ञान में निपुण होकर, भाषण द्वारा दूसरों की भी ज्ञान-सेवा करते।" परन्तु भगवान् कहते हैं कि – "अनपढ़ हो तो कोई बात नहीं। जो ईश्वरीय ज्ञान आप पढ़ रहे हैं उसमें तो सारी दुनिया ही अनपढ़ है। आप ईश्वरीय पढ़ाई तो पढ़ रहे हो न? अत: आप स्वयं को वास्तविक अर्थ में पढ़ा हुआ

समझो। जो लोग शास्त्र पढ़े हुए हैं, उन्हें तो घमण्ड होता है और उन्हें तो उल्टी-सुल्टी पढ़ी हुई बातें भुलाने की मेहनत करनी पड़ती है, अत: आप इस दृष्टिकोण से तो भाग्यवान हैं कि आपको कई मिथ्या ज्ञान की बातें भुलाने की मेहनत नहीं करनी पड़ेगी, क्योंकि आपने वह बातें पढ़ी ही नहीं हैं और आपको उस पढ़ाई का घमण्ड भी नहीं है। बल्कि, आप तो स्वयं को अनपढ़ मानकर अब इस ईश्वरीय पढ़ाई को नम्रतापूर्वक पढ़ने की कोशिश करोगे। अत: यह तो लाभ की बात है। फिर, जैसे अनपढ़ व्यक्ति भी अपने शारीरिक पिता का परिचय प्राप्त कर सकता है। उसके लिए कोई संस्कृत, अरबी या अंग्रेजी जानना अनिवार्य नहीं है, वैसे ही आत्मा के पिता परमात्मा को जानने के लिए भी कोई संस्कृत पढ़ना या शास्त्रों को रटना अनिवार्य नहीं है। अनपढ़ व्यक्ति भी मुझ परमात्मा को मुझ से जान सकता है।''

शिव भगवान् कहते हैं कि – ''मैं तो उस्तादों का उस्ताद हूँ, गुरुओं का भी परम सद्‌गुरु हूँ। 'आत्मा', 'परमात्मा' आदि का वास्तविक अर्थ तो मैं आकर बताता हूँ। अत: मैं ही 'आदि गुरु' हूँ, मैं अनपढ़ों को पढ़ाता हूँ। जो मनुष्य द्वारा पढ़ा हुआ मिथ्या ज्ञान है, उसे तो भुलाकर 'अनपढ़ बनने तथा चुप रहने' का ही मैं आदेश देता हूँ। अत: आप सब बहाने छोड़कर अब मुझसे यह उच्च विद्या प्राप्त करो, अन्य पढ़े-लिखे अथवा विद्वान लोग भी आपसे यह विद्या सीखने आयेंगे।''

''आप कहते हैं कि आप पढ़े-लिखे न होने के कारण भाषण नहीं कर सकते। परन्तु वास्तव में आपका यह कथन ग़लत है। एक गूँगा भी हाथ के इशारे से किसी को रास्ता दिखा सकता है, तो क्या आप अपनी तोतली भाषा में किसी को मुक्ति-जीवनमुक्ति अथवा सुख-शान्ति का मार्ग नहीं दिखा सकेंगे? मुझ परमात्मा का परिचय देना क्या कठिन बात है? क्या आप अपने लौकिक पिता का नाम, धाम, धन्धा आदि नहीं बता सकते? वैसे ही मुझ परमपिता का दिव्य नाम (शिव), रूप (ज्योतिर्बिन्दु), धाम (ब्रह्मलोक), कर्त्तव्य (पतित-पावन) आदि बताने में क्या कठिनाई है? भले आप भाषा पढ़े-लिखे नहीं हैं परन्तु आप अनुभवी तो हैं, आपने अपना जीवन तो उच्च बनाया है, अत: आप फलक से दूसरे को भी यह ईश्वरीय ज्ञान दे सकते हैं।''

३. हम वृद्ध हैं, हम कोई उच्च कार्य नहीं कर सकते

कुछ लोग कहते हैं कि – ''हम तो वृद्ध हैं। अब इस आयु में हम क्या कर

सकेंगे?" परन्तु भगवान् कहते हैं कि – "यदि आप वृद्ध हैं तो अच्छा ही है। आप अनुभवी हैं, दुनिया को देख चुके हैं और अब तो वैसे भी आपके लिये प्रभु-स्मृति ही का समय है। अब तो आप फ़ारिग़ हैं, धन्धे से रिटायर्ड (Retired;अवकाश-प्राप्त) हैं, आपके पास समय की कमी नहीं है। वैसे भी वृद्ध लोग काशी में जा बैठते हैं और शिव का स्मरण करते हैं, अत: अब जबकि आपको ईश्वरीय ज्ञान मिल रहा है, तब तो आप अच्छी तरह से याद करके अपना भविष्य बहुत ऊँचा बना सकते हैं।"

"फिर, केवल आप ही वृद्ध नहीं हैं, अब तो यह सारी सृष्टि ही जर्ज़ड़ीभूत अथवा वृद्ध-अवस्था को प्राप्त हो चुकी है क्योंकि अब कलियुग का अन्त आकर पहुँचा है। अब युवा, बालक आदि इस दृष्टिकोण से सभी 'वृद्ध' ही हैं, सभी वानप्रस्थ अवस्था में हैं क्योंकि अब इस सृष्टि का ही विनाश सामने है और सभी को वाणी से परे परमधाम में जाना है। **अतः आपको तो वैसे भी अव मृत्यु याद आती होगी, आपको सहज ही वैराग्य आ सकता** है। इस ईश्वरीय ज्ञान और योग के लिए तो आपको कोई शारीरिक साधना भी करनी नहीं है। बुद्धि से ही याद करना है; उसमें तो आपको कोई कठिनाई नहीं है। अत: यह सहज पुरुषार्थ करके आप अपना जन्म-जन्मान्तर सफ़ल कर सकते हैं। आप तन से ईश्वरीय यज्ञ की कोई सेवा नहीं कर सकते तो धन से करो, वह भी नहीं कर सकते तो बुद्धि का योग मुझ परमपिता से लगाकर पवित्रता-बल और योग-शक्ति से सृष्टि को पावन करने के कार्य में सहयोगी बनो।

यों देखो तो मैं स्वयं प्रजापिता ब्रह्मा के मानवी तन में अवतरित होता हूँ, वह भी वृद्ध तन वाले ही हैं। आप उनसे अधिक वृद्ध तो नहीं हैं? वृद्ध होते हुए भी वह भगीरथ पुरुषार्थ करते हैं। अत: "मैं वृद्ध हूँ" – यह बहाना ग़लत है। यह हीनता की बात सोचकर पुरुषार्थहीन मत बनो। आप अनुभवी हैं, अब ईश्वरीय ज्ञान सुनकर दूसरों को यदि यह प्रभु-कथा या सृष्टि की कहानी सुनायेंगे तो अनेकों का कल्याण करने के भागी बनेंगे।

४. हम भोले-भाले हैं, बुद्धि कम है, बोलना नहीं जानते

कई लोग कहते हैं कि – "हम भोले हैं। हमें बोलना भी नहीं आता, बुद्धि भी कम है! परमात्मा का अवतरण भी ऐसे समय हुआ है जब हमारी ऐसी हालत है!! अत: हम तो अपने भाग्य से रुष्ट हैं। हम क्या करें? हम कोई ऊँचा कार्य नहीं कर सकते!"

परन्तु भगवान् कहते हैं – "आप भोले हैं तो अच्छा ही है। मैं भोलों का ही तो भगवान् हूँ, इसलिए ही तो मुझे 'भोलानाथ' कहते हैं। कम बुद्धि है तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं, क्योंकि मैं दिव्य-बुद्धि का दाता हूँ। मैं बुद्धि का ताला खोलने वाला हूँ, अत: आप यह ईश्वरीय ज्ञान लो क्योंकि यही वह चाबी है जिससे बुद्धि का ताला खुल जाता है। जन्म-जन्मान्तर विकर्म करने के कारण बुद्धि को जो जंक लग गया है, वह इस ज्ञान से उतर जायेगा और तब यह ज्ञान दूसरों को सुनाने की योग्यता भी स्वत: ही आप में आ जायेगी। मैं पारसनाथ हूँ, मैं आपकी बुद्धि को पत्थर से पारस बना दूँगा। परन्तु अब आप बुद्धि का योग मुझ परमात्मा से लगायेंगे तभी आपकी बुद्धि पारस बनेगी। ईश्वरीय ज्ञान लेने से पहले तो सभी एक प्रकार से 'बुद्धू' ही होते हैं, तभी तो वे विकारों से हार खाकर पतित बने होते हैं। अत: आप यदि भोले हैं तो आपकी सरलता तो वरदान है क्योंकि कुटिलता तो ज्ञान-प्राप्ति में बाधक होती है। और मेरे साथ चालाकी करने वाला मनुष्य तो मेरे वरदान से वंचित रहता है। अत: अब आप सरलता और भोलेपन के आधार पर ही यह ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करो तो आप में अधिक धारणा हो सकेगी और आप जब यह ईश्वरीय ज्ञान दूसरों को सुनायेंगे तो उनका भी कल्याण कर सकेंगे।"

५. हम निर्धन हैं

कई लोग कहते हैं कि – "हम तो निर्धन हैं। भगवान् का अवतरण ही ऐसे समय पर हुआ है जब हमारी जेब खाली है। वर्ना हम ईश्वरार्थ कुछ करते और अपना भाग्य ऊँचा बनाते।" परन्तु भगवान् कहते हैं कि – "यदि आप निर्धन होने के कारण धन-दान नहीं कर सकते तो कोई बात नहीं; मुझे आपका धन नहीं चाहिये। मैं आपको ज्ञान दे रहा हूँ, आप ज्ञान-धन दान करके अपना भविष्य ऊँचा बनाओ। आप गरीब हैं तो मैं ग़रीब निवाज़ हूँ। जगदम्बा सरस्वती ने कोई धन-दान थोड़े ही किया था? उसने तो ज्ञान-धन दान किया था और उससे ही वह श्रीलक्ष्मी पद को प्राप्त हुई थी। अत: आप भी ज्ञान दान द्वारा नर से श्री नारायण बन सकते हैं। धनवान का एक लाख रुपया और निर्धन का एक रुपया भी बराबर है। अत: आप स्वयं को निर्धन न समझो, बल्कि जो ज्ञान-धन आपको मिल रहा है, यह तो लोगों के पास है नहीं; अत: वे निर्धन हैं, आप ही धनवान बन रहे हो! उनका धन तो अभी सृष्टि का महाविनाश होने पर मिट्टी में मिल जाने वाला है। आप थोड़े-से धन दान और ज्ञान-दान से जन्म-जन्मान्तर के लिए अतुल धन प्राप्त क

लोगे।''

''फिर यदि आपके पास बहुत धन होता तब तो आप सोचते कि मैं तो यहाँ ही स्वर्ग में हूँ। तब तो आप शायद ज्ञान में पूरी रुचि न लेते। तब धन कमाने और प्रारब्ध भोगने में ही मस्त रहते और आपकी बुद्धि फ़ारिग ही न होती और आप भविष्य में 21 जन्मों के लिए स्वर्गिक राज्य-भाग्य से तथा वर्तमान समय अतीन्द्रिय सुख से वंचित रह जाते। अतः सृष्टि के महाविनाश से थोड़ा समय पहले यदि आप निर्धन हैं तो थोड़ी-सी असुविधा होने पर भी आपका भविष्य बहुत अच्छा बन सकता है।''

६. हम रोगी हैं, असमर्थ हैं

कई लोग कहते हैं कि – ''हमें तो कोई-न-कोई रोग लगा रहता है। इसलिए हम कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं।'' परन्तु परमपिता परमात्मा शिव कहते हैं कि – ''अच्छा, अगर आपका तन रोगी है, मन को तो ठीक रखो! तन अस्वस्थ है, आत्मा को तो 'स्व-स्थ' रखो। भल बुद्धि द्वारा मुझ परमात्मा को तो याद करो। यह ईश्वरीय ज्ञान और योग तो आपको शान्ति में रहने के योग्य बनायेगा, क्योंकि आप उस द्वारा शरीर को ढीला छोड़ सकोगे। अतः आप तो आत्म-स्थिति तथा ईश्वरीय याद द्वारा विदेह अवस्था में टिकने का अभ्यास करो!

आप शरीर ठीक न होने के कारण यदि औरों की सेवा नहीं कर सकते तो ईश्वरीय स्मृति में टिककर बेहद (वृहद) सृष्टि की सेवा करो!''

भगवान् कहते हैं कि – ''आप ऐसे समझो कि आपका विकर्म-खाता जल्दी चुकता हो रहा है, क्योंकि योगबल से भी विकर्म दग्ध हो रहे हैं और रोग के रूप में भी हिसाब-किताब चुकता हो रहा है। अब भविष्य में सदा स्वस्थ-शरीर मिलना है, इसलिए अब रोग अन्तिम विदाई लेने आया है। इस दृष्टिकोण को अपनाने से आपका मन भारी नहीं होगा।''

भगवान् कहते हैं – ''इस अन्तिम जन्म में तो सभी रोगी हैं ही। सभी की काया-कला चट हो गई है। अतः मुझे यह क्यों कहते हो कि – 'मैं रोगी हूँ।' यह तो मैं पहले से ही जानता हूँ, तभी तो आपको दैवी काया-कला फिर से देने आया हूँ और उसके लिये ज्ञानामृत लाया हूँ। रोग तो शरीर को है, मैं तो बुद्धि को काम में लगाना चाहता हूँ, अतः आप बुद्धि द्वारा ईश्वरीय ज्ञान और योग को तो धारण कर ही सकते हैं। रोग की अवस्था

में तो मनुष्य को ईश्वर की याद और भी अधिक आती है। रोगी को तो और कोई कार्य भी नहीं होता, अत: उसके पास समय भी काफ़ी होता है। अत: आपको तो ईश्वरीय याद रूपी यात्रा करने का और भी अच्छा अवसर मिल गया है एवं बीमारी भी याद दिलाने में सहायक है। फिर यह बीमारी तो संकेत करती है कि आत्मा भी विकारों रूपी रोग से ग्रस्त है, तभी तो उसे शरीर भी व्याधिग्रस्त मिला है। अत: आत्मा के रोग को मिटाने वाली दवाई अर्थात् ज्ञानौषधि लेना तो और भी ज़रूरी है। यह शरीर है भी सारे कल्प में अन्तिम। अत: इसी शरीर द्वारा ही आप ऊँचा भाग्य बना सकते हो। तो रोग का बहाना बनाना व्यर्थ है। यह तो अपने आपको धोखे में डालकर अपनी बहुत बड़ी हानि करना है।''

७. हमारी प्रवृत्ति लम्बी-चौड़ी है

कई लोग कहते हैं कि – ''हमारी गृहस्थी बहुत ही बड़ी है, हमारी प्रवृत्ति लम्बी-चौड़ी है। बड़ा कुटुम्ब होने के कारण हम फंसे रहते हैं। हमारा वातावरण ही बड़ा अजीब-सा बना रहता है। अत: हम तो ज्ञान का लाभ ले नहीं पाते और अपनी अवस्था को उच्च भी नहीं बना पाते।'' परन्तु भगवान् कहते हैं कि – ''जो ज्ञान मैं दे रहा हूँ, वह तो है ही गृहस्थियों के लिए। उसका तो उद्देश्य ही यह है कि प्रवृत्ति को पवित्र और श्रेष्ठ बनाया जाय। अत: आपकी गृहस्थी बड़ी है तो क्या हुआ, आप गृहस्थ को **'आश्रम'** बनाओ। आप भले ही कर्म करते रहो, मिलो-जुलो, कोई मना नहीं है, परन्तु आपके सम्बन्ध की रग जुड़ी हुई नहीं होनी चाहिए, अर्थात् नष्टोमोह: होकर गृहस्थ-व्यवहार को चलाओ। आपकी अवस्था फर्स्टक्लास होनी चाहिए। आप सबमें आत्मा देखो।''

आप अनेक सम्बन्धों को याद रखते हो, परन्तु एक मुझ ईश्वर के साथ आपका जो सम्बन्ध है, उसे आप भूल जाते हो; अब आप मुझ ईश्वर से नाता जोड़ो और अन्य के साथ भी आत्मिक नाता याद रखो – बस, इतना तो करो। ज्ञान तो है ही गृहस्थ को सुधारने के लिए। परन्तु आप यह उल्टा बहाना बनाते हो कि – 'हम गृहस्थी हैं!' जबकि आप हैं ही 'आत्मा' तो आत्म-निश्चय और आत्मिक स्मृति में स्थित रहो और यदि ऐसा अभ्यास टूट जाता है तो थोड़ा समय आकर यहाँ हंसों की सभा में बैठकर उसका अभ्यास परिपक्व करो तो आपको श्रेष्ठ वातावरण की मदद मिलेगी। अगर इस सर्वोत्तम कार्य के लिए भी आपके पास समय नहीं है तो फिर समय किस काम के लिए है? भला अपनी

देह से तो ममत्व निकालो, वर्ना अन्त समय देह छोड़ने में भी बड़ा कष्ट होगा।

आप कहते हैं कि मेहमान आते रहते हैं, दूसरों को ज्ञान सुनाने का समय भी नहीं मिलता। अच्छा, आपके कुटुम्ब के जो सदस्य हैं और जो मेहमान आते हैं, कम-से-कम उनको तो आत्मा के बाप का परिचय दो, उनको तो लक्ष्य दो, उनका तो कल्याण करो! अपने बाल-बच्चों, मित्र-सम्बन्धियों को भी शिव-परिचय नहीं दोगे तो उनके भी नरक-गमन का दोष आपके सिर पर आयेगा। इसलिए स्वयं भी नित्य प्रति ज्ञान-स्नान करके रिफ्रेश होवो और अपने में बल भरके, अपने जीवन को उच्च बनाकर दूसरों को भी उठाओ।

८. हमारे मन में माया के तूफान आते हैं

कई लोग कहते हैं कि – "हम ज्ञान इसलिए नहीं लेते कि ज्ञान सुनने के बाद हमारे मन में माया (विकारों) के तूफ़ान और भी ज्यादा उठते हैं और हम परेशान हो जाते हैं! लोग भी हमें सहयोग देना छोड़ देते हैं।" परन्तु भगवान् कहते हैं – "ज्ञान लेने से पहले तो आपको माया की पहचान ही न थी और आप बिल्कुल ही माया के मुरीद थे, माया के पंजे से छूटने का तो आपका लक्ष्य ही न था; अब आप ज्ञान-चक्षु द्वारा उसे पहचानते हैं, तभी आपको वह तूफ़ान देखने में आते हैं, वर्ना हैं तो यह वही विकार जो आप में पहले-से ही भरे पड़े हैं। ये कोई नये तो आये नहीं, इन्होंने तो आप (आत्मा) को, आपके संस्कारों को अच्छी तरह से जकड़ रखा है। आख़िर इनसे छूटना है या छूटने का ही विचार नहीं है? क्या यह ज़हर इतना मीठा लग गया है कि इसके सामने अमृत (ज्ञान) भी कड़वा लगता है? ज्ञान के प्रति रुचि न होना अथवा उसका कड़वा लगना तो और ही यह सिद्ध करता है कि माया की बीमारी बहुत कड़ी लगी हुई है क्योंकि बीमारी के कारण जिसका मुख कड़वा होता है, उसे ही मिश्री भी कड़वी लगती है। अत: आपको तो ज्ञानामृत पीने की अधिक आवश्यकता है। यदि मन में माया के तूफ़ान आते हैं तो समझो कि बीमारी बाहर आ रही है और हमेशा के लिये छोड़कर निकल जाने वाली है। घबराओ नहीं, मैं समर्थ और सर्वशक्तिमान् वैद्य हूँ। आपका इसी में ही कल्याण है।

जो ज्ञान मैं देता हूँ उसकी विशेषता ही यह है कि दबी हुई बीमारी (काम, क्रोधादि विकार) उछल खाकर बाहर आती है और फिर सदा के लिए पीछा छोड़ जाती है। आप यदि मेरा ज्ञान रूपी हाथ ही छोड़ जाओगे तब तो एकदम रसातल में चले जाओगे, दिनोंदिन माया की दलदल में अधिक ही धंसते जाओगे। अब माया से युद्ध करने मैदान

में आये हो तो माया तो सामना करेगी ही, उस पर विजय प्राप्त करोगे तो 'मायाजीते जगत्‌जित' बनोगे। अत: इन तूफ़ानों का सामने आने का अर्थ है स्वर्ग का स्वराज्य मिलना। इन तूफ़ानों को तोहफ़ा समझो। इनसे डरो मत, भागो मत, मैं तुम्हारा साथी खड़ा हूँ, हर हालत में तुम्हारा मददगार हूँ, मैं गारन्टी करता हूँ कि तुम्हें अपने मुक्तिधाम और स्वर्गधाम ले चलूँगा। कायर मत बनो, ज्ञान-चक्षु से देखो तो इस युद्ध द्वारा कितनी महान् प्राप्ति है! जिस साकार माध्यम (प्रजापिता ब्रह्मा) द्वारा मैं यह ज्ञान देता हूँ, सबसे पहले अनेक प्रकार के तूफ़ान उसके सामने आए, परन्तु वे ईश्वरीय वर्से के नशे में अपार खुशी में रहे। अत: उठो, कदम-कदम मेरे पीछे चलो, मैं रास्ता जानता हूँ। बहानेबाज़ी छोड़ो और ललाट पर स्वर्गिक स्वराज्य का तिलक लगाने दो।''

९. हमें तो अनेक प्रकार के बन्धन हैं!

कई लोग कहते हैं कि – ''हम क्या करें, हम तो अनेक प्रकार के बन्धनों में जकड़े हुए हैं। हमें लौकिक नौकरी का बन्धन, घर का बन्धन...... – ऐसे कई बन्धन हैं। व्यापारी कहते हैं कि हमें तो इन्कम टैक्स, सेल्स टैक्स आदि के कई चक्कर हैं। समय ही नहीं मिलता। क्या करें, कैसे करें?'' परन्तु भगवान् कहते हैं – ''हे वत्स! वास्तव में ये सब तेरे मन के बन्धन हैं। मन का बन्धन न हो तो कोई भी बन्धन नहीं है। तूने स्वयं ही मकड़ी बनकर अपने आपको जाले में फँसा रखा है। मैं आपको सब प्रकार के बन्धनों से सदा के लिये छुड़ाकर मुक्ति और जीवन्मुक्ति की दुनिया में ले चलने के लिये आया हूँ, और तू मुझे अपने 'बन्धन' सुना रहा है! बन्धन की तो यह दुनिया ही है। यदि इस संसार के सभी लोग बन्धन में न होते तो मैं आता ही क्यों? परन्तु मैं भी देख रहा हूँ कि सभी मोरी के कीड़े की तरह इसमें से निकलना ही नहीं चाहते। वर्ना मैं तो प्रात: अमृतवेले ही पढ़ाता हूँ जबकि दुनिया में कोई दुकान नहीं खुली होती, न दफ़्तर ही खुला होता है। नींद के मोह को त्यागकर अमृतवेले क्या नित्य प्रति एक घड़ी; आध घड़ी या आधे की पुन: आध घड़ी भी भविष्य के लिए ऊंची कमाई करने के लिये नहीं दे सकते? **देने वाला दाता देता है और तुम लेने वाले क्या इतने थक गये हो? मुझे इस गन्दे, महाविकारी लोक में बुलाकर स्वयं सो जाते हो? क्या यही प्रीत की रीति है?** उठो, अब ज़रा आंखें खोलकर देखो और बुद्धि से अच्छी तरह से अपना नफ़ा-नुकसान सोचो! अब ग़फ़लत का समय नहीं रहा। मैं तुम्हारा भाग्य बनाने आया हूँ; अब सब बहाने छोड़कर एक घण्टा,

आध घण्टा प्रतिदिन मुझे दो। अच्छा, तुम कुछ भी नहीं कर सकते तो कम-से-कम मेरी ज्ञान-मुरली को तो प्रतिदिन पढ़ लिया करो और व्यर्थ इधर-उधर के फ़ालतू संकल्पों में दिन-भर जितना समय गंवाते हो, उतना समय तो मुझ ज्योतिस्वरूप की स्मृति में स्थित हुआ करो। जितना पैसा बीड़ी-सिगरेट, सिनेमा, फालतू रस्मों, फ़ैशन आदि-आदि पर लगाते हो उतना तो लोक-कल्याण-अर्थ लगाया करो। वत्स, अब झूठे बन्धन तोड़ के सारे, मेरे द्वारे आना ही होगा!''

१०. हमें लोक-लाज बहुत सताती है

कई लोग कहते हैं – ''हम क्या करें, हम लोगों के तानों से, उनके मज़ाक से, उन द्वारा डाली गई रुकावटों से बड़े तंग आ गये हैं! वे समझते ही नहीं कि हम किसी अच्छे मार्ग पर जा रहे हैं, बल्कि हमारी आलोचना और निन्दा करते हैं; इसलिए हमने ज्ञानामृत प्राप्त करने के लिए आना छोड़ दिया है। वे हमें पागल बताने लगते हैं, सभी के सामने हमें लज्जित करते हैं, हम उन्हें जवाब नहीं दे पाते। इसलिए हमने ज्ञान लेने आना ही छोड़ दिया है। हमने सोचा कि कौन इस खिट-खिट में पड़े; इसलिए हमने यह मार्ग ही छोड़ दिया है।''

परन्तु अब भगवान् कहते हैं कि – ''वत्स, मनुष्य को लज्जा तो बुरे कर्म करने पर आती है; जबकि आप अच्छे मार्ग पर चलते हो तो लोगों के कहने से लज्जित होने का प्रश्न कैसे उठ सकता है? आपको कम-से-कम अपने ऊपर तो विश्वास होना चाहिए कि 'मैं अच्छे मार्ग पर चल रहा हूँ, मेरा जीवन अच्छा बन रहा है।' वत्स, योगी का तो लक्षण ही यह है कि वह निन्दा-स्तुति, मान-अपमान दोनों में एक-समान रहता है; अतः निन्दा और अपमान की परिस्थिति तो आपके सामने आयेगी ही परन्तु यदि आप दोनों परिस्थितियों में एक-रस रहेंगे तो एक दिन आयेगा जब जनता आपके सामने झुक जायेगी। जो आज आपकी निन्दा करते हैं, उन्हें ही लज्जा आयेगी कि उन्होंने ग़लत आलोचना की। अतः आप अपने आपको देखो और मुझ बाप को देखो, आप उनकी थोथी बातें सुनते ही क्यों हो? हाथी सदा अपनी मस्त चाल चलता है। फ़क़ीर जा रहा हो तो कुत्ते उसको विचित्र प्रकार का व्यक्ति देखकर भौंकने लगते हैं, तो क्या फ़क़ीर रास्ता छोड़ दे या स्वयं को चोर मानने लगे?

अतः जन्म-जन्म अज्ञान-वश जो बुरे कर्म किये हैं, अब उन बुराइयों से लज्जा कर

उनसे छुटकारा पाओ! आसुरी चाल वाले लोगों से लज्जा करना तो निर्बलता है। उस निर्बलता को भी तभी दूर कर सकोगे जब थोड़ा समय प्रतिदिन ज्ञान-बल और योग-बल भरने की सेवा लोगे। वर्ना जैसे लज्जा करने वाला मेहमान भूखा रहता है वैसे आप आत्मा भी लोक-लाज के कारण ईश्वरीय ज्ञानामृत से वंचित रह जाओगे! अत: दूसरों के कहने में न आकर अपने रास्ते पर चलते चलो; उन्हें तो मंज़िल का ही पता नहीं है, वह तो स्वयं ही भटके हुए हैं; उनकी बात मत सुनो वर्ना भटक जाओगे। राह का पता मुझ परमेश्वर को है, वह लोग तो नयन-हीन हैं; आप मेरी अंगुली पकड़कर चलते चलो।"

११. हमारी परिस्थितियाँ ही अनुकूल नहीं हैं

कुछ लोग कहते हैं – "क्या करें, हमारी परिस्थितियाँ ही ठीक नहीं हैं। शायद भगवान् को हमारा ज्ञान-मार्ग में आना मंजूर नहीं है। शायद हमारी किस्मत में यह अविनाशी कमाई नहीं लिखी है!! शायद अभी ज्ञान में आने के लिए हमारा समय नहीं आया, पुण्योदय नहीं हुआ!! जब ईश्वर को मंजूर होगा तब हम आ जायेंगे, तब हमें कोई रोक नहीं सकेगा। अभी कुछ देर मालूम होती है, वर्ना हम आयेंगे ज़रूर। हम अमुक-अमुक परिस्थिति को ठीक कर लें, बच्चों का विवाह कर लें, बहू के चाचे की पोती की सगाई का काम निपटा लें, मामे की बुआ की ननद की लड़की का काम भी उतार लें, तब हम आयेंगे....!"

परन्तु भगवान् कहते हैं – "वत्स, क्या इन्हीं परिस्थितियों के कारण तुम मुक्ति और 2500 वर्षों के लिए स्वर्गिक राज्य-भाग्य गँवा रहे हो! फिर कहते हो कि शायद भगवान् को मंजूर नहीं है। मुझे मंजूर न होता तो मैं आपको बार-बार सावधान क्यों करता, आपकी सेवा करने के लिये परमधाम से क्यों आता? अपना भाग्य स्वयं ही गंवा रहे हो – यह आपको पता ही नहीं लगता! मैं आपका भाग्य बनाने आया हूँ और आप कहते हो कि हमारी तकदीर में ही नहीं! स्वयं को स्वयं ही घाटे में डाल रहे हो और सोचते हो कि हम बड़ी युक्ति से बात कर रहे हैं! आप कहते हैं कि अभी समय ही नहीं है, तो भला सोचा है कि कब वह समय आयेगा?

लाल, यह पुरुषोत्तम संगमयुग ही तो वह समय है, तभी तो मैं आया हूँ; मैं बिना समय के ही चला आया हूँ क्या? अब उठो, चंचलताई छोड़ो, अब नखरे और बहाने का समय नहीं रहा, अब तो सारी सृष्टि की मौत सिर पर खड़ी है! अब का समय गँवा

दिया तो आया भाग्य लौट जायेगा। अब परिस्थिति की रट मत लगाओ, परिस्थिति को आत्मिक-स्थिति से जीतो और उसके लिए मुझसे ज्ञान-बल और योग-बल लो। लम्बे-चौड़े नाते और खाते मत बताओ, यह मैं जानता हूँ, मैं तुम्हें ले चलने आया हूँ......।''

इस प्रकार जो ग्यारह बहाने हमने ऊपर बताये हैं, प्राय: इनमें से ही कोई-न-कोई बहाना करके लोग स्वयं को ज्ञान-लाभ से वन्चित रखते हैं। अब इन ग्यारह बहानों को छोड़कर ज्ञानामृत पीना ही वास्तव में सच्ची एकादशी मनाना है। इस एकादशी से ही मनुष्य दस इन्द्रियों और ग्यारहवें मन पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

आप सरलता और भोलेपन के आधार पर ही यह ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करो तो आप में अधिक धारणा हो सकेगी और आप जब यह ईश्वरीय ज्ञान दूसरों को सुनायेंगे तो उनका भी कल्याण कर सकेंगे।''

सूक्ष्म आध्यात्मिक पुरुषार्थ

ज्ञान-सागर, पतित-पावन, निराकार शिव बाबा ने प्रजापिता ब्रह्मा के तन द्वारा जो आध्यात्मिक ज्ञान हम बच्चों को दिया है उसका सार है— 1. तू मन-बुद्धि-संस्कार सहित शुद्ध आत्मा है और शरीर से सर्वथा भिन्न सत्ता है। 2. पावन, शक्तिशाली एवं व्यावहारिक बनने हेतु तू मुझे हर श्वास, हर क्षण, निरन्तर याद कर। 3. स्थूल जगत् में प्रत्येक कर्म व घटना क्रम-बद्ध है व पूर्व-निश्चित योजनानुसार होती है अथवा 'ड्रामानुसार' अपने निश्चित समय पर प्रकट हो जाती है। 4. तू अपने मन, वचन व कर्म की शक्ति को अन्य आत्माओं के कल्याण के प्रति अर्थात् उनकी रूहानी सेवार्थ लगा, तो तेरी आत्मा अपने मूल गुणों और संस्कारों को प्राप्त होगी अर्थात् ज्ञान-स्वरूप, प्रेम-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप और शान्ति-स्वरूप बनकर वर्तमान समय फरिश्ता व आगामी जीवन में वैकुण्ठ या स्वर्ग की अधिकारी बनेगी।

एस-रस अवस्था

यदि गहराई से देखा जाए तो कल्याणकारी बापदादा (शिव बाबा और ब्रह्मा बाबा) ने जो हमारे मन-बुद्धि के लिए लक्ष्मण-रेखा अथवा मर्यादा-रेखा खींची है, उसके चार स्तम्भ ज्ञान अथवा स्वचिन्तन, राजयोग, विश्व-कल्याणी रूप तथा सदा अटल-अडोल अवस्था की प्राप्ति है। विभिन्न परिस्थितियों, व्यक्तियों, समस्याओं व उपलब्धियों के होते हुए भी मानसिक स्तर पर सदा एक-रस अवस्था की अनुभूति हो। अत: स्पष्ट है कि आध्यात्मिक पुरुषार्थी को अपने समक्ष यह अवस्था सदैव रखनी ही चाहिए जिसमें वह हानि-लाभ, यश-अपयश, जीवन-मरण, स्तुति-निन्दा व सुख-दु:ख आदि में भी सदा सम-अवस्था में ही रहे। यह तभी सम्भव है जब इन सब के बीच अपने को इनसे न्यारा समझे अर्थात् उसकी रग या आसक्ति लाभ, यश, स्तुति व सुख में भी न जाए। इसके लिए उसे अपने बुद्धि के लंगर को इस साकारी दुनिया से प्राप्त होने वाले क्षण-भंगुर सुखों से उठाना ही पड़ेगा जिससे उसके मन-बुद्धि सदैव परमधाम या सुखधाम में ही विचरते रहें। 'आप जैसा सोचेंगे वैसे ही बन जायेंगे' के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार जब पुरुषार्थी की बुद्धि आत्माओं के मूल गुण-स्वरूप, लक्ष्य-लक्षण व धाम आदि में स्वाभाविक रूप से ठहरने लगती है तब उसे साकारी जगत् के आकर्षण आकर्षित नहीं

कर पाते व यहाँ रहते भी ऐसा व्यक्ति इस जगत् से न्यारा व प्यारा रहता है।

मानव व प्रकृति

जिस प्रकार वनस्पति जगत् में भिन्न-भिन्न पेड़-पौधे, फूल-फल का आधार उनका बीज होता है जो अपनी विभिन्न सूक्ष्म योग्यता के अनुसार प्रकृति से भिन्न-भिन्न मात्रा में विभिन्न पदार्थ खींचकर अपने अनुरूप ही फूल-फल, रस-स्वाद पैदा कर लेता है। ठीक उसी प्रकार इस चैतन्य जगत् में भी विभिन्न बदलती हुई परिस्थितियों का वास्तविक आधार भी आत्माओं की सूक्ष्म अवस्था ही होती है। जिस समय इस साकार सृष्टि पर निवास करने वाली जीव-आत्माएं आत्म-स्थिति में स्थित होकर संयमी, मर्यादित व विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत होकर कार्य व्यवहार में आती हैं तो वे दैवी सम्पदा वाली या चरित्रवान कहलाती हैं। उस समय का समाज दैवी सृष्टि कहलाता है जहाँ प्रत्येक मानव स्वभावतः दूसरों को सुख देकर स्वयं सुखी अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में वैर, विद्रोह आदि तो जागृत ही नहीं होते, क्योंकि प्रत्येक मानव स्वयं से व दूसरों से सदा सन्तुष्ट रहता है। अन्तर्मुखता के कारण मानसिक शान्ति व सुख-सम्पन्नता वहाँ पर घर-घर में निवास करती है।

इसके फलस्वरूप पशु-पक्षी तो क्या, वहाँ जड़-प्रकृति भी मानव के अधीन हो जाती है व मर्यादित होकर नियमपूर्वक चलती है। इसके विपरीत जब देहभान में आने के कारण मानव अहंकारी तथा व्यक्ति, वस्तु में आसक्त हो जाता है तब धीरे-धीरे वह स्वयं संयम, मर्यादाओं व विश्व-बन्धुत्व की भावना से दूर हटता जाता है। यही आसुरी लक्षणों या चरित्रहीनता का स्वरूप है और इसके कारण वह समाज को सुख पहुँचाकर स्वयं सुखी रहने के स्थान पर अधिकारभाव व मान-शान से प्रेरित होकर वस्तुओं का संग्रह करने पर जुट जाता है व अपनी शारीरिक, बौद्धिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक शक्ति का उपयोग अन्य व्यक्तियों को लूटने-खसोटने में करने लगता है। मानव की जब ऐसी अवस्था हो जाती है तो उसके असंयमित होने के फलस्वरूप पशु-पक्षियों में भी वैर-भाव का समावेश हो जाता है। अटल नियमों के कारण प्रकृति भी अनियमित होती जाती है व क्रमशः दुःख और अशान्ति चहुँ ओर फैल जाती है। उपरोक्त चर्चा का भाव यही है कि एक समय था जब सृष्टि उस समय के मानव के अनुरूप थी। अतः यदि पशु-पक्षी व जड़-जंगम को पुनः नियमित बनाना है तो स्पष्ट है कि मानव को, जो इसका अप्रत्यक्ष बीज है, परिवर्तित करके पुनः संयमी, मर्यादित एवं चरित्रवान बनाना ही होगा।

ज्ञान व स्वचिन्तन का लक्ष्य और उससे प्राप्ति

वर्तमान काल के आत्म-विस्मृत व स्वार्थी मानव को पुनः चरित्रवान बनाने हेतु, सर्व स्नेही बापदादा ने हम बच्चों को जो साधन बताया है, उसका प्रारम्भ है – ज्ञान के आधार पर यथार्थ 'स्वचिन्तन'। ज्ञान के आधार पर हमें मनन-चिन्तन के द्वारा निश्चय करना है कि किस प्रकार मैं शरीर नहीं, बल्कि इससे सर्वथा भिन्न अनादि-अविनाशी चेतन आत्मा हूँ। मेरा स्वरूप ज्योतिर्बिन्दु है और मुझमें पूरे कल्प के संस्कार क्रम-बद्ध रूप में समाये हुए हैं। आत्मा की वास्तविक सूक्ष्मता व महत्ता का अनुभव इस विषय पर गहन-चिन्तन मनन करते रहने से होता रहता है। जितनी-जितनी ग़हरी व स्वाभाविक यह अनुभूति होती जाती है, उतना ही उसके बाह्य स्वरूप, कर्म करने की पद्धति एवं मानसिक व बौद्धिक स्तर में भी परिवर्तन होता जाता है। ऐसा पुरुषार्थी प्रायः कर्म करते हुए भी, स्वयं को न्यारा व केवल निमित्त अनुभव करता है और सर्व प्रकार के भय, वैर आदि से छूट जाता है। उसे कदम-कदम पर अनुभव होता है कि वह कार्य करने में निमित्त है। उचित समय पर ड्रामानुसार संकल्प उठता है, निमित्त साधन जुटते हैं और वह कार्यान्वित हो जाता है। फलस्वरूप उसे शान्ति की अनुभूति, जो वास्तव में आत्मा का स्वधर्म है, बनी ही रहती है। इस प्रकार वह अशान्त वातावरण के बीच रहते, कार्य करते हुए भी अशान्ति व उलझन से दूर रहता है। शरीर से न्यारेपन की बढ़ती हुई अनुभूति व अभ्यास से पुरुषार्थी का मन-बुद्धि व इन्द्रियों पर सहज अधिकार होता जाता है व विपरीत परिस्थितियाँ उसको विपरीत भासती ही नहीं। इस प्रकार वह सर्वथा अडोल, हर्षितमुख व निश्चिन्त रहने लगता है। किन्तु यह सब होते हुए भी, अन्य आत्माओं से रूहानी सम्बन्ध की प्रतीति के अभाव में, उनके कल्याण करने के उत्तरदायित्व की भावना का प्रादुर्भाव प्रायः एकाकी अथवा संन्यासी हो जाता है। इस कमज़ोरी को दूर करने हेतु राजयोग के निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक पुरुषार्थी को किसी व्यक्ति अथवा वस्तु में मोह है, उसे मृत्यु या किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के वियोग से भय अथवा दु:ख की लहर आती है या किसी घटना की चिन्ता उसे सताती रहती है। दूसरे शब्दों में अभी उसकी चेतना देहभान की है और वह इस आत्मिक रोग के कारण ही स्वार्थ, मानसिक संकुचितता, वैर-विरोध, भाव-स्वभाव, निन्दा-स्तुति आदि की दलदल में फँस जाता है। आत्मिक पहचान द्वारा पुरुषार्थी यथेष्ट पुरुषार्थ व अभ्यास करके इन विघ्नों पर

जीत प्राप्त कर लेता है। फिर पहले जैसी परिस्थितियों में भी उसमें संवेगात्मक प्रतिक्रिया नहीं होती व उसकी हर व्यक्ति के प्रति समबुद्धि हो जाती है जिससे कटुता व वैमनस्य की दुर्भावनाएं उसे छू तक नहीं पातीं।

राजयोग का निरन्तर अभ्यास व प्राप्ति

दैवी सम्पत्ति की प्राप्ति हेतु, दूसरा मुख्य दृष्टिकोण जो पुरुषार्थी का होना चाहिए, वह है – अन्य व्यक्तियों के प्रति भ्रातृत्व भावना का प्रादुर्भाव जिसका विकसित रूप उसमें 'वासुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा है। इस अनुभूति की सहज प्राप्ति के लिये ही ज्ञान-सागर शिव बाबा ने राजयोग का प्रशिक्षण दिया है। राजयोग के अभ्यास में पुरुषार्थी स्वयं को आत्म स्थिति में स्थित करके सर्वशक्तिवान् व गुणों के सागर निराकार परमपिता शिव जो कि परमधाम के वासी हैं, को याद करता है। फलस्वरूप उसकी आत्मस्थिति तो सुदृढ़ होती है और साथ-साथ वह बुद्धि के द्वारा सर्वगुणों व शक्ति के भण्डार से गुण व सर्वशक्तियाँ भी अर्जित करता जाता है, उसे यह भी अनुभव होता है कि सर्व आत्माएं उसी बाप की सन्तान होने के कारण उसके रूहानी भाई ही हैं। जिस प्रकार पावर हाऊस से सम्बन्ध होने पर खाली बैटरी में विद्युत शक्ति स्वतः ही भर जाती है ठीक उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् बाप से बुद्धि का सीधा व स्वाभाविक योग (सम्बन्ध; याद) होने से उसका अन्य आत्माओं से स्वाभाविक भावनात्मक सम्बन्ध जुटता जाता है। उसी चेतना से प्रेरित होकर उसका दृष्टिकोण उनके प्रति परिष्कृत होता है। अब उसे अन्य आत्माओं का अज्ञान, दुःख-दर्द प्रभावित करता है व उनकी पुकार उसको द्रवित करती है। अब वह मन, वचन तथा कर्म से उनके कल्याण के प्रयास में जुटे बिना नहीं रह पाता, जैसे माँ, बच्चे की पुकार सुनकर तटस्थ नहीं रह सकती, बल्कि अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी बच्चे के दुःख-दर्द को दूर करने का पुरुषार्थ करती है।

अतः यदि वास्तव में देखा जाये तो राजयोग का लक्ष्य पुरुषार्थी के दृष्टिकोण को व्यापक बनाना है जिससे उसे सर्व आत्माओं के प्रति स्वाभाविक रूहानी प्रेम तथा अपना कर्तव्य बोध हो और वह उनकी रूहानी सेवा में मन, वाणी व कर्म से अथक होकर जुट जाए।

रूहानी सेवा की सर्वोच्च स्थिति

वास्तव में प्रेम का स्वरूप है – त्याग व सेवा। और उसमें प्राप्त होता है – सन्तोष

व आनन्द। अतः स्पष्ट है कि सिवाय रूहानी सेवा के आत्मा अपने मूल गुण – आनन्द को अनुभव कर ही नहीं पायेगी। जितना-जितना पुरुषार्थी आत्म-स्थिति में पूर्ण होगा उतना ही वह निःस्वार्थ होगा व सूक्ष्म त्याग, सहज व स्वाभाविक रीति से कर सकेगा। वास्तव में सेवा की सफ़लता का आधार, भौतिक उपलब्धियों की तो बात क्या, मान-शान व अधिकार-भाव तक का सम्पूर्ण त्याग है। अतः सच्चा रूहानी सेवाधारी सदा न्यारे और प्यारे शिव पिता के स्नेह में खोया हुआ व अन्य आत्माओं के कल्याण के भाव से उनकी सेवा में लगा रहता है। लौकिक सम्बन्ध व सम्पर्क उसे आकर्षित नहीं कर सकता। सेकेण्ड में वाणी में तथा सेकेण्ड में वाणी से परे बाप के पास आता जाता रहता है। उसको अनुभव होता रहता है कि बाप के साथ-साथ वह भी केवल आत्माओं के कल्याण-हेतु इस साकार सृष्टि पर शरीर में निमित्त है। इस प्रकार उसका प्रत्येक श्वास, सेकेण्ड वा संकल्प स्वाभाविक रीति से उनके कल्याण प्रति ही चलता रहता है। इस प्रकार, उसकी मन, बुद्धि केवल श्रीमत के अनुसार चलने के कारण, उसकी समस्याओं का पलभर में योग्य समाधान हो जाता है व अपवित्रता की अविद्या हो जाती है। उसकी पावन कल्याणकारी वृत्ति व पितृवत पावन दृष्टि से वायुमण्डल तरंगित होता है जिससे उसके संग में आने वाली आत्माएं भी मन की शान्ति व इन्द्रियों की शीतलता का अनुभव करती हैं। प्रकाश स्तम्भ के रूप में वह अन्य आत्माओं को भी अशरीरी बिन्दु रूप की स्मृति दिलाता रहता है। उसके मुख से सदा अन्य आत्माओं के कल्याण के महावाक्य निकलते हैं जो उसकी स्वयं की धारणाओं व अनुभूतियों से भरा होने के कारण प्रेरणादायक होते हैं व अन्य व्यक्तियों की जीवन-धारणा ही बदल देते हैं। उसका हर कर्म अन्य व्यक्तियों व पुरुषार्थियों में दिव्य गुणों की धारणा कराने के निमित्त बनता है और इस प्रकार वह अन्य आत्माओं को दिव्य प्रेरणा देकर उन्हें आत्मस्थिति व राजयोग के अभ्यास की ओर सहज ही ढकेल देता है।

ऐसा पहुँचा हुआ योगी अपनी समबुद्धि के आधार पर वर्तमान जगत् में काम-क्रोधादि स्वभाव वाले व्यक्तियों के बीच रहते हुये भी अपनी समता को नहीं डिगने देता, बल्कि उनके कल्याणार्थ अपना उद्योग केवल कर्त्तव्य समझकर ही ज़ारी रखता है व स्वार्थपरायण व्यक्तियों की लोभ, क्रोध व अन्य दूषित वृत्तियों, दूषित व्यवहार को देखते हुए भी ड्रामा की सूक्ष्म पहचान के कारण उनसे खिन्न अथवा नाराज़ नहीं होता व अपना सन्तुलन बनाये रखता है। वास्तव में ऐसे रूहानी सेवाधारी का वर्णन ही गीता के दूसरे

ध्याय में स्थित-प्रज्ञ लक्षण, 13वें अध्याय में बताये हुए ज्ञानी के 20 लक्षण अथवा 6वें अध्याय में बताये हुए दैवी सम्पत्ति के 26 गुणों के रूप में है जिसका वह जीता-जागता स्वरूप है।

ड्रामा की धारणा व उससे प्राप्ति

ईश्वरीय ज्ञान के आधार पर रूहानी सेवाधारी यह जानता है कि गीता में वर्णित आसुरी लक्षणों वाले व्यक्ति भी मूल रूप से उसके रूहानी भाई आत्माएं ही हैं जो वतन्त्र दिखते हुए भी वर्तमान समय ड्रामा की नूँध के कारण इस समय ऐसा स्वभाव खने में परतन्त्र हैं। अत: उनके स्वार्थी, दम्भी, क्रोधी, अहंकारी अथवा संकुचित स्वभाव र उसे उनके प्रति घृणा के स्थान पर रहम आता है और वह सच्चे हृदय से अपनी ामर्थ्य अनुसार उनके कल्याण का मन, वचन व कर्म से पुरुषार्थ करता रहता है। इस कार स्वभावत: अपकारी पर निरन्तर उपकार करते रहने के कारण अन्ततोगत्वा वह नके हृदय पर भी जीत पा लेता है। वह बाबा के इस महावाक्य पर 'बीती सो बीती' व 'एक सेकेण्ड पहले जो बीता सो ड्रामा' की गहराई में जाकर अनुभव करता है कि ास्तव में जो व्यक्ति जिस समय जो-कुछ कर रहा है, ड्रामानुसार अपने संस्कार, स्वभाव व पूर्व-निश्चित पार्ट के अनुसार ठीक ही कर रहा है। अत: वह हर हालत में ड्रामा के ट्टे पर खड़ा रहकर अन्य आत्माओं के प्रति मानसिक ग्रन्थि नहीं होने देता, यद्यपि कभी-भी ज्ञान के आधार पर व बाबा के महावाक्यों के अनुसार वह उनसे थोड़े समय के लिए टस्थ हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ड्रामा की यथार्थ रीति धारणा, पुरुषार्थी को अवश्य ही हर प्रकार की हलचल से बचाती है व उसे अचल, अडोल व एक-रस अवस्था में रहकर आध्यात्मिक स्थिति की चरम सीमा पर पहुँचाने में सहायता करती है।

इस प्रकार आध्यात्मिक पुरुषार्थी को अपने ऊपर निरन्तर ध्यान (Attention) रखना आवश्यक है। चलते-चलते पिछले संस्कारों अथवा हिसाब-किताब के कारण यदि उस पर अशान्ति, भय, अहंकार अथवा आसक्ति का वार होता है तो उसे तुरन्त आत्म-स्मृति द्वारा अपनी आत्म-स्थिति पुन: सुदृढ़ बनानी चाहिए। यदि ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, रुकावट, मन-मुटाव आदि की महसूसता होती है तो योग द्वारा उन आत्माओं के प्रति भ्रातृ-भाव से [illegible] बनकर उनकी सूक्ष्म सेवा करनी चाहिए और यदि आवेश, क्रोध, [illegible] व [illegible] का कार्य-विघ्न पड़ता है तो ड्रामा की गहराई में जाकर अपना [illegible] ठीक करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि दुःखी, [illegible] व [illegible] के [illegible] में

कमी महसूस होती है तो स्पष्ट है कि उसका रूहानी सेवा का विभाग कमज़ोर है अर्थात् उसकी मन-बुद्धि निरन्तर कमाई न करने कारण नकारात्मक अथवा व्यर्थ संकल्पों के चक्रव्यूह में फँस गई है। अत: तुरन्त इसका उपयुक्त इलाज कर डालना चाहिए। ऐसा करने पर उसे अनुभव होगा कि उसका मन सदा एक-रस अवस्था, अलौकिक नशे, खुशी व आनन्द से भरपूर रहेगा, बुद्धि शिव बाबा की याद में व सेवा में सदा व्यस्त रहेगी जिससे नकारात्मक या व्यर्थ संकल्प उसके पास फटकने की हिम्मत न कर सकेंगे। इस प्रकार वह सदा जागती ज्योति, आध्यात्मिक शक्ति से भरपूर होकर अन्य आत्माओं की ज्योति जगाने व उन्हें आगे बढ़ाने में सफ़लता प्राप्त करेगा जो इस ब्राह्मण जीवन का लक्ष्य है।

ड्रामा की यथार्थ रीति धारणा, पुरुषार्थी को अवश्य ही हर प्रकार की हलचल से बचाती है व उसे अचल, अडोल व एक-रस अवस्था में रहकर आध्यात्मिक स्थिति की चरम सीमा पर पहुँचाने में सहायता करती है।

शब्द संयम

वाणी और विचार का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य के मन में जो भाव उठते हैं उनकी अधिकांश अभिव्यक्ति मनुष्य शब्दों द्वारा ही करता है। अत: शब्दों का बहुत बड़ा महत्व है; शब्द हर्ष भी उत्पन्न कर सकते हैं और संघर्ष भी। शब्दों से [illegible] भी देते हैं और शब्द ही शास्त्र की तरह का काम भी करते हैं। किन्हीं के शब्द लोगों को ऐसे प्रिय, मधुर, सुखप्रद और हितकर मालूम होते हैं कि लोग उनके ग्रंथ बनाकर प्रतिदिन अन्य कोई भी काम करने से पहले उनका पाठ अथवा परायण करते हैं। वे उस पुस्तक को पवित्र मानकर अपने घर में उसे विशेष स्थान देते हैं, नहा-धोकर ही उसे स्पर्श करते हैं और उन्हें अपने लिये सत्य और आदर्श का ऐसा प्रतीक मानते हैं कि यदि वे उसे हाथ में लेकर कोई बात कहें तो विरोधी भी उनकी बात को सत्य मान लेते हैं। शब्दों द्वारा ही लोगों में परस्पर समझौते होते हैं, वे एक-दूसरे से वचन भी करते है, शपथ भी लेते हैं या लाखों-करोड़ों के सौदे भी तय कर लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार का बहुत-कुछ कार्य-व्यवहार-व्यापार शब्द के माध्यम से हो रहा है। शब्द का इतना प्रयोग है और इतना महत्व है कि जिसका पूरा वर्णन करने के लिए हमारे पास शब्द नहीं हैं।

यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो भी शब्द का बहुत-बड़ा महत्व है। मनुष्य शब्दों द्वारा प्रभु की महिमा कर सकता है और शब्द द्वारा किसी व्यक्ति की निंदा करने में भी प्रवृत्त हो सकता है। वह ऐसे ज्ञान-युक्त शब्द भी बोल सकता है कि जिन्हें सुनकर लोग कहें कि इसने बहुत अच्छा प्रवचन किया और वह ऐसे कठोर, कष्टदायक, कर्कश शब्द भी कह सकता है कि जिन्हें सुनकर लोग कहें कि इसने हमें गाली दी। उसके शब्द ऐसे मधुर भी हो सकते हैं कि जिन्हें सुनकर लोग खुश हों और वह ऐसे तेज़-तर्रार शब्द भी मुख से निकाल सकता है कि जिनके कारण लोग उससे रूठ जायें। उसके वाक्य लोगों को प्रेरणा देने वाले भी हो सकते हैं, और भड़काने वाले भी। उसके बोल को '[illegible]' और 'झूठ' की संज्ञा भी दी जा सकती है और '[illegible]' तथा '[illegible]' का नाम भी दिया जा सकता है। अत: मनुष्य अपने शब्दों से दूसरों की सेवा, उनका भला अथवा मार्गदर्शन भी कर सकता है और वह शब्दों का ऐसा भी प्रयोग कर सकता है कि जिन्हें सुनकर लोग बुराई के मार्ग पर चलें, अथवा वे [illegible] दुविधा एवं उलझन में पड़ जायें। इसलिए ही कहा गया है कि बोलने से पहले मनुष्य को चाहिए कि अपने शब्दों को तोल ले क्योंकि न केवल वह शब्दों से [illegible], उत्साह, [illegible] और [illegible] को

बढ़ावा दे सकता है बल्कि शब्दों द्वारा उसका अपना भी मूल्यांकन हो जाता है।

वास्तव में मनुष्य के शब्द लौट कर उसके अपने ही पास आते हैं। यदि वह शब्दों द्वारा लोगों का सम्मान करता है तो लोग भी उसके लिए आदर-सूचक शब्दों का प्रयोग करते हैं। यदि वह लोगों से स्नेह और मधुरता से पूर्ण शब्दों द्वारा व्यवहार करता है तो लोग भी उसके प्रति गरम शब्द की बजाय नरम शब्द, कटु वचन की बजाय मधुर वचन और अशिष्ट की बजाय शिष्ट वाक्यों का प्रयोग करते हैं। और यदि वे भूल-चूक से कुछ अनुचित शब्दों का प्रयोग कर भी बैठते हैं तो उनका अन्तर्मन उन्हें स्वयं प्रायश्चित करने पर तथा क्षमा माँगने पर मजबूर करता है। अतः मनुष्य को यह बात अच्छी तरह से समझनी चाहिए कि वह जो शब्द बोलता है वे सारे समाज में एक हलचल पैदा करने वाले अथवा उसे संगठित, व्यवस्थित एवं हर्षित बनाने वाले होते हैं और वे जैसा भी हों, लौटकर उसी के पास आते हैं।

शब्द-रचना के लिए चार बातों पर ध्यान

कई मनुष्य समय, स्थिति, स्थान, और सम्बन्ध को ध्यान में न रखकर कुछ कह देते हैं। उससे निश्चय ही वे समय में स्वयं आगे बढ़ने की बजाय पीछे हटते हैं; स्वयं को उस स्थान के अयोग्य सिद्ध करते हैं; अपनी दूसरों की स्थिति को बिगाड़ने के निमित्त बनते हैं और सम्बन्धों में अधिक मिठास और स्नेह लाने की बजाय उनमें विषमता लाते हैं। इस प्रकार वे अपने लिए एक भंवर बना देते हैं। और स्वयं ही उसमें फँस जाते हैं। समझदार मनुष्य को चाहिए कि वह उपर्युक्त चारों बातों पर विचार करके ही कुछ कहे। यदि उसका मन हताश है, तो कम-से-कम अपनी वाणी द्वारा दूसरों को न गिराए। यदि वह स्वयं किसी से रुष्ट है तो निंदा, उलाहने अथवा व्यर्थ वचनों द्वारा दूसरों के सम्बन्ध को न तोड़े। यदि वह असन्तुष्ट है तो दूसरों का संतोष उनसे न छीने। यदि कोई आगे बढ़ रहा है तो उसको अपने वचनों द्वारा भटकाने का निमित्त न बने वरना उसके ये शब्द लौट कर उसी पर ही आयेंगे।

ग़लत तरीका

कुछ लोगों के बोलने का तरीका ऐसा होता है कि लोग उनके लिए कई तरह के मुहावरों का प्रयोग करते हैं। यदि कोई मनुष्य कटु वचन बोलता है तो वे कहते हैं – "अरे भाई, आप बोल रहे हैं या पत्थर मार रहे हैं!" कुछ लोग ऐसी बातें, जो विषय से सम्बन्धित न हों, बोलते ही चले जाते हैं अथवा बड़ों के बैठे होने पर भी न कहने-जैसी बातें किंवा अनाप-शनाप वाक्य कहते चले जाते हैं तब लोग कहते हैं – "इसकी

ज़बान तो ऐसी है जैसे बे-लगाम घोड़ी!" कुछ लोग पहले तो बहुत देर तक चुप बैठे रहते हैं, पूछने पर उत्तर भी नहीं देते, फिर ऐसे धड़ाके से बोलते हैं कि लोग कहते हैं कि "यह तो सोडा वाटर बोतल की तरह खुल पड़ा है अथवा यह तो कोई मुर्दा कफन फाड़कर बोल रहा है!" कुछेक के बोल ऐसे होते हैं कि लोग कहते हैं कि इसकी सब बातें बनावटी और दिखावटी हैं। गोया मनुष्य के शब्दों से उसके स्वभाव और संस्कारों का पता चलता है। अत: ज्ञानवान मनुष्य को चाहिए कि अपने शब्दों पर संयम करे। यदि किसी मनुष्य के साथ हमारे विचार नहीं मिलते तो भी हमें उससे कटु वचन बोलने की ज़रूरत नहीं है। उसके साथ हमारा बोल चाल शिष्ट ही होना चाहिए। अंग्रेजी में कहा है – Let us agree to disagree, अर्थात् 'यदि हमारा परस्पर विचार नहीं मिलता तो, आओ, कम-से-कम हम परस्पर इतनी तो सहमति कर लें कि हम अपने भिन्न विचारों को भी शिष्टाचारपूर्ण रीति से ही बतायेंगे।'

मनुष्य को यह बात अच्छी तरह से समझनी चाहिए कि वह जो शब्द बोलता है वे सारे समाज में एक हलचल पैदा करने वाले अथवा उसे संगठित, व्यवस्थित एवं हर्षित बनाने वाले होते हैं और वे जैसा भी हों, लौटकर उसी के पास आते हैं।

मैत्री

कहा गया है कि जो हमारी निन्दा करते हैं, उसे भी हम अपना मित्र समझें। यह बात कहने और सुनने में तो अच्छी लगती है परंतु व्यावहारिक क्षेत्र में देखा गया है कि प्रशंसक ही प्रिय लगता है; निन्दक की बात तो कड़वी ज़हर की तरह अनुभव होती है। निन्दक से एक-दो-बार हम निन्दा सुन भी लें, तीसरी बार हम निन्दा की शूल-शैय्या पर नहीं सोना चाहते। आवश्यकता भी क्या है? प्रतिदिन थोड़े ही हृदय या मस्तिष्क का एक्स-रे (X-Ray) कराया जाता है? निन्दक ने हमारे अंदर का एक्स-रे ले लिया और जो जांच (Diagnosis) बतानी थी, हमारी वह बीमारी बता दी। निन्दक तो एक्स-रे ही निकाल सकता है, वह इलाज थोड़े ही कर सकता है? अत: हमें चाहिए कि हम उसे एक्स-रे के लिए या स्टूल-टेस्ट (Stool-test), यूरिन टैस्ट (urine test) आदि के लिए धन्यवाद कर दें और फिर अगर उसके बताए हुए टेस्ट में कुछ है तो अब उसका इलाज करें। (हाँ, वह स्टूल टेस्ट और यूरिन टेस्ट ही तो करता है!) आखिर उसने कुछ तो बताया ही है, उसके लिए उसे 'मित्र' तो समझना ही होगा। परंतु अगर वह प्रतिदिन हमारे आवेदन के बिना ही जबरदस्ती हमारा टेस्ट करके बताने लगे तो हम उस जानवरों के डॉक्टर (vetenary doctor) के पास क्यों जाएं? परंतु उसे 'मित्र' समझना नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि यदा-कदा वह हमें मिलता रहेगा तो अपनी जिंजर (Ginger) की बोतल से हमारा हाज़मा ठीक कर दिया करेगा।

लेकिन बात केवल निन्दक ही को मित्र मानने की नहीं है। गीता में कहा गया है कि **''आत्मा अपना मित्र स्वयं है और अपना शत्रु भी आप ही है''** क्योंकि हमारे अच्छे कर्म और सद्गुण ही हमारे मित्र हैं और हमारे दुर्गुण तथा हमारे बुरे कर्म ही हमारे शत्रु हैं। तब क्या इसका यह अर्थ है कि अगर कोई भी हमें दु:ख देने का कारण बने तो हम उसे अपना शत्रु न मानें? क्या हम यही सोच लें कि वह हमारे ही बुरे कर्मों का फल देने के निमित्त बना है। क्या ऐसी मान्यता सदा के लिए सही है? **अगर हरेक व्यक्ति सदा हर दूसरे व्यक्ति को उसी के बुरे कर्मों का फल देने के निमित्त बनता है तो फिर पुलिस उसे अपराधी मानकर पकड़ती क्यों है और न्यायाधीश उसे फांसी की या अन्य कोई सज़ा क्यों देता है?** जब कोई व्यक्ति हम से पचास हजार रुपये का ऋण लेकर हमारी सारी राशि हड़प कर जाता है और उसे भी हमें 'मित्र' ही मानना है तब फिर उसके विरुद्ध मुकदमा

करने की ज़रूरत क्या है? जिसे 'मित्र' माना जाता है, उस पर मुकदमा थोड़े ही किया जाता है? अगर सचमुच वह हमारे ही पिछले कर्मों का फल देने अथवा कर्मों का लेखा चुकाने के निमित्त बना है, तब वकील पर पैसे खर्च करके और कोर्ट फीस देकर झंझट में पड़ने की आवश्यकता क्या है? अगर हमें हरेक को 'मित्र' ही मानना है तो यदि कोई हमें लूट भी जाए तो भी उसे 'मित्र' ही मानना होगा क्योंकि कथित सिद्धांत के अनुसार उसने हमारे ही कर्मों का बोझ हल्का किया है? – क्या इसी का नाम 'आध्यात्मिक ज्ञान' या कर्म-दर्शन (Karma philosophy) है? क्या इसी ज्ञान से हमारे जीवन में सुख और शान्ति की प्राप्ति होगी? या वास्तविक रहस्य कुछ और है?

स्वयं योग दर्शन में भी योगी के लिए 'मैत्री' धारण करना आवश्यक कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी बार-बार कहा गया है कि योगी को मैत्री और करुणा धारण करनी चाहिए। पुराने ज़माने में जब लोग छोटे-छोटे गांवों या नगरों में रहते थे और उनकी आवश्यकताएं इतनी अधिक ही नहीं थीं और सरकार या लोग आज की तरह कट्टर स्वार्थी और कष्ट देकर काम निकालने वाले नहीं थे, तब तो शायद मैत्रीभाव धारण करना कुछ आसान हुआ करता होगा।

आज, जबकि जगह-जगह मनुष्य ठोकर मारकर भी अपना रास्ता निकालने को तैयार है और धक्का देकर भी या कुर्सी से उतारकर भी स्वयं कुर्सी पर बैठने के दावेदार हैं, तब भी क्या हर-एक को 'मित्र' माना जाए? और क्या वह आसान है?

मित्र 'मानने' की बात

इसको समझने की बात यह है कि व्यवहार के तीन आयाम हैं। पहले-पहल तो हमें सबके प्रति मित्रभाव रखना ही चाहिए। जबकि किसी ने हमारा कुछ बिगाड़ा ही नहीं है, तब हम उसे अपना शत्रु क्यों मानें? अगर प्रारंभ ही से किसी को शत्रु मानकर चलेंगे और इस प्रकार उसे संदेह की दृष्टि से देखेंगे तो हमारे मानसिक प्रकम्पनों (Mental Vibrations) और व्यवहार के फलस्वरूप शत्रुता उत्पन्न होने लगेगी या संघर्ष प्रारंभ हो सकता। मित्रता और प्रेम के संकल्प दूसरे के मन में भी प्रायः प्रेमभाव ही पैदा करते हैं और, जब तक, किसी के मानसिक व्यवहार या व्यवहार से 'शत्रुता' का स्पष्ट प्रमाण सामने न आए, तब-तब तक तो हमें उसे मित्र मानना ही चाहिए।

द्वेष, छल-कपट तथा निःस्वार्थ भरा हुआ है, तब भी हमें उससे चौकस रहते हुए, अपनी सुरक्षा और अपने हित के प्रति सचेत रहते हुए, साथ-साथ उसके प्रति भी मैत्री भाव ही रखते हुए व्यवहार करना चाहिए। उसे अपना 'शत्रु' घोषित करने से तो वह डटकर शत्रुता करेगा। हमारे द्वारा मित्रता का व्यवहार होने पर फिर भी कुछ रियायत करेगा ही। परंतु उसके प्रति मित्रभाव रखने का यह अर्थ नहीं है कि हम उससे लुटने को उद्यत हो जाएं और कबूतर की तरह बिल्ली के सामने आंखे बंद कर लें। हमें चाहिए कि हम मित्रता के बल से उसे जीतें, उसके स्वभाव में परिवर्तन लाएं और यदि ऐसा शीघ्र न हो सके तो कम-से-कम उससे मार न खा जाएं उससे लुटने की परिस्थिति पैदा करना और फिर यह समझना कि उससे हमारा पिछले कर्मों का लेखा चुकता हुआ, ज्ञान का यह गलत प्रयोग है। हमारे भरसक प्रयत्न करने के बाद भी यदि हमें कुछ क्षति पहुंचती है तो हमें समझना चाहिए कि 'शायद' हमारे पिछले कर्मों का हिसाब-किताब चुकता हुआ है। हम यहाँ 'शायद' शब्द का इसलिए प्रयोग कर रहे हैं कि पिछले कर्मों का हिसाब चुकता होने के अतिरिक्त भी कई संभावनाएं हो सकती हैं।

उदाहरण के तौर पर यह भी संभव है कि उस व्यक्ति ने अब यह नया कष्टदायक कर्म किया हो और उसकी ही दुष्टता (न कि हमारे पिछले कर्मों) के परिणामस्वरूप हमें क्षति हुई हो। तब हम यों ही कैसे मान लें कि हमें अपने ही कर्मों का नतीजा भुगतना पड़ा है – यद्यपि उसमें थोड़ा कुछ हमारे कर्मों का भी कारण रहा होगा।

अतः आज के वातावरण में यदि हम ठीक समझें तो अब किसी सांझे मित्र द्वारा नैतिक दबाव, पुलिस, न्यायालय या अन्य मानवोचित साधनों से हमें अपनी क्षति की पूर्ति कराने का पुरुषार्थ करना चाहिए। अगर उसने पाप करने की पहल नहीं भी की होगी तो भी अपराध की रोकथाम के लिए हमारे द्वारा किए गये पुरुषार्थ से भविष्य में कुछ-न-कुछ तो उसे और दूसरों को पाप-कर्म करने से हिचकिचाहट होगी ही। अतः क्षति पहुंचाने वाले के प्रति द्वेष, घृणा या हिंसा वृत्ति न अपनाकर उसको अन्यान्य रीति से न्यायमार्ग पर ले जाना भी उससे मित्रता ही है ताकि वह अपने पाप और ऋण से मुक्त हो। आखिर हमारा लक्ष्य बदला चुकाने का न होकर उसे भविष्य में ठीक व्यवहार के लिए विवश करना तथा अपनी क्षति की पूर्ति कराना ही है। अतः यद्यपि वह स्वयं को हमारा मित्र नहीं मानता तब भी हम तो उसे होवनहार मित्र 'मानकर' उसे बुराई से रोकने का यत्न करते हैं।

व्यवहार का तीसरा आयाम यह है कि हमें अपनी सज्जनता का त्याग नहीं करना

चाहिए। शांति और सद्भावना को बनाए रखते हुए भी तो हम उससे संभलकर चल सकते हैं और यदि उसे बदल न भी पाएं तो उसका नियम और मर्यादानुकूल सामना (या अपना बचाव) कर सकते हैं?

इन सभी के बावजूद भी यदि हमारी क्षतिपूर्ति नहीं होती और दूसरा व्यक्ति वैर-वैमनस्य को नहीं छोड़ता तब एक संभावना यह हो सकती है कि हमारे पिछले जन्म के या इस जन्म के गत काल के या वर्तमान में की गयी हमारी किन्हीं गलतियों के कारण ही हमें यह कष्ट उठाना पड़ रहा है। तब भी हमारे सामने दो तरीके हैं — एक यह कि हम उसे अपना 'शत्रु' मानकर उसका कष्ट सहन करें, दूसरे यह कि उसके प्रति 'मित्रभाव' रखकर उस कष्ट को झेलें। अगर हम शत्रुता भाव रखेंगे तो इस नकारात्मक संकल्प से आगे के लिए पुन: अपना खराब संस्कार बनाएंगे और कष्ट के बीज बोएंगे और यदि मित्रभाव बनाए रखेंगे तो सकारात्मक संकल्प द्वारा इस कष्ट के बाद अपने लिए सुख का मार्ग प्रशस्त करेंगे और ऐसे धाम में जायेंगे जहाँ कोई किसी का न शत्रु होता है, न कोई किसी को कष्ट पहुंचाता है।

पुनश्च, शत्रुभाव रखकर तो हम शत्रु-चिंतन में लग जायेंगे। तब प्रभु-चिंतन तो हो ही नहीं सकेगा। प्रभु-चिंतन न होने से न कष्ट में कमी होगी न सहनशीलता बढ़ेगी और न शत्रु की शत्रुता को मिटाने का उपाय होगा। बल्कि शत्रु-चिंतन से शरीर की ग्रंथियां बिगड़ने के कारण स्वास्थ्यनाशक होंगी और हमारे मन की शांति भी नष्ट होगी और शत्रु-चिंतन के कारण हम अपने संस्कारों को भी शत्रुता,घृणा-द्वेष आदि से युक्त ही बनाकर दुःखभोगी होंगे। इस प्रकार, सर्वभावेन् मित्रभाव अथवा मैत्री ही हमारी नीति-रीति, विधि-विधान, वृत्ति और कृति होने चाहिए। "सबका भला हो" — यह भाव ही सदा हमारे मन में बना रहे।



द्वेष, छल-कपट तथा निःस्वार्थ भरा हुआ है, तब भी हमें उससे चौकस रहते हुए, अपनी सुरक्षा और अपने हित के प्रति सचेत रहते हुए, साथ-साथ उसके प्रति भी मैत्री भाव ही रखते हुए व्यवहार करना चाहिए। उसे अपना 'शत्रु' घोषित करने से तो वह डटकर शत्रुता करेगा। हमारे द्वारा मित्रता का व्यवहार होने पर फिर भी कुछ रियायत करेगा ही। परंतु उसके प्रति मित्रभाव रखने का यह अर्थ नहीं है कि हम उससे लुटने को उद्यत हो जाएं और कबूतर की तरह बिल्ली के सामने आंखे बंद कर लें। हमें चाहिए कि हम मित्रता के बल से उसे जीतें, उसके स्वभाव में परिवर्तन लाएं और यदि ऐसा शीघ्र न हो सके तो कम-से-कम उससे मार न खा जाएं उससे लुटने की परिस्थिति पैदा करना और फिर यह समझना कि उससे हमारा पिछले कर्मों का लेखा चुकता हुआ, ज्ञान का यह गलत प्रयोग है। हमारे भरसक प्रयत्न करने के बाद भी यदि हमें कुछ क्षति पहुंचती है तो हमें समझना चाहिए कि **'शायद'** हमारे पिछले कर्मों का हिसाब-किताब चुकता हुआ है। हम यहाँ **'शायद'** शब्द का इसलिए प्रयोग कर रहे हैं कि पिछले कर्मों का हिसाब चुकता होने के अतिरिक्त भी कई संभावनाएं हो सकती हैं।

उदाहरण के तौर पर यह भी संभव है कि उस व्यक्ति ने अब यह नया कष्टदायक कर्म किया हो और उसकी ही दुष्टता (न कि हमारे पिछले कर्मों) के परिणामस्वरूप हमें क्षति हुई हो। तब हम यों ही कैसे मान लें कि हमें अपने ही कर्मों का नतीजा भुगतना पड़ा है – यद्यपि उसमें थोड़ा कुछ हमारे कर्मों का भी कारण रहा होगा।

अतः आज के वातावरण में यदि हम ठीक समझें तो अब किसी सांझे मित्र द्वारा नैतिक दबाव, पुलिस, न्यायालय या अन्य मानवोचित साधनों से हमें अपनी क्षति की पूर्ति कराने का पुरुषार्थ करना चाहिए। अगर उसने पाप करने की पहल नहीं भी की होगी तो भी अपराध की रोकथाम के लिए हमारे द्वारा किए गये पुरुषार्थ से भविष्य में कुछ-न-कुछ तो उसे और दूसरों को पाप-कर्म करने से हिचकिचाहट होगी ही। अतः क्षति पहुंचाने वाले के प्रति द्वेष, घृणा या हिंसा वृत्ति न अपनाकर उसको अन्यान्य रीति से न्यायमार्ग पर ले जाना भी उससे मित्रता ही है ताकि वह अपने पाप और ऋण से मुक्त हो। आखिर हमारा लक्ष्य बदला चुकाने का न होकर उसे भविष्य में ठीक व्यवहार के लिए विवश करना तथा अपनी क्षति की पूर्ति कराना ही है। अतः यद्यपि वह स्वयं को हमारा मित्र नहीं मानता तब भी हम तो उसे होवनहार मित्र 'मानकर' उसे बुराई से रोकने का यत्न करते हैं।

व्यवहार का तीसरा आयाम यह है कि हमें अपनी सज्जनता का त्याग नहीं करना

चाहिए। शांति और सद्भावना को बनाए रखते हुए भी तो हम उससे संभलकर चल सकते हैं और यदि उसे बदल न भी पाएं तो उसका नियम और मर्यादानुकूल सामना (या अपना बचाव) कर सकते हैं?

इस सभी के बावजूद भी यदि हमारी क्षतिपूर्ति नहीं होती और दूसरा व्यक्ति वैर-वैमनस्य को नहीं छोड़ता तब एक संभावना यह हो सकती है कि हमारे पिछले जन्म के या इस जन्म के गत काल के या वर्तमान में की गयी हमारी किन्हीं ग़लतियों के कारण ही हमें यह कष्ट उठाना पड़ रहा है। तब भी हमारे सामने दो तरीके हैं – एक यह कि हम उसे अपना 'शत्रु' मानकर उसका कष्ट सहन करें, दूसरे यह कि उसके प्रति 'मित्रभाव' रखकर उस कष्ट को झेलें। अगर हम शत्रुता भाव रखेंगे तो इस नकारात्मक संकल्प से आगे के लिए पुन: अपना खराब संस्कार बनाएंगे और कष्ट के बीज बोएंगे और यदि मित्रभाव बनाए रखेंगे तो सकारात्मक संकल्प द्वारा इस कष्ट के बाद अपने लिए सुख का मार्ग प्रशस्त करेंगे और ऐसे धाम में जायेंगे जहाँ कोई किसी का न शत्रु होता है, न कोई किसी को कष्ट पहुंचाता है।

पुनश्च, शत्रुभाव रखकर तो हम शत्रु-चिंतन में लग जायेंगे। तब प्रभु-चिंतन तो हो ही नहीं सकेगा। प्रभु-चिंतन न होने से न कष्ट में कमी होगी न सहनशीलता बढ़ेगी और न शत्रु की शत्रुता को मिटाने का उपाय होगा। बल्कि शत्रु-चिंतन से शरीर की ग्रंथियाँ विकृति के कारण स्वास्थ्यनाशक होंगी और हमारे मन की शांति भी नष्ट होगी और शत्रु-चिंतन के कारण हम अपने संस्कारों को भी शत्रुता,घृणा-द्वेष आदि से युक्त ही बनाकर भुक्त-भोगी होंगे। इस प्रकार, सर्वभावेन् मित्रभाव अथवा मैत्री ही हमारी नीति-रीति, विधि-विधान, वृत्ति और कृति होने चाहिए। "सबका भला हो" – यह भाव ही सदा हमारे मन में बना रहे।



द्वेष, छल-कपट तथा निःस्वार्थ भरा हुआ है, तब भी हमें उससे चौकस रहते हुए, अपनी सुरक्षा और अपने हित के प्रति सचेत रहते हुए, साथ-साथ उसके प्रति भी मैत्री भाव ही रखते हुए व्यवहार करना चाहिए। उसे अपना 'शत्रु' घोषित करने से तो वह डटकर शत्रुता करेगा। हमारे द्वारा मित्रता का व्यवहार होने पर फिर भी कुछ रियायत करेगा ही। परंतु उसके प्रति मित्रभाव रखने का यह अर्थ नहीं है कि हम उससे लुटने को उद्यत हो जाएं और कबूतर की तरह बिल्ली के सामने आंखे बंद कर लें। हमें चाहिए कि हम मित्रता के बल से उसे जीतें, उसके स्वभाव में परिवर्तन लाएं और यदि ऐसा शीघ्र न हो सके तो कम-से-कम उससे मार न खा जाएं उससे लुटने की परिस्थिति पैदा करना और फिर यह समझना कि उससे हमारा पिछले कर्मों का लेखा चुकता हुआ, ज्ञान का यह गलत प्रयोग है। हमारे भरसक प्रयत्न करने के बाद भी यदि हमें कुछ क्षति पहुंचती है तो हमें समझना चाहिए कि 'शायद' हमारे पिछले कर्मों का हिसाब-किताब चुकता हुआ है। हम यहां 'शायद' शब्द का इसलिए प्रयोग कर रहे हैं कि पिछले कर्मों का हिसाब चुकता होने के अतिरिक्त भी कई संभावनाएं हो सकती हैं।

उदाहरण के तौर पर यह भी संभव है कि उस व्यक्ति ने अब यह नया कष्टदायक कर्म किया हो और उसकी ही दुष्टता (न कि हमारे पिछले कर्मों) के परिणामस्वरूप हमें क्षति हुई हो। तब हम यों ही कैसे मान लें कि हमें अपने ही कर्मों का नतीजा भुगतना पड़ा है — यद्यपि उसमें थोड़ा कुछ हमारे कर्मों का भी कारण रहा होगा।

अतः आज के वातावरण में यदि हम ठीक समझें तो अब किसी सांझे मित्र द्वारा [illegible] दबाव, पुलिस, न्यायालय या अन्य मानवोचित साधनों से हमें अपनी क्षति की पूर्ति करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। अगर उसने पाप करने की पहल नहीं भी की होगी तो भी [illegible] के लिए हमारे द्वारा किए गये पुरुषार्थ से भविष्य में कुछ-न-कुछ [illegible] और दूसरों को पाप-कर्म करने से हिचकिचाहट होगी ही। अतः क्षति पहुंचाने वाले [illegible] न अपनाकर उसको अन्यान्य रीति से न्यायमार्ग पर ले [illegible] ताकि वह अपने पाप और ऋण से मुक्त हो। आखिर हमारा [illegible] भविष्य में ठीक व्यवहार के लिए विवश करना [illegible] अतः यद्यपि वह स्वयं को हमारा मित्र नहीं मानता [illegible] बुराई से रोकने का यत्न करते हैं।

[illegible] है कि हमें अपनी [illegible] का त्याग नहीं [illegible]

चाहिए। शांति और सद्‌भावना को बनाए रखते हुए भी तो हम उससे संभलकर चल सकते हैं और यदि उसे बदल न भी पाएं तो उसका नियम और मर्यादानुकूल सामना (या अपना बचाव) कर सकते हैं?

इस सभी के बावजूद भी यदि हमारी क्षतिपूर्ति नहीं होती और दूसरा व्यक्ति वैर-वैमनस्य को नहीं छोड़ता तब एक संभावना यह हो सकती है कि हमारे पिछले जन्म के या इस जन्म के गत काल के या वर्तमान में की गयी हमारी किन्हीं ग़लतियों के कारण ही हमें यह कष्ट उठाना पड़ रहा है। तब भी हमारे सामने दो तरीके हैं — एक यह कि हम उसे अपना 'शत्रु' मानकर उसका कष्ट सहन करें, दूसरे यह कि उसके प्रति 'मित्रभाव' रखकर उस कष्ट को झेलें। अगर हम शत्रुता भाव रखेंगे तो इस नकारात्मक संकल्प से आगे के लिए पुन: अपना खराब संस्कार बनाएंगे और कष्ट के बीज बोएंगे और यदि मित्रभाव बनाए रखेंगे तो सकारात्मक संकल्प द्वारा इस कष्ट के बाद अपने लिए सुख का मार्ग प्रशस्त करेंगे और ऐसे धाम में जायेंगे जहाँ कोई किसी का न शत्रु होता है, न कोई किसी को कष्ट पहुंचाता है।

पुनश्च, शत्रुभाव रखकर तो हम शत्रु-चिंतन में लग जायेंगे। तब प्रभु-चिंतन तो हो ही नहीं सकेगा। प्रभु-चिंतन न होने से न कष्ट में कमी होगी न सहनशीलता बढ़ेगी और न शत्रु की शत्रुता को मिटाने का उपाय होगा। बल्कि शत्रु-चिंतन से शरीर की ग्रंथियाँ विकृति के कारण स्वास्थ्यनाशक होंगी और हमारे मन की शांति भी नष्ट होगी और शत्रु-चिंतन के कारण हम अपने संस्कारों को भी शत्रुता,घृणा-द्वेष आदि से युक्त ही बनाकर भुक्त-भोगी होंगे। इस प्रकार, सर्वभावेन् मित्रभाव अथवा मैत्री ही हमारी नीति-रीति, विधि-विधान, वृत्ति और कृति होने चाहिए। "सबका भला हो" — यह भाव ही सदा हमारे मन में बना रहे।



मुरली और ईश्वरीय महावाक्य


जापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय में प्रतिदिन प्रात: काल ईश्वरीय वचनों की जो अभिलिपि 'मुरली' नाम से सुनाई जाती है उसमें प्राय: प्रारम्भ में ही 'भगवानुवाच' अथवा 'शिव भगवानुवाच' शब्द आते हैं। इन्हें पढ़ अथवा सुनकर किसी भी अनभिज्ञ अथवा नव-परिचित व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या इस अभिलिपि में जो शब्द-पुष्प वाक्यों के रूप में गुंथे हुए हैं, वे सब भगवान् के कमल-मुख से पुष्पित और विनिसृत हुए हैं? कुछ जनों को तो यह सोचकर ही आश्चर्य होता है कि भगवान् मनुष्यात्माओं के सम्मुख मुखारविन्द से कुछ बोलते भी हैं। वे बार-बार विस्मित अथवा आश्चर्यान्वित होते हैं और गहरे सोच में भी पड़ जाते हैं कि यदि प्रभु धरा पर आकर मनुष्यात्माओं के सामने प्रवचन करते हैं तब तो ये संसार की एक मुख्यतम घटना है।

परमात्मा का अवतरण – एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वृत्तान्त

इसमें भला सन्देह भी क्या हो सकता है कि परमपिता परमात्मा का इस पृथ्वी पर आगमन एक ऐसा वृत्तान्त है जिसके महत्व को व्यक्त करने के लिए मानवीय शब्द-कोष में कोई युक्त एवं पर्याप्त शब्द ही नहीं हैं। यह वह घटना है जिससे संसार के इतिहास का आरम्भ होता है और जिसके बाद संसार के एक इतिहास-चक्र का अन्त भी होता है। परमात्मा का अवतरण ऐसा अवतरण है जो पृथ्वी को असुरों से मुक्त करके देवताओं के निवास के योग्य बनाता है और संसार के सभी क्लेषों और कष्टों का स्थाई रूप से अन्त करता है। इसलिए इस वृत्तान्त की तुलना में संसार की अन्य सब क्रान्तियाँ तथा सब आविष्कार, सब दर्शन और सब उपाय फीके हैं क्योंकि उन सबसे यह संसार वैसा सुखमय नहीं बना जैसा कि पहले आदि काल में भगवान् ने अपने महावाक्य उच्चारण करके इस सृष्टि को स्वर्ग बनाया था। सच तो यह है कि यह वृत्तान्त इतना तो मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण है कि इसकी सूचना हर सूचना पट पर, हर चौराहे पर, हर समाचार प्रसारण और समाचार पत्र में और हर किताब के हर पन्ने के शीर्ष-स्थान पर अंकित होनी चाहिए ताकि संसार का कोई भी व्यक्ति इससे अनभिज्ञ न रह जाये।

हमने अपने इस छोटे-से जीवन में देखा है कि कुछ लोग किसी परिचित या अपरिचित व्यक्ति को एक पोस्टकार्ड लिख भेजते हैं और उसमें वे कोई ऐसी बात लिख

देते हैं जिसके बारे में वे पत्र पाने वाले से निवेदन करते हैं कि वह कम-से-कम सात और व्यक्तियों को वैसा ही पत्र लिख भेजे। परन्तु वास्तव में परमात्मा का अवतरण ही ऐसा वृतान्त है और उनकी मुरली के वाक्य ही ऐसे महावाक्य हैं तथा उनकी शिक्षा ही ऐसा महामंत्र है जिसका उल्लेख दूसरों को करके भेजना चाहिए ताकि वे बाद में उलाहना न दे सकें कि उन्हें किसी ने परमात्मा के अवतरण की सूचना ही नहीं दी।

परमात्मा के अवतरण एवं प्रवचन के बारे में मुख्य चार आपत्तियाँ

जैसे कि लेख के प्रारम्भ में भी हमने कहा है, अनभिज्ञ अथवा नव-परिचित लोगों को परमात्मा के अवतरण की बात पढ़कर आश्चर्य होता है। वे सोचते हैं कि 1. क्या सर्वशक्तिमान परमात्मा किसी मनुष्य के तन में आ सकता है? 2. क्या ज्ञान का असीम भण्डार किसी काया की सीमा में प्रवेश कर सकता है? 3. क्या वह दिव्य का घनीभूत पुन्ज किसी मानवीय भाषा में बोल सकता है? 4. क्या वह परमपवित्र प्रभु माया-मोह में पड़े मनुष्यों के सामने विराजमान हो सकता है? उपरोक्त दूसरे प्रश्न के साथ कई लोग यह प्रश्न भी जोड़ देते हैं कि क्या वह परम बुद्धिमान सामान्यत: के स्तर पर उतर कर निरक्षर एवं साक्षर सामान्य जनों के सम्मुख उनके लिए सहज, सुबोध वचनों में उच्चतम जीवन दर्शन,, महानतम मन्तव्य तथा श्रेष्ठतम आचार-संहिता का पाठ पढ़ाने का कर्त्तव्य कर सकता है?

परमात्मा की 'आध्यात्मिक' शक्तियों को 'भौतिक' शक्तियों के सदृश्य मानने की भ्रान्ति

क्या ही अच्छा हो यदि लोग पहले स्वयं से ही यह प्रश्न पूछ लें कि "(1) जबकि परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं, तो क्या वह मनुष्य के तन में नहीं आ सकते? आध्यात्मिक शक्ति की जब हम प्राकृतिक प्रकोप शक्ति जैसे कि भूकम्प, ज्वाला-विस्फोट, परमाणु विस्फोट आदि से तुलना करते हैं, तभी हमारे मन में यह संशय पैदा होता है कि 'सर्वशक्तिसान्' परमात्मा मानवीय तन में कैसे आ सकते हैं।

सभी शक्तियों को व्यक्त मानने की भ्रान्ति

दूसरी बात यह है कि किसी भी सत्ता की समस्त शक्तियाँ एक-साथ अभिव्यक्त नहीं हो जाया करतीं, न ही वे सदा व्यक्त ही रहती हैं बल्कि वे प्राय: तिरोहित (Dormant)

अवस्था में अपने अधिष्ठान में रहती हैं। उदाहरण के तौर पर एटम अथवा परमाणु में एक बहुत बड़ी शक्ति है जो कि उसके प्रस्फुटित होने पर व्यक्त होती है, परन्तु सामान्य अवस्था में हमारा शरीर भी तो परमाणुओं ही से बना हुआ है; तो क्या इसमें हम कई एटम बमों-जैसी शक्ति अनुभव करते हैं? क्या हम यह कह सकते हैं कि इतनी एटॉमिक शक्ति वाले शरीर को हम कैसे बर्दाशत कर सकते हैं? नहीं, कारण यह है कि बहुत-सी शक्तियाँ तिरोहित हैं। इसी प्रकार, जब पानी को ऊंचाई पर स्थित किसी बांध या डैम (Dam) से गिराया जाता है तो उससे बिजली पैदा होती है परन्तु साधारण अवस्था में तो हम पानी को हाथ में भी ले लेते और पीते भी हैं, तब हम यह नहीं कहते कि इतनी बिजली पैदा करने वाले पानी को हम भला पियेंगे कैसे? इसी प्रकार, यद्यपि परमात्मा में दिव्य दृष्टि की शक्ति, स्नेह शक्ति, ज्ञान की शक्ति, पवित्रता की शक्ति इत्यादि सर्व आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं तथापि जब परमात्मा मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होते हैं तो वे सभी की सभी एक ही समय में, अथवा एक साथ और पूर्ण पराकाष्ठा में व्यक्त नहीं हो जातीं बल्कि उनमें से कुछ ही शक्तियाँ, कुछ मात्रा में, कुछ ही पराकाष्ठा में व्यक्त होती हैं। उदाहरण के रूप में यद्यपि माता के स्तनों में दूध अधिक मात्रा में होता है, तथापि वह बच्चे को एक समय में उतना ही देती है जितना वह ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार ज्ञान के सागर एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा भी उतना ही ज्ञान और उतनी ही शक्ति देते तथा व्यक्त करते हैं जितना कि मनुष्य ले सकता है।

(2) दूसरे प्रश्न पर भी यदि विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह भी भ्रान्ति पर आधारित है क्योंकि ज्ञान के विस्तार का सम्बन्ध काया के विस्तार से नहीं है। मनुष्य का मस्तिष्क छोटा-सा है परन्तु वह सारे भू-मण्डल के अनेक रहस्यों को बुद्धि में ग्रहण कर लेता है। टेप या विडियो (Video) का कैसेट छोटा-सा होता है, परन्तु विडियो कैसेट में जो दृश्य भरे होते हैं, उनका वास्तविक विस्तार उससे कई गुना अधिक होता है। मनुष्य के जीव-कोष में जो अनुवंशिकी (Genes) होते हैं — जिनके आधार ही उनका शरीर इतना बड़ा बनता है — वे बहुत छोटे होते हैं और उनमें अंकित विकास-संहित अथवा विका-निर्देश (Code of Growth) भी अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। अत: यह प्रश्न कि ज्ञान का असीम सागर एक मानवीय तन की सीमा में कैसे आ सकता है, तब उठता है कि वह 'सागर' शब्द से अपने सामने किसी जल सागर (जैसे कि प्रशान्त महासागर) को सामने लाकर 'ज्ञान सागर' को भी वैसा ही समझ लेता है।

ज्ञान का सागर होते हुए भी अल्प बुद्धि मानवों को समझाना प्रशंसनीय

(३) फिर, कुछ लोग जो यह आपत्ति उठाते हैं कि परमात्मा तो दिव्यता का घनीभूत रूप है, वह मानवीय भाषा में, जिसे कि मनुष्य समझ सकें, कैसे बोल सकता है, वे अपने ही तर्क पर गहराई से विचार नहीं करते। यदि कोई पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त अध्यापक किंडर गार्टन के विद्यार्थियों को पढ़ाता है तो क्या हम इस बात को असम्भव मानते हैं। नहीं, बल्कि हम उस अध्यापक की कुशलता की प्रशंसा अवश्य करते हैं कि वह विद्या का एक भण्डार होते हुए भी स्वयं को बच्चों के स्तर पर लाकर इतनी सरलता से पढ़ाता है कि अल्प बुद्धि एवं अविकसित मस्तिष्क वाले शिशु भी उसकी बातों को समझ लेते हैं। अध्यापक की ऐसी कुशलता तो वास्तव में इस बात की प्रतीक है कि अध्यापक केवल विद्वान ही नहीं बल्कि व्यावहारिक (Practical) भी है और बच्चों के मनोविज्ञान (Child Psychology) में भी पारंगत है। इसी प्रकार दिव्यता का पुँज होते हुए भी अज्ञानी मनुष्यों के सामने एक उच्च दार्शनिकता का पाठ प्रस्तुत करने की कला का होना तो वास्तव में परमात्मा की सर्वांगीण सामर्थ्य, अतिशय करुणा और मानवी मनोविज्ञान पर उसका पूरा अधिकार होने का प्रतीक है। यह असम्भव नहीं है बल्कि प्रशंसनीय है।

सरल मानवी भाषा में भावाभिव्यक्ति कृपाशीलता और प्रतिभा का प्रतीक

तर्क की चाल सीधी भी हो सकती है, टेढ़ी भी होती है। हमने देखा है कि एक ओर तो लोग कहते हैं कि दिव्य स्वरूप परमात्मा मानवी भाषा में कैसे बोल सकता है और दूसरी ओर जब वे उसके वचन-संग्रह को मानवी भाषा में अभिव्यन्जित पाते हैं तो वे कहते हैं कि क्या परमात्मा की भाषा ऐसी (मानवी) होती है! वे यह नहीं सोचते कि यह परमात्मा की कृपाशीलता है और कुशलता है कि वे श्रेष्ठ एवं जटिलतम ज्ञान को ऐसी सरल भाषा में बोलते हैं कि जिसे मनुष्य समाज ही समझ सके और जिसके भावानुवाद में उसे कठिनाई अनुभव न हो। सांसारिक व्यवहार में जब हम किसी व्यक्ति को अपनी मातृ अथवा देशीय भाषा के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा में बोलते हुए सुनते हैं तो हम यह उस व्यक्ति की विशेषता मानते हैं कि वह एक के बजाय दो या तीन या अधिक

भाषाएं जानता है। अत: दिव्यता के सागर परमात्मा को मानवी भाषा में ही अपने भाव मुखारविंद करते हुए सुनकर तो हमारे मन में प्रशंसा-वृत्ति का उद्रेक होना चाहिए कि परमात्मा इस कला से भी सम्पन्न हैं।

क्या परमपवित्र परमात्मा पतित आत्माओं के बीच पधारता है?

(४) अब रहा यह आक्षेप कि परम पवित्र परमात्मा पतित मनुष्यों के सामने कैसे विराजमान हो सकता है? इस विषय में वास्तव में मनुष्यों को यह सोचने की ज़रूरत है कि "क्या स्वास्थ्यवान् डाक्टर किसी रोगी के पास नहीं जाता? क्या एक स्वच्छ माता स्नेह और वात्सल्य के भाव से अभिभूत होकर अपने ललना को अपने हाथों में लेकर उसे स्वच्छ बनाने का कर्त्तव्य नहीं करती? क्या एक समाज-सुधारक गांवों की मिट्टी को झेलता हुआ वहाँ के मैले-कुचैले लोगों के बीच उपस्थित होकर अपना सुधार-कार्य नहीं करता? क्या आकाश अपने निर्मल जल को मिट्टी से सनी हुई पृथ्वी के पास प्यास बुझाने नहीं भेजता?" इसी प्रकार, परमात्मा भी मनुष्यात्माओं का माता-पिता, विकारों से रुग्ण आत्मा का वैद्य, अशान्त आत्माओं की शान्ति-पिपासा को तृप्त करने वाला अमृत-मेघ और समूची मानवी सृष्टि का सुधार करने वाला विश्व-परिवर्तक है; क्या उसे वात्सल्य, करुणा, सुधार भाव, सेवा-वृत्ति आदि प्लावित नहीं करते कि वह पतित आत्माओं को पावन करने का ईश्वरीय कार्य, जिसके कारण ही लोग उसे 'पतित-पावन' कहते हैं, करे?

परमात्मा के अवतरण की बात न्याय-संगत

सच तो यह है कि आज मनुष्य इतना पतित हो चुका है और आज संसार में इतना भ्रष्टाचार, पापाचार, मनोविकार और हाहाकार है कि स्वयं परमात्मा के आकर इसे सुधारे बिना दूसरा कोई चारा ही नहीं। इतनी घोर अनैतिकता का सामना तो नैतिकता का पहाड़ केवल परमात्मा ही कर सकता है। कोई भी मनुष्य तो पाप से छूटा ही नहीं जो दूसरे को निर्विकार बनाने की बात भी छाती ठोक कर कह सके। तब भी यदि परमात्मा न आये तो फिर क्या हो!

आज मनुष्य के हाथ में इतनी जबरदस्त विध्वंसक तथा आसुरी शक्ति आ चुकी है कि कुछ थोड़े ही व्यक्ति सारे संसार का विनाश कर सकते हैं। **यदि अब परमाणु शक्ति से भी अधिक प्रबल रचनात्मक एवं दिव्य शक्ति का आगमन इस धरा पर न हो तो उसके**

परिणाम कल्पनातीत ही होंगे। इसलिए स्वयं परमात्मा जो अपनी आध्यात्मिक शक्ति में परमाणु शक्ति के समुच्चय से भी अधिक शक्तिवान है, वे इस पृथ्वी पर पधारते हैं ताकि विकाराग्ध मानव की आंखें खोलकर उसे शान्ति की राह दिखायें और विनाशकारी प्रवृत्तियों से उसे निकालकर समझदारी की राह पर चलायें। तो निष्कर्ष यह हुआ कि पवित्रता की चेतन मूर्ति परमात्मा का पतित मानव के सामने आना असम्भव नहीं बल्कि परमावश्य है, वाँछनीय है, कल्याणप्रद है, सम्भव है और अनुभव गम्य भी है।

यों उठाने को कई शंकायें, कई प्रश्न, कई आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं परन्तु हमारा स्नेहानुरोध है कि पूछने वाला कोई भी व्यक्ति परमात्मा के स्वरूप का कुछ परिचय प्राप्त करके उनसे विनिसृत प्रभु वचन, जिन्हें हमारे यहाँ 'मुरली' कहा जाता है, सुनकर, मनन कर और धारण करके तो देखे। मुरली स्वत: ही इन सब प्रश्नों का उत्तर देती है। वह भगवान् की ऐसी सीधी-सीधी, तेज-तर्रार, ओजस्वी एवं शक्तिशाली वाणी है जो अज्ञान की सारी धुँध को तथा अज्ञान के सारे बादलों को छिन्न-भिन्न करके आत्मा के प्रकाश को उजागर करती है। **मुरली अमृत भी है और संजीवनी भी, जो एक नया जीवन प्रदान करती है। साथ-साथ वह एक ऐसी तेज़ धार तलवार भी है अथवा अमोघ बाण भी जो माया-मोह को नष्ट कर देता है। मुरली मनुष्य के सामने एक ऐसी अकाट्य चुनौती है कि वह अपने जर्जर विचारों को बदले, अपनी फटी हालत को सुधारे, अपने मन को धोए, अपने भौंदे विचारों से पल्ला छुड़ाए और अपनी जीवन-पद्धति में परिवर्तन करे।** यदि कोई सच्चे दिल से इसका श्रवण और मनन करता है तो वह इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। हमारा यह सन्देश जन-जन को, हर बाल-वृद्ध को है, हर नर-नारी को है, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सबको है कि वे भगवान् के अवतरण रहस्य को समझें और उसके अमृत वचनों — मुरली से अपने आपको निहाल अथवा मालामाल करें।



दया, कृपा और करुणा

भक्त लोग भगवान की महिमा करते हुए प्राय: कहते हैं कि – " हे प्रभो, आप दयालु हैं, कृपा के सागर हैं, करुणा के सिन्धु हैं, आप कि महिमा अपरमपार, प्रभु!" मित्रजन भी जब परस्पर मिलते हुए एक-दूसरे से हालचाल पूछते हैं तो कहते हैं – " सब ठीक है, आप की कृपा है।" या तो वे कहते हैं – "चल ही रहा है बस आपकी कृपा चाहिए। " यह दया, कृपा और करुणा क्या है? आखिर जब हम भगवान से या मित्रजनों से 'कृपादृष्टि' की इच्छा प्रगट करते हैं तो उनसे क्या चाहते हैं? क्या परमात्मा को 'दयानिधि' 'कृपानिधि' आदि कहने का यह भाव है कि वह हमारे पापों के लिए हमें क्षमा प्रदान करते हैं? क्या इन उपाधियों का यह अर्थ है कि वे हमारे पुरुषार्थ के बिना ही हम पर वरदानों की वर्षा करते हैं? क्या हम यह मानते हैं कि भगवान सृष्टि और अध्यात्म के नियमों को एक ओर रख कर तथा कर्मों के विधान को छोड़कर अपने प्रशंसकों या वाचकों को निहाल और मालामाल कर देते हैं?

अन्यश्च, जब हम यह कहते हैं कि धर्म-प्रवृत्ति के लोग स्वभाव से ही 'दयालु' होते हैं तो क्या हमारा यह भाव होता है कि वे निर्धनों और अपाहिजों को धन-वस्त्र-अन्न आदि का दान देते हैं? धार्मिक प्रवचनों या धर्म-सम्मेलनों के अन्त में यह नारा लगाया जाता है कि "प्राणियों पर दया हो; तो क्या उस से हमारा यह अभिप्राय होता है कि दीन-दु:खियों को रोटी-कपड़ा दिया जाए, उन्हें मारा-पीटा न जाय तथा उन्हें क्षमा का दान दिया जाय? जब हम यह कहते हैं कि योगियों में करुणा होनी चाहिए तो क्या इसका अर्थ होता है कि वे दीन दु:खियों को रोग-निर्धनता से निवृत्ति दिलायें?

'दया' – किस पर, कब, कहाँ तक, किस तरह?

आज संसार में निर्धनता का तो यह हाल है कि 50 प्रतिशत से भी अधिक लोग निर्धनता की रेखा (Poverty-line) से नीचे का जीवन व्यतीत करते हैं। विशेष रूप से एशिया और अफ्रीका में तो अवर्णनीय गरीबी है। भारत देश में तो भीख मांगने वालों की तथा पैदल-पथ (Foot-path) पर लेटनेवालों की, बेरोज़गारी की और निर्धनों की दु:खगाथा कही ही नहीं जा सकती। जो लोग निर्धनता की रेखा से ऊपर का जीवन जीते हैं, स्वयं उनकी दशा भी बड़ी चिन्ताजनक और गम्भीर है। अत: यदि अन्न-धन, वस्तु-वस्त्र इत्यादि देने को ही 'दया' कहा जाय, अर्थात् यदि दान करने (Charity) ही का दूसरा नाम

'दया' है, तब तो कितनों पर दया की जा सकेगी? चारों ओर से गरीबों, आपदा-ग्रस्त लोगों और ज़रूरतमंदों के अपार समूह से तो हम घिरे हुए हैं। जो स्वयं ही मध्यम श्रेणी या वर्ग का होगा, जिसकी अपनी आमदनी भी मुश्किल से गुज़ारे लायक होगी वह दूसरे कितने लोगों पर दान-दया कर लेगा और इस बढ़ती हुई समस्या का कहां तक समाधान कर पायेगा? यदि वह अपनी दया-वृत्ति पर अंकुश लगायेगा तो उसके इस मानवी गुण (Human Value) का विकास कैसे होगा? यदि वह अंकुश नहीं लगायेगा और दया वृत्ति को खुली छूट दे देगा तब तो वह एक दिन में ही अपना वेतन समाप्त कर स्वयं दया के दरवाजे पर जा बैठेगा। इसलिए किसी ने कहा है कि दया-दान की शुरूआत पहले अपने ही घर से होनी चाहिए। (Charity begins at home). दूसरों को आर्थिक सहायता देने से पहले अपने घर की गरीबी तो दूर करनी चाहिए। घर के लोग भूखे मर रहे हों और बेटा दानवीरों में अपना नाम लिखवा रहा हो यह तो वही बात हुई कि ''आसपास बरसे, दिल्ली पई तरसे''। बाहर वालों पर दया और घर वालों के प्रति अवहेलना और उपेक्षा – यह तो ऊटपटांग दया है, यह सीधी-सादी 'दया' तो नहीं है। घर वालों का क्या दोष है उनके प्रति घृणा क्यों है; उनका बहिष्कार किस लिये? इस 'दया' के पीछे तो कुछ और ही वृत्ति है।

परन्तु अगर घर वालों पर दया की जाय तो वह 'दया' क्या हुई? वह तो 'कर्त्तव्य-पालन' कहलायेगा। उसे तो सम्बन्ध निभाना कहेंगे। वह तो 'लोक-मर्यादा का पालन' है – वह 'दया' कैसी? परन्तु हाँ, जिस व्यक्ति से हमें अपने सम्बन्ध या कर्त्तव्य के अनुसार जो करना चाहिए, उस से यदि हम अधिक करते हैं क्योंकि उसे दु:खी देखते हैं, तब शायद उसे 'दया' या 'कृपा' कहा जायेगा। किन्तु, उसे भी दया की बजाय 'स्नेहाभिव्यक्ति', 'उदारता' या 'एहसान फर्मान' कहा जायेगा क्योंकि वह घर वालों या सम्बन्धियों से किया गया।

परन्तु यदि घर वालों अथवा मित्रों ही पर हम सदा दान-दया की वर्षा करते रहे तब तो '' अन्धा बांटे रेवड़ियाँ, फिर-फिर अपनों को ही दे'' वाली कहावत हम पर चरितार्थ होगी। फिर, अगर घर वालों पर ही धन-धान्य लुटाते रहे तब तो यह कौटम्बिक स्वार्थ की सिद्धि और 'मोह-ममता' की रीति-नीति हुई; यह कोई 'दया' तो न हुई। यह तो संकुचित दायरे में, कुंए के मेंढक की तरह परिवार के घेरे में ही चक्कर काटने (Narrow-mindedness; parochialism) की बात हुई। इसके अतिरिक्त, 'घर' (Home)

से हमारा अभिप्राय यदि देह के सम्बन्धी हैं, तो घर वालों ही पर सुख-सामग्री लुटाना गोया देह-अभिमान ही को मुख्यता देने के तुल्य है। देह के सम्बन्धियों पर ही सदा सभी कुछ कुर्बान करते चलें तब तो यह कर्मों का खाता बढ़ाते जाने का ही कर्म हुआ। उनको तथा स्वयं को कर्म की अधिकाधिक जंजीरों में जकड़ने ही की न्यायी यह कर्म हुआ। तब इसे 'दया', 'दान' या 'कृपा' की संज्ञा कैसे दे सकेंगे? अगर कोई अपराध करता है, तब उसे दया-दान देने की क्रिया को यदि 'दया' अथवा 'कृपा' कहा जाये तब इससे तो संसार में अपराध बढ़ेगा। किसी भी देश के राष्ट्रपति को यह वैद्यानिक अधिकार होते हैं कि वह किसी अपराधी के द्वारा दया (Mercy) की अपील (Appeal) करने पर उसे दण्ड से मुक्त कर सकता है या दण्ड को कम कर सकता है। परन्तु देश का प्रधान या राष्ट्रपति भी इस अधिकार का प्रयोग किसी विरला ही परिस्थिति में करता है वर्ना तो हर कोई यह कोशिश करेगा कि क्षमा मांग ले और दया (Mercy) के लिए आवेदनपत्र दे और अनुनय-विनय करें कि – ''हे राष्ट्रपति महोदय, आप दया के सागर हैं, कृपया हम पर दया कीजिए।''

इसके अतिरिक्त, दान या दया तो पात्र पर ही करने की ताकीद की जाती है। कुपात्र पर दान या दया करने वाला तो दोषी माना जाता है। वह तो पुण्य की बजाय पाप का भागी बनता है। परन्तु पहले तो किसी के मन की गहराइयों में उतर कर उसके अन्त तक पहुँचना कि यह 'पात्र' है या 'कुपात्र' बहुत ही कठिन है, फिर आज यदि कोई पात्र है भी तो दया के बाद वह कुपात्र बन जाय तो उसका क्या पता है? पृथ्वीराज ने महमूद गोरी को 17 आक्रमणों में परास्त किया और हर बार उस पर दया करके उसे क्षमा दी परन्तु अन्त में महमूद गोरी ने अठारहवीं बार पुन: आक्रमण कर के पृथ्वीराज को परास्त कर उसे बन्दी बना लिया, उसकी आंखें भी निकलवा दीं और आखिर उसे मरवा भी डाला और इस सब का यह परिणाम हुआ की समस्त देश को हजार वर्ष गुलामी भोगनी पड़ी।

फिर एक बात यह भी है कि कर्म की गति तो अटल मानी गयी है। हम कर्म-विधान में हस्तक्षेप कर के, किसी पर दया करके उसकी हालत को अल्प काल के लिए कुछ अच्छा भी कर दें परन्तु उस व्यक्ति को अपने किये हुए कर्मों का आज नहीं तो कल फल तो भोगना ही पड़ेगा और, इसके अतिरिक्त, हम ने जो उसके प्रति कर्म किया उसका हिसाब भी उसे चुकाना ही पड़ेगा। तो प्रश्न उठता है कि हमारी दया का क्या मूल्य और

महत्व हुआ?

अगर कहा जाय कि दया करने से हमारा अपना मन निर्मल होता है और हमारा अपना नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है और कि हम अपनी देह के सम्बन्धों के कारण से नहीं बल्कि इन्सानियत के तकाज़े से, मानवता के नाते से, विश्व-बन्धुत्व की भावना से प्रेरित होकर दया करते हैं, तो भी जिस पर हम दया करते हैं, उस पर तो कर्मों का बोझ चढ़ाते ही हैं और अपने लिए भी कर्म का बीज तो बोते ही हैं — हम अपनी दया से कितनों की दशा कहाँ तक और कितने समय के लिए और किस अंश तक सुधार पाते हैं, — वह बात अलग रही।

तो क्या किया जाए अगर दया करें तो कर्मों का खाता खुल जाता है, पात्र-कुपात्र का भेद इस कलियुग में पता चलता नहीं, फिर, हमारे मन में भी दया की एक सीमा तो फिर भी बनी रहती है। अगर हम दया नहीं करते तब भी अपनी यह कमी अखरती है और स्वयं को इस गुण से वंचित हुआ महसूस करते हैं तथा हम में निष्ठुरता, कठोरता और निर्दयता का प्रवेश होता हुआ महसूस होता है। सम्बन्धियों को न दें तो वे नाराज़ होते; उन्हें दें तो देह-अभिमान की मनोवृत्ति और उनकी बढ़ती हुई अपेक्षाएं सामने आती हैं "नेकी कर दरिया में डाल" — वाली नीति अपनायें तो खारे पानी वाले सागर में मिश्री का एक टुकड़ा डाल देने से मन को सन्तुष्टता नहीं महसूस होती है और अधिकाधिक करना चाहें तो इतनी सामर्थ्य कहाँ है?

दोषों से मुक्त और गुणों से युक्त दया

इन सभी बातों पर विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक 'दया' या 'कृपा' ऐसी है कि जो पूर्वोक्त सभी गुणों से युक्त है और सभी दोषों से मुक्त है। जब हम ज्ञान-धन दान करते हैं, दिव्य गुणों के भण्डार सभी पर लुटाते हैं और सभी को सहज योग की विधि बताते हैं तथा अपनी स्थिति से उन पर शान्ति की वृष्टि करते हैं तो गोया ऐसी दया करते हैं जो दैहिक सम्बन्धियों तथा अन्य सभी पर भी अबाध्य रूप से, सीमा के बिना कर सकते हैं। इस दया से ही दीन-दुःखियों का चिरकाल के लिए, स्थाई रूप से, दुःख दर्द, रोग और शोक, जरा और व्याधि, कलह और कलेश,आपदा और विपत्ति, सभी एक-धक से दूर होते हैं। इस से न तो कर्मों का खाता जुटता है, न ही यह कर्म-विधान में हस्तक्षेप है। न इस से हम किसी पर कर्मों का बोझ लादते हैं, न अपने लिये कलियुगी संसार में कोई कर्म-बीज बोते हैं। इस से तो कुपात्र भी सुपात्र बन जाता

है और लेने तथा देने वाले, दोनों का भाग्योदय होता है।

जीव-प्राणियों पर दया करना यही दया सर्व-श्रेष्ठ है जिससे कि मनुष्यात्मा तथा दूसरों को फिर किसी की दया की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि हमने धन-धान्य लगाना है तो इस प्रकार की दया करने में लगायें तो दु:ख दुनिया से ही दुम दवा कर भाग जायेगा। ''सर्वे भवन्तु सुखिना, सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद मा कश्चिद दु:ख-भागभवेत'' की स्थिति वाली दुनिया लाने के लिए ऐसी ही दया करने की ज़रूरत है। यही धर्म है, यही दान है। यही सुकृत्य है, यही पुण्य है। यही श्रद्धा है, यही यज्ञ है। अगर कोई श्रेष्ठ कर्म है तो यही है। इसे करने का समय भी यही है। दुनिया बहुत ही दु:खी है। सभी रो रहे हैं, अशान्त हैं, दर्द से चिल्ला रहे हैं। सारे विश्व में निरंतर क्रन्दन ध्वनि हो रही है। उठो, दु:खियों के आंसू पोंछो; उनको ज्ञान का ढारस दो, उन्हें योग के बल से खड़ा करो और उन्हें अपने पावों पर उठाओ। उन्हें बताओ कि – '' तुम अमृत पुत्र हो वह देखो, अब भगवान स्वयं आये हैं अब तुम्हारे दु:ख के दिन गये। उठो, भगवान की अंगुली पकड़ो और मुस्कुराओ कि तुम्हारे भाग्य के दिन आ गये हैं।'' सभी के प्रति इसी शुभ इच्छा और शुभ सेवा को करना ही ''कृपा'' करना है। यही कृपा-दृष्टि और कृपा-वृत्ति है। इसी के कारण ही भगवान को भी 'दयालु' और 'कृपालु' तथा 'कृपा का सागर' और 'करुणा का सिन्धु' कहते हैं।

तनिक सोचो कि यदि भगवान पापी के पापों की मुंह मांगी क्षमा करते जायें तो उन्हें ''न्याय-कर्त्ता'' कैसे कहा जायेगा? यदि वे किसी के पुरुषार्थ के बिना ही उस पर वरदानों की बोरी पलट दें, तब फिर संसार में कर्म-विधान कहाँ रहेगा? यदि भगवान से प्रशंसा करने पर वे ऊपर से ही पॉच सेर दूध डाल दें तो फिर गाय को पालने का झंझट कौन लेगा? यदि भगवान से प्रार्थना, आवेदन या याचना करने से वह अनाज की बोरी ऊपर से डाल दें फिर यहाँ अन्न के गोदामों (Godowns) की क्या जरूरत है और कौन बैठ कर बैल को भुस्सा देकर खेती करेगा? अपील करने में तो भारतवासी अभ्यस्त हैं; तब तो भगवान के पास इतनी प्रार्थनाएं पहुंचेगी कि सभी को क्यू (Que) में ठहरना पड़ेगा और बारी आयेगी भी नहीं।

अब भगवान से मनुष्यात्माओं रूपी सन्तान का दु:ख देखा नहीं जा सकता। इस लिए वे करुणामय हैं। वे मनुष्यों के पापी, नास्तिक, मिथ्या-अभिमानी, दुष्ट एवं आसुरी वृत्तिवाला होने पर भी उन पर दया करते हैं *'दया' का अर्थ यह नहीं कि वे उनके पाप*

के लिए उन्हें क्षमा दे देते हैं बल्कि यह कि वे ऐसी सहज विधि बताते हैं जिस के प्रयोग से आत्मायें पापों से मुक्त हो सकें। वे 'कृपा' करते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे पुरुषार्थ के बिना ही वे हमें सब खज़ाने दे देते हैं बल्कि इसका भाव यह है कि वे हमें ऐसी युक्ति बताते हैं जिस से कि हमें जरूरत और आशा से भी अधिक प्राप्ति हरेक प्रकार के सुख की तथा स्थायी शान्ति की हो जाती है। वे 'करुणा' के सिन्धु इस कारण से नहीं कहलाते कि वे हमें नदी मंझदार में डूबने से बचा लेते हैं, हमें अन्न, धन और वस्त्र देते हैं तथा गरीब से अमीर बनाते हैं बल्कि इस कारण उनकी यह महिमा है कि वे विकारों की मंझधार से जीवन को निकालते हैं, सदा के लिए सभी भण्डार भरपूर कर देते हैं और रंक से राव बनाते हैं। ऐसी ही दया, कृपा तथा करुणा हमें भी सभी पर यथा-शक्ति, अर्थात् यथा-ज्ञान, यथा-गुण, यथा- योग तथा यथा-धन और यथा-मन करनी चाहिए।

जीव-प्राणियों पर दया करना यही दया सर्व-श्रेष्ठ है जिससे कि मनुष्यात्मा तथा दूसरों को फिर किसी की दया की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि हमने धन-धान्य लगाना है तो इस प्रकार की दया करने में लगायें तो दुःख दुनिया से ही दुम दबा कर भाग जायेगा। "सर्वे भवन्तु सुखिना, सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद मा कश्चिद दुःख-भागभवेत" की स्थिति वाली दुनिया लाने के लिए ऐसी ही दया करने की ज़रूरत है।

परचिन्तन, व्यर्थ चिन्तन, मोह-ममता, वासना और विकार को छोड़ना

परचिन्तन को छोड़ने वाला ही आत्म-चिन्तन और प्रभु-चिन्तन में मन को लगा सकता है। पर-चिन्तन का त्याग ही मनुष्य को चिन्ता की चिता से उतारकर खुशी और खुश-मिज़ाजी के आसन पर आसीन करता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो परचिन्तन एक ऐसा रोग है जो मनुष्य की आंखों, कानों, हृदय और मस्तिष्क — सबको रोगी कर देता है, क्योंकि परचिन्तन वाला व्यक्ति भलाई की बात के प्रति बहरा हो जाता है, दूसरों के गुणों को देखने के समय उसकी आंखों में मोतिया उतर आया होता है, किसी की निन्दा-स्तुति सुनते समय उसके फेफ़ड़ों की ऐसी हरकत होती है जैसे वह दमे का मरीज़ हो उसका रक्तचाप (Blood pressure) बढ़ा ही रहता है। उसके मस्तिष्क का ग्राफ़ (E.E.G.) उसकी खतरनाक हालत को प्रदर्शित करता है, मानो रक्त की धमनियाँ फटती हों (haemmorhage) और उसके हृदय की धड़कन का रेखांकन (E.C.G.) यह प्रदर्शित करता है कि जैसे उसके हृदय पर आक्रमण (Heart Attack) हो रहा हो। इस पर-चिन्तन की औषधि आत्म-चिन्तन ही की गोली है जिस द्वारा ही मनुष्य का मिज़ाज ठंढा, तन चुस्त, मुख हँसमुख, मन मुदित और चित्त हर्षित रहता है और मनुष्य नींद की गोलियाँ (Sleeping pills) खाये बिना सुख की नींद सो सकता है।

व्यर्थ चिन्तन

जिस प्रकार के संकल्पों से हमारी आध्यात्मिक उन्नति न होती हो अथवा हमारा कोई प्रयोजन सिद्ध न होता हो, उन सभी की गणना 'व्यर्थ चिन्तन' के अन्तर्गत होती है। मन के घोड़े को बे-लगाम छोड़ देना, विचारों को आवारा बना देना, मस्तिष्क को एक चंचल पक्षी की तरह से कभी इधर उड़ाना तो कभी उस शाखा पर बिठाना, ख्वामख्वाह की उधेड़-बुन में लगे रहना, भविष्य में भय के भूतों को देखना और गड़े मुर्दे उखेड़ना — ये सब व्यर्थ चिन्तन ही के अलग-अलग नमूने हैं। ये सब अपने मस्तिष्क को थकाने, अपने-आप को परेशान करने, अपनी शक्ति को गँवाने व अपने जीवन के अनमोल समय को वरबाद करने के तरीके हैं। इनकी बजाय जो लक्ष्य अपने सामने रखकर अपने विचारों को इन्हीं पर केन्द्रित रखता है, उसमें ये सर्व शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं और उसका विचार लक्ष्य के लक्षणों के अनुकूल हो जाता है। जो अपने विचारों को भटकाता नहीं, वही भटके हुए लोगों को राह दिखाने के निमित्त बनता है। जो बे-मतलब की बात नहीं

सोचता, उसकी बात का सीधा-सीधा मतलब-सीधा-सीधा अर्थ – लोग जल्दी से समझ जाते हैं। जो इस तरह से अपने संकल्पों को अनमोल समझकर गँवाता नहीं, वह इतना शक्तिशाली हो जाता है कि उसके संकल्पों से भी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। वह व्यर्थ चिन्तन करता ही नहीं, इसलिए उसके संकल्प और वचन व्यर्थ जाते भी नहीं। उसका हरेक संकल्प लक्ष्य-भेदक अचूक बाण के समान होता है और वह बाण जहाँ लगता है, वहाँ से ही 'वाण-गंगा' प्रकट होती है – जो अनेकों की तत्काल प्यास बुझाती है। परन्तु व्यर्थ चिन्तन उसी का समाप्त हो सकता है जो सर्व-समर्थ प्रभु का चिन्तन करता है।

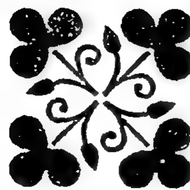
मोह-ममता

मोह और ममता वे ज़ंजीरें हैं जो कारागार की ज़ंजीरों से भी ज्यादा कड़ी हैं क्योंकि वे ज़ंजीरें तो तन को बाँधने वाली हैं जबकि ये ज़ंजीरें मन को बाँधने वाली हैं। मोह मनुष्य को जितना गहराई से मिलाता है, बाद में उतना ही रुलाता है। देखने में तो यह बड़ा लुभावना है परन्तु इसका अन्त बड़ा डरावना है। जो मोह की बेड़ी काट देता है, वही सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। मोह स्नेह का वैसा ही विकृत रूप है जैसे बासी खाना भोजन का विकृत रूप है। संसार में जो जेलें बनी हुई हैं, उनमें तो दूसरा ही कोई व्यक्ति उसी कानून के अनुसार मनुष्य को जेल में डालता है, परन्तु मोह की जेल ऐसी है कि जिसमें मनुष्य स्वेच्छा से फँस जाता है और वह सारी उम्र खुशी-खुशी कड़ा दण्ड (Rigorous Imprisonment) भोगता है। जैसे चूहा किसी पदार्थ की सुगंधि लेते हुए अपने भविष्य को भूलकर मतिहीन हो जाता है, चूहेदानी के दरवाज़े को स्वर्ग का द्वार मानकर उछलता-कूदता उसमें प्रवेश प्राप्त करता है, वैसे ही मनुष्य विवेक खोकर मोह के फाटक के अन्दर दाखिल हो जाता है कि जहाँ से फिर उसका निकलना ही कठिन हो जाता है। अत: जो मोह को छोड़ता है, वही सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र है, वही वास्तव में विवेकवान है। वही प्रलोभनों से पराजित न होने वाला वीर है और वही नर्क के सींखचों से निकलने का साधन करने वाला सच्चा साधक है। जो मोह छोड़ता है, वही मोहिनी मंत्र को सिद्ध कर लेता है। जो देह के सम्बन्धियों तथा देह में अनासक्त होता है, उस विदेह अवस्था वाले व्यक्ति को विचित्र शक्तियों की प्राप्ति होती है। समूचे गीता-शास्त्र का तारतम्य ही यह है कि – ''हे अर्जुन, तुम मोह को छोड़ो तो स्वर्ग का राज्य तुम्हारा है।'' इससे बड़ी और क्या सिद्धि चाहिये? सुख, सम्पत्ति, स्वास्थ्य, सुविधा, सन्मान, सात्विकता, सामर्थ्य, स्नेह ये सभी हाथ जोड़कर मनुष्य के सामने उपस्थित हो जाते हैं; गोया कोई अप्राप्त वस्तु ही नहीं रहती। यदि दो शब्दों में कहना हो तो सर्व सिद्धियों का

मूल मंत्र यह है कि जो सबसे मोह का नाता तोड़कर एक प्रभु में सम्पूर्ण प्यार जुटाता है, उससे सभी का प्यार जुट जाता है और वही इस भव सागर से पार हो जाता है अथवा यों कहें कि — "जो छोड़ता है वही पाता है।"

वासना और विकार पर विजय

जिस संकल्प का मनुष्य के मन में वास न होना चाहिए, वही 'वास-ना' है और जिससे कार्य बेकार हो जाए, वही 'विकार' है। दूसरे श्ब्दों में 'काम' ही मनुष्य को निकम्मा बनाने वाला अथवा उसके काम बिगाड़ने वाला है और ब्रह्मचर्य और सिद्धि दोनों को सहचर्य से मनुष्य के संकल्प दृढ़, बुद्धि स्थिर, मन उज्ज्वल और तन स्वस्थ होता है और मनुष्य की कार्य-क्षमता बढ़ती है। ऐसे व्यक्ति दिनों-दिन अन्य दिव्य गुणों में समर्थ होते हैं। अत: यह स्वयं सिद्ध है कि जो मनुष्य विकार को छोड़ता है, वह विवेक को पाता है। जो मन में वासना को स्थान नहीं देता, उसे ही परमधाम तथा स्वर्ग में निवास मिलता है। जो विकारों को जीत लेता है, वही मन को जीत लेता है और जो मन को जीत लेता है, वही जगत को जीत लेता है और जो जगत को जीत लेता है, उसके लिए कोई भी सिद्धि अप्राप्त नहीं रहती, अत: सब सिद्धियों की विधि यह है कि — मनुष्य विकारों को जीते और विकारों को जीतने की विधि यह है कि कर्मेन्द्रियों और मन को जीते और इन्हें जीतने की विधि यह है कि वह अपनी बुद्धि को सर्वशक्तिमान् परमात्मा से युक्त करे और युक्त करने की विधि यह है कि वह प्रभु-परिचय प्राप्त करे और संयम करे। निष्कर्ष यह हुआ कि संयम ही सर्व सिद्धियों का स्रोत है और असंयम ही सर्व समस्याओं का श्रष्टा है।



समय गँवा देने से विस्मय होता है

जब मैं कॉलेज में पढ़ता था तब मैंने एक पत्रिका में हास्य और विनोद से भरा हुआ एक संवाद पढ़ा था। वह संवाद एक क्लर्क और उसके अफ़सर के बीच में था। वास्तव में बात यह थी कि क्लर्क ने अपने अफ़सर को छुट्टी के लिये एक आवेदन पत्र दिया था। उस पत्र में उसने अपनी किन्हीं घरेलू परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए एक सप्ताह के लिए छुट्टी मांगी थी। अफ़सर बड़ा चतुर व्यक्ति था। उसने सीधे शब्दों में 'न' लिखने की बजाय आवेदनकर्ता कर्ल्क को अपने पास बुलवा भेजा। फिर उन दोनों के बीच निम्नलिखित संवाद हुआ।

अफ़सर – एक वर्ष में कितने दिन होते हैं?

क्लर्क – साहब, दिन तो 365 होते हैं? क्यों आज आप यह किस लिये पूछ रहे हैं?

अफ़सर – वह तो मैं आपको बताऊंगा कि मैं क्यों पूछ रहा हूँ, परन्तु आप ज़रा यह बताइये कि आप प्रतिदिन यहाँ कितने घण्टे काम करते हैं?

क्लर्क – आठ घण्टे।

अफ़सर – इसका अर्थ यह होता है कि आप दिन का 1/3 भाग काम करते हैं। गोया आप वर्ष में (365 दिन) में 122 दिन काम करते हैं।
(अंग्रेजों के राज्य में सरकारी कर्मचारी को 24 घण्टे का मुलाज़िम माना जाता था, यद्यपि उसे काम आठ ही घण्टे करना होता था परन्तु उसे कानूनी तौर पर किसी समय भी सेवार्थ बुलाया जा सकता था)

क्लर्क – जी हाँ!

अफ़सर – अच्छा, यह बताइये कि वर्ष में कितने सप्ताह होते हैं?

क्लर्क – जनाब हफ्ते तो 52 ही होते हैं।

अफ़सर – तो सप्ताह में एक रविवार होने से आप 52 छुट्टियाँ रविवार के कारण करते हैं?

क्लर्क – जी।

अफ़सर – एक वर्ष में जैसे 52 रविवार होते हैं, वैसे ही 52 शनिवार भी होते हैं। और हर शनिवार को आपको आधी छुट्टी मिलती है। (जिन दिनों मैं कॉलेज में पढ़ता था, उन दिनों हर शनिवार को आधी छुट्टी होती थी।) इस हिसाब से 26 छुट्टियाँ वह भी तो हुई?

क्लर्क – जी हाँ, 26 वह भी हुई।

अफ़सर – इन सभी के अलावा 36 छुट्टियाँ त्योहारों इत्यादि की भी तो होती है।

क्लर्क – (कलेन्डर की ओर देखते हुए) जी हाँ, मैं समझता हूँ कि लगभग इतनी तो होती ही हैं।

अफ़सर – अब हिसाब लगाकर बताइये कि आप वर्ष में कुल कितने दिन काम करते हैं?

क्लर्क – साहब, इजाज़त हो तो कागज़ का यह एक छोटा-सा टुकड़ा ले लूँ?

अफ़सर – हाँ, हाँ, क्यों नहीं? ले लो, ले लो!

क्लर्क – (हिसाब लगाते हुए) 122 - (52+26+36) दिन = 8 दिन। साहब, यह तो कुल 8 ही दिन होते हैं!

अफ़सर – अब आपने छुट्टी के लिये जो आवेदन पत्र मुझे दिया है, उसमें आपने 8 दिन की छुट्टी माँगी है। इसका अर्थ यह है कि आप एक दिन भी काम नहीं करना चाहते।

उस क्लर्क को ऐसा लगा कि उसने छुट्टी माँगकर ग़लती की है। वह आवेदन पत्र वापस लेकर चला गया।

अव उस अफ़सर ने तो 'होशियारी' से अंकों का ऐसा प्रयोग किया था कि क्लर्क के मन को ऐसा लगा कि उसे छुट्टी नहीं लेनी चाहिये। उसने 365 दिनों के 1/3 भाग, अर्थात् 122 दिनों का ही कार्य-दिवस (Days of Work) बताने में ही सारी चालाकी की थी। परन्तु शिव बाबा तो मानव के अपने ही कल्याण के लिये कहते हैं कि 63 जन्मों के विकर्मों को दग्ध करने के हेतु अब निरन्तर ईश्वरीय स्मृति में रहो। परन्तु होता यह है कि मनुष्य 6 घण्टे तो निद्रा में व्यतीत कर देता है और निद्रा में भी ईश्वरीय स्वप्न न देखकर, उसमें देहधारियों ही से लेन-देन के, मन-मुटाव के और अन्य विकारों के स्वप्न देखता है। फिर वह 10 या 12 घण्टे तो पेट के लिए धन्धा करने और धन्धे के स्थान पर आने-जाने तथा तैयारी करने पर लगा देता है। बाकी जो 6 या 8 घण्टे बचते हैं, उनमें भी कुछ तो खाने-पीने इत्यादि पर खर्च करता है और शेष गपशप हाँकने में, इसकी-उसकी निन्दा करने में, देहधारियों से मत-भेद की बातें सुनने में या अपने ही मन के किस्से दूसरों को सुनाने में गँवा देता है। वह तो 8 घण्टे भी प्रतिदिन परमात्मा की याद में नहीं रहता। उस अफ़सर के तरीके से यदि हिसाब लगाया जाय तो मानव ईश्वरीय याद के विषय में तो आवेदन पत्र के बिना ही प्रायः छुट्टी ही किये रहता है!

इसी प्रकार, दिव्य गुणों की धारणा के विषय के लिए उसे जितना समय लगान

चाहिये, उस से अधिक तो वह व्यर्थ संकल्पों में या आसुरी चिन्तन तथा व्यर्थ बोल में समय बिताता है। गोया ईश्वरीय सेवा में उपस्थित न होकर वह माया ही के हुक्म का बन्दा बना हुआ होता है। तब आप ही सोचिये कि यदि कोई सरकारी कर्मचारी सरकार का कार्य न करे और अधिक समय सरकारी विधि-विधान के विरुद्ध कार्य करे तो क्या वह सरकार से वेतन, सुविधाएं या इनाम पाने का अधिकारी हो सकता है? ठीक इसी प्रकार, यह भी बताइये कि जो मनुष्य ईश्वरीय सेवा करने की बजाय अपनी आसुरियता के द्वारा दूसरों को ईश्वर से विमुख करने के धन्धे में लगा हो क्या वह ईश्वरीय वरदानों का या ईश्वर द्वारा स्वर्गिक स्वराज्य का अधिकारी हो सकता है? स्पष्ट है कि वह तो ईश्वरीय विधि-विधानों के अनुसार 'अपराधी' ही ठहरता है, वरदान या पारितोषिक का अधिकारी नहीं।

छुट्टी माया से लेनी है, ईश्वर से नहीं

ईश्वरीय स्मृति तथा दिव्य गुणों की धारणा के अतिरिक्त ईश्वरीय सेवा के विषय को लीजिये। उसमें भी जब ईश्वरीय सेवा का स्वर्णिम अवसर आता है तो कुछ अभागे लोग कहते हैं – 'यह हमारा काम थोड़े ही है?' अथवा 'सब-कुछ हमें थोड़े ही करना है?' अन्य कई गहराई से सोचे बिना ही कह देते हैं – "रोज़-रोज़ ईश्वरीय सेवा हम कब तक करेंगे?" हाय, हाय, ये कैसी बद-किस्मती है कि मनुष्य अपने मुख से ऐसे-ऐसे वचन बोल देता है! जिस प्रियतम पिता के लिये खून का आख़िरी कतरा भी बहाने में अपना सौभाग्य समझना चाहिये, उसका शुभ सन्देश देने के लिए कभी मनुष्य तिनका हिलाने से भी मना कर दे, अथवा जिस मधुरतम् एवं परम स्नेहास्पद प्रभु की याद से रोम-रोम में हर्ष हो जाता है और मन रूपी मोर आनन्द से नाच उठता है, उससे छुट्टी लेकर माया के धन्धे से अपने होंठ काले करना, अपने नेत्रों में विष भरना, यह कैसी बदनसीबी है! छुट्टी तो अब लेनी चाहिए माया से, परन्तु यदि कोई ईश्वरीय ज्ञान के अध्ययन से, दिव्य गुणों की धारणा से, ईश्वरीय याद की यात्रा से, सच्ची विश्व-सेवा से तथा जन्म-जन्मान्तर से बिछुड़े हुए ब्रह्मा-मुख-वंशावली से मिलकर ईश्वरीय चरित्रों को सुनने से छुट्टी करता है तो उसके बारे में तो यही कहना होगा कि वह अपनी हत्या आप करने पर उतारू होता है, वह अपना ही सिर धुनने का अवसर पैदा करता है।

माया से छुट्टी करने का अर्थ

इस ज्ञान-बिन्दु को भली-भाँति समझते हुए अब हमें चाहिये कि हम माया से छुट्टी

लें। माया से छुट्टी लेने का अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वर की, उसके कार्य की अथवा उस द्वारा रचे हुए यज्ञ की निन्दा करता है तो हम अपने कान बन्द कर लें। यदि हम उस व्यक्ति को यह गन्दगी फैलाने से रोक नहीं सकते तो कम-से-कम वहाँ से उठकर चले जायें ताकि वह विकर्म का भागी न बने। जो निन्दा करके हमारी अवस्था को जाने-अनजाने बिगाड़ रहा है, हम उसे सहयोग दे रहे हैं – यह कैसी विडम्बना है! माया रूपी विष पिलाने वालों को हम अपने स्नेही और मित्र समझ रहे हैं – यह कैसी नासमझी है! व्यक्तियों के मन में घृणा पैदा करने वालों को हम अपना हितैषी माने हुए हैं – यह कैसी अज्ञानता है। प्रभु से विमुख करने वालों से तथा उस द्वारा सुनाये हुए आदि-मध्य-अन्त के रहस्य में अपनी तुच्छ मत मिलाने वालों से यदि हम किसी भी तरह नाता जोड़ते हैं, उनकी बातें सुनते हैं या सुनकर उन्हें शिक्षा दे सकने वाली बहनों को उनकी अवस्था नहीं बताते तो इसका अर्थ यह है कि हम उनके कल्याण का उपाय नहीं करते बल्कि संसार में विष फैलाने के धन्धे में एक प्रकार से सहयोग देते हैं।

अब समय ऐसा है कि हम एक शिव बाबा ही के गुण गायें। उसी की स्मृति में स्थित होकर आनन्द का खज़ाना पायें और संसार में ईश्वरीय ज्ञान की दुदुम्भी बजा दें। अब माया से सदा के लिये हमारी छुट्टी और ईश्वरीय सेवा में हमारी उपस्थिति – यही हमारा दृढ़ व्रत है। माया के बोल बोलना अब बन्द! माया के बोल सुनना अब बन्द! माया वालों से अब माया के लेन-देन का धन्धा बन्द!

क्या हम बार-बार भूल जाते हैं कि यह संगम का अनमोल समय गुज़र जाने पर विस्मय ही मनुष्य के हाथ लगता है जैसे गाड़ी निकल जाने पर अफ़सोस ही मनुष्य के पल्ले पड़ता है।



विधि-विधान और मुकदमेबाज़ी

आज हम देखते हैं कि विधान सभाओं में कानून बनाना, उसे पुस्तकों (law-books) के रूप में छपवाना, फिर कालेजों में इस विषय के विद्यार्थियों को कानून पढ़ाना, कानून के विरुद्ध काम करने वाले लोगों को पकड़ने के लिए पुलिस विभाग को सक्रिय रखना, फिर न्यायालयों में मुकदमों की सुनवाई व फ़ैसले की व्यवस्था करना और इसके बाद अपराधी सिद्ध होने वालों को दण्डित करने के लिए बड़े-बड़े जेलख़ाने कायम रखना — ये समाज के आवश्यक अंग बन गये हैं। कहा जाता है कि शहरों में अमन और कानून (Law & Order) को बनाये रखने के लिए ये सब ज़रूरी हैं।

स्वराज्य, स्वशासन अथवा स्वतंत्रता का विचित्र अर्थ

बहुत-से लोग यह भी कहते हैं कि अपने ही चुने हुए प्रतिनिधियों अथवा विधायकों द्वारा पारित किये हुए कानून एवं शासन तन्त्र से शासित होना ही सच्ची स्वतन्त्रता है अथवा यही सच्चा स्वराज्य है। वास्तव में 'स्वराज्य' या 'स्व-शासन' का आदिम एवं सही अर्थ तो यह है कि इतनी कानून की किताबें और कानून का कई मंज़िला ढाँचा बनाने की ज़रूरत ही न हो, बल्कि मनुष्य स्वयं ही अपने मन, वचन और कर्म पर ज्ञान-अंकुश से शासन करता हो, परन्तु समयान्तर में लोगों ने स्व-शासन का यह अजीब ही अर्थ निकाल लिया कि अपने ही प्रतिनिधियों द्वारा कानून पारित किया हुआ हो; वह विदेशियों द्वारा न लादा गया हो।

कानून, वकालत और मुकदमेबाज़ी

इस प्रकार आज के समाज की सभ्यता और संस्कृति का एक मुख्य तत्व प्रजातन्त्र और प्रजा के बनाये हुए प्रतिनिधियों द्वारा बनाया विधि और विधान (Law and Constitution) और उसके अनुसार बनाई गई राजनीति, अर्थनीति, शिक्षानीति इत्यादि हैं। आज समाज में विधायक चुना जाना, वकालत का व्यवसाय करना, न्यायालय में न्यायाधीश पद पाना या पुलिस अथवा कारावास में उच्च अधिकारी बनना समाज में प्रतिष्ठा पाना है। आज लगभग सभी संस्थाओं में कानूनी मामलों में वैतनिक परामर्शदाता (Paid legal Advisors) रखे हुए हैं और अच्छी आय वाले व्यापारियों या दुकानदारों

ने भी आयकर, क्रयकर या लेन-देन से होने वाली मुकदमाबाज़ी के लिए स्थाई रूप से वकील रखे हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आज का समाज कुछ वकालत और कुछ अदालत के ज़ोर से चल रहा है और इसे ही लोग कानून का राज्य मानते हैं! इस ढाँचे के बिना अब किसी का काम चलना ही मुश्किल हो गया है, यहाँ तक कि स्वयं सरकार भी मुकदमों के बिना नहीं चल सकती। सरकार ने अपने भी वकील रखे हुए हैं और स्वयं सरकार के विरुद्ध भी अनेकानेक मुकदमें हैं। कुछ लोगों का तो कहना है कि सबसे अधिक मुकदमें सरकार के विरुद्ध या सरकार द्वारा किये हुए हैं।

कानून भी जटिल, महंगा और समय-भक्षी

आज जब हम कानून की कोई किताब उठाकर देखते हैं तो उसमें इतनी बार 'या', 'अथवा', 'कोष्ठक', परीच्छेद, अनुच्छेद इत्यादि विकल्प होते हैं कि बात मत पूछिये। कानून लिखने में ऐसा प्रयास किया गया होता है कि कोई भी व्यक्ति उस कानून की ज़द से छूट न पाये परन्तु वकील लोग व्याकरण और शब्दशास्त्र में इतने 'निपुण' होते हैं कि वे शब्द, वाक्यांश या परिच्छेद का ऐसा अर्थ निकाल ही लेते हैं जो उनके अनुकूल पड़ता हो और वह उसके लिए पिछले निर्णय (precedents) भी अपने पक्ष में पेश करते हैं।

आज कानून की व्यवस्था भी ऐसी है कि एक अदालत में जो निर्णय हो जाये उसके विरुद्ध उससे उच्च न्यायालय में आवेदन किया जा सकता है। इसका एक अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि पहली अदालत में ठीक निर्णय को रद्द कर दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि यदि किसी के पास इतनी आर्थिक क्षमता न हो अथवा उसके पास इतना समय एवं मनोबल न हो कि वह उच्च न्यायालय में जाये तो वह न्याय से वंचित रह जायेगा।

सत्य और झूठ

फिर न्यायालय का जो वर्तमान ढाँचा है, उसमें हम यह भी देखते हैं कि किस प्रकार वहाँ झूठ पनप रहा है। जो मुकदमा करता है और जिस पर मुकदमा होता है, वे दोनों और उनके अपने-अपने पक्ष के गवाह शपथ लेकर यह कहते हैं कि – 'हम जो कुछ कह रहे हैं, सोच-समझ कर अपने विश्वास से ठीक कह रहे हैं।'

अव चूँकि मुकदमे में एक पक्ष की जीत और दूसरे पक्ष की हार होती है, इससे सिद्ध

होता है कि अवश्य ही एक पक्ष ने झूठ कहा ही है। परन्तु प्रायः झूठ कहने वालों को झूठ का दण्ड नहीं दिया जाता क्योंकि उनके झूठ के विरुद्ध सामान्यतः कोई अभियोग नहीं करता। इस प्रकार, न्यायालय में कसम खाकर, या सोच-समझकर, दूसरों के सामने झूठ बोलने की भी आदत बहुत मुकदमाबाज़ लोगों को पड़ जाती है। पुनश्च, जिनकी जीत होती है, वे भी कई बातों में झूठ बोलते होंगे – यह भी सम्भव है। इस प्रकार, कानून की ज़द्द से बचने के लिये भी झूठ पनप रहा है।

जीत-हार का प्रश्न

इसके अतिरिक्त, जब दो व्यक्तियों के बीच का मामला उनसे बाहर दूसरों के हाथों में चला जाता है तो जीत-हार की भावना, मान-अपमान का प्रश्न, झूठे साबित होने का डर मनुष्य के मन में पैदा हो जाता है और तब वह जोश में आकर अथवा मज़बूरी से मुकदमे को जीतने की होड़ लगा लेता है और इसमें उसका कितना भी पैसा और कितना समय ख़र्च हो जाता है। इस तरह के चक्रव्यूह में पड़कर कितने ही लोग चिन्ता और अशान्ति मोल ले लेते हैं और कितने ही लोग अपनी पूंजी का एक बड़ा हिस्सा मुकदमाबाज़ी ही में लगा बैठते हैं। इससे कई व्यक्तियों और परिवारों के बीच आगे के लिये मनमुटाव और तनाव पैदा हो जाता है और इस प्रकार मुकदमे के फैसले के बाद भी उनके मन में आग सुलगती रहती है।

अपार जन-शक्ति और धन राशि का व्यय तथा परेशानी

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज हर देश के काफ़ी संख्या में बुद्धिजीवी लोग कानून की किताबें लिखने, छापने, पढ़ने, वकालत करने और उनके आधार पर निर्णय करने तथा अपराधी को दण्डित करने के व्यवसाय में ही लगे हुए हैं। वे अपने जीवन के सृज्नात्मक काल की अधिकतर शक्ति इस कार्य में ही लगा रहे हैं। सरकार, विद्यार्थी अथवा उसके माता-पिता अपना बहुत-सा धन कानून और न्याय के व्यवसाय को बनाये रखने पर ही लगा देते हैं और मुकदमे में उलझे हुए लोगों का हर वर्ष करोड़ों रुपये का जो धन इसमें ख़र्च होता है, उसका तो हिसाब लगाना ही कठिन है। वे तो न्यायालय की स्टेम्प ड्यूटी (Stamp Duty) वकीलों की फ़ीसें और हर आये दिन न्यायालय में पेशी से परेशान हो जाता है।

न्याय मिलता है, परन्तु समाज न्यायशील एवं पवित्र नहीं बनता

कोई कह सकता है कि यह सब धन और समय व्यर्थ थोड़े ही हो रहा है? इससे तो लोगों को न्याय ही मिलता है और समाज में तानाशाही (Authoritarianism) की बजाय कानून का राज्य (Rule of laws) चलता है जिसमें कानून के सामने हर व्यक्ति बराबर है।

हाँ, किसी हद तक यह कहना ठीक भी है, परन्तु हमारे कहने का भाव तो यह है कि अमन और कानून के राज्य का वास्तविक स्वरूप तो वह है जिसमें व्यक्ति स्वयं स्वभाव से ही शान्त हो और दूसरों की शान्ति में भी विघ्न न डालता हो कि जिसके लिए कानून और दण्ड की व्यवस्था करनी पड़े। यदि ऐसा हो सके तो, स्वत: स्पष्ट है कि कानून के ऐसे परिधानों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। एक कहावत भी है कि 'मियाँ बीबी राज़ी तो क्या करेगा काज़ी?'

सुधार नहीं

फिर हम यह भी देखते हैं कि कानून का ढाँचा तो अपराधी को पकड़ने और दण्डित करने ही के लिए बनाया गया है। उसमें मनुष्यों की वृत्तियों को सुधारने के लिये कोई कदम नहीं उठाया जाता है। मान लीजिये कि किसी व्यक्ति को, अपराध करने के दण्डस्वरूप, तीन वर्ष का कारावास मिला। वह जेल से छूटने के बाद पुन: भी अपराध कर सकता है। तीन वर्ष की इस अवधि में उसके सुधार के लिये कोई उपाय नहीं किया जाता बल्कि अन्य अपराधियों के बीच रहकर वह अपराध के अन्यान्य तरीके भी सीख जाता है। अत: स्पष्ट है कि कानून के वर्तमान ढाँचे-साँचे से समाज का लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। कानून बनाते रहना और उसे भंग करने वालों को दण्डित करते रहना—यह समस्या का सही हल नहीं है। समस्या का हल तो इसी में है कि मनुष्य को प्रारम्भ से ही ऐसी शिक्षा मिले जिससे उसका जीवन पवित्र, प्रिय और लोक-हित तथा स्वत: सुखानुकूल हो।

अपराध की प्रेरक दूषित प्रवृत्तियों का शुद्धिकरण

दण्ड संहिता में जिन-जिन अपराधों के लिये चर्चा है अथवा जिन कानून विरोधी मानवी कर्मों को लेकर कानून बनाये गये हैं, उनका यदि सूक्ष्म अन्वेषण किया जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि इनके मूल में मनुष्य की कोई-न-कोई दूषित-प्रवृत्ति ही है

उदाहरण के तौर पर स्त्रियों से छेड़-छाड़, (Eve teasing) बलात्कार, (Rape) लाज लूटने का यत्न (Criminal assault), वेश्यागमन (Prostitution), अपहरण (Abduction) इत्यादि अपराध के मूल में मनुष्य की पाश्विक वृत्ति अथवा निरंकुश काम वासना ही हैं।

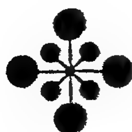
इसी प्रकार कत्ल (Murder), अग्निकाण्ड (Arson), दूसरे की सम्पत्ति का नाश (Destruction of other's property), हिंसा, शान्ति भंग करने वाले (Breach of peace) सभी कर्म, मानहानि (Defamation) इत्यादि अपराधों का जन्म क्रोध, घृणा, द्वेष या प्रतिशोध की भावना से होता है।

वस्तुओं में मिलावट (Adulteration), रिश्वत (Bribery), ठगी (Cheating, fraud) , धोखाबाज़ी, लेन-देन में बेईमानी, बिक्री कर क्रयकर आदि में चोरी (Concealment of income tax & sale tax), ज़खीरा अन्दोजी (Hoarding), चोरबाज़ारी (Black Marketing), आदि अनेक अपराध प्राय: लोभ ही के कारण होते हैं।

पक्षपात, भाई-भतीजावाद (Favouritism) अन्याय, आदि-आदि मनोवृत्ति से सम्वन्धित अपराधों के मूल में सदा मोह छिपा रहता है।

ऐसे ही हिंसा, मान-हानि, विध्वंस आदि के अनेक अपराध मनुष्य के अहंकार को चोट पहुँचने के प्रति फल होते हैं।

अत: यदि मनुष्य की इन मनोवृत्तियों का शुद्धिकरण किया जाय तो उसके मनोपरिवर्तन के परिणाम स्वरूप घर, परिवार, देश और समाज का वातावरण शुद्ध हो सकता है जहाँ शान्ति का स्थायी एवं सच्चा स्वराज्य हो और ऐसा करना समाज का कर्त्तव्य भी है। परन्तु यह कार्य ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग के बिना नहीं हो सकता। और जब इस दिव्य साधन द्वारा नर-नारी तथा बाल-वृद्ध का मनो-परिवर्तन होता है तब एक नये समाज एवं एक नयी सभ्यता की स्थापना होती है जिसे 'सतयुग', 'दैवी राज' या 'राम राज्य' कहते हैं। उसमें न कोई अपराधी होता है न शासित। अर्थात् लोग स्वभाव से ही प्रेममय एवं चरित्रवान होते हैं। ऐसी ही सभ्यता के पुनर्निमाण के लिये हमें अब ईश्वरीय कानून की शिक्षा मनुष्य को देनी चाहिये।



पाना था सो पा लिया..... और क्या बाकी रहा?

यह सत्यता प्रसिद्ध है कि जिस मनुष्यात्मा को ईश्वरानुभूति होती है और जो जीवन की पहेली का हल जान लेता है, उसके मुख-कमल से यह सहज रूप से स्वत: ही विनिसृत होता है कि 'पाना था जो पा लिया और क्या बाकी रहा?' योगारूढ़ मनुष्य के मन की इस स्थिति के कारण स्पष्ट ही हैं। पहली बात तो यह है कि परमात्मा ही तो शान्ति, आनन्द और प्रेम के सागर हैं तथा सर्वशक्तिमान् हैं। अत: उनसे मिलन हो जाने के बाद मनुष्य की भला क्या इच्छा शेष रह जाती है? उन्हीं के बारे में यह लोकोक्ति है कि उनके भण्डारे सदा भरपूर होते हैं और उनके प्रताप से ही काल-कंटक दूर होते हैं। अत: जब कोई उनका बनता है तो उस पर सर्व-समर्थ परमपिता की अनुकम्पा तो होती ही है।

यों भी मनुष्य सभी वरदान उस प्रभु ही से तो मांगते हैं – स्वास्थ्यवान भव, आयुष्यवान भव, धनवान भव, शक्तिमान् भव आदि-आदि। ये सब आशीर्वाद परमात्मा ही से तो पाना चाहते हैं। तो जो भगवान् का बन गया, उसे भगवान् के खज़ाने तो प्राप्त हो ही गये मानिये। तब संसार की किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा भला कैसे रहेगी?

कई बार हम इतिहास में इस प्रकार के वृत्तान्त पढ़ते हैं कि मूल्यवान वस्तु को प्राप्त करने के लिए राजाओं के बीच में भी संघर्ष हुआ अथवा चालें चली गईं। कोहिनूर नाम वाले विश्व-प्रसिद्ध हीरे की दास्तान भी कुछ ऐसी ही है। इसी प्रकार एक दूसरे हीरे के बारे में भी बताया जाता है कि आन्ध्र प्रदेश में उस अति मूल्यवान हीरे को कैसे खुदाई करते समय एक फ्रांसीसी नागरिक ने अपने पास छिपा लिया और किस प्रकार कई हाथ बदलने के बाद, वह हीरा नेपोलियेन के हाथ लगा और उसने उसको अपनी बड़ी अनमोल निधि माना। और, अपनी एक सबसे प्रिय वस्तु मानकर उसे अपनी पत्नी के मुकुट में जड़वा दिया। परन्तु इन विनाशी हीरों की आध्यात्मिक ज्ञान रूपी हीरों के साथ, जो कि परमपिता परमात्मा योगाभिलाषी जनों को देते हैं, क्या तुलना! वे तो अविनाशी हीरे हैं और उनका मूल्य भला कौन लगा सकता है और कौन दे सकता है? उनसे जीवन की पहेली जिस प्रकार हल हो जाती है और मनुष्य को जो अपार खुशी होती है, वह

तो अन्य किसी भी प्रकार के ख़ज़ाने से नहीं हो सकती। न उसे चोर लूट सकते हैं, न आग जला सकती है, क्योंकि वे पत्थर के नहीं, प्रकाश के हीरे हैं।

फिर, हम देखते हैं कि यदि कोई मनुष्य दलदल में धंसता जा रहा हो तो उसकी क्या स्थिति होती है। जब कोई भूल-भुलैया में मार्ग भूल गया हो तब वह कैसी उलझन में होता है! जब कोई कड़कती हुई धूप में, तपती हुई लू में बोझ से दबता और झुलसता जा रहा हो, तो उसकी क्या दशा होती है। जब किसी प्यासे का गला पानी के अभाव में सूखता जाता है तो उसको कैसी परेशानी होती है। ऐसे ही यदि कोई मोह-माया की दलदल में धंसता जा रहा हो, अज्ञान की अंधेरी गली में गिरता-पड़ता जाता हो अथवा इस संसार की भूल-भुलैया में अपने नाम-धाम को तथा बाप-बपौती को भूल बैठा हो, विकारों की लू में झुलसता जा रहा हो तो उसकी भी कैसी स्थिति, कैसी गति होती है! जब परमपिता परमात्मा उसको इस दलदल से निकालते हैं, भूल-भुलैया से पार करने के लिए मार्ग-दर्शक बनते हैं, उसके विकारों के ताप और संताप को हरने का आश्वासन देते हैं तो उसकी खुशी का क्या पारावार होता होगा। इससे बढ़कर मनुष्य को और क्या चाहिए जिसे पाने की चाह उसके मन में रह जाती होगी। मनुष्य को शान्ति, मुक्ति और जीवनमुक्ति से अधिक और किस वस्तु की अभिलाषा हो सकती है? इससे बढ़कर तो कोई इच्छा ही नहीं होती। जब इस इच्छा की पूर्ति का उपाय उपलब्ध हो जाता है तो फिर उसके लिए बाकी क्या पाना शेष रहा जाता है?

मनुष्य के दुःख का सबसे बड़ा कारण किसी-न-किसी प्रकार की चिन्ता है। चिन्ता चली जाए तो चेहरा ही खिल उठता है। निर्धनता भी एक प्रकार का अभिशाप ही है। स्वास्थ्य चला जाए तो भी कहते हैं कि कुछ खो गया परन्तु यदि प्राण ही चले जायें तो फिर क्या रहा! परमात्मा तो प्राणेश्वर हैं, उनके होने से ही जीवन में बसन्त होती है, आत्मा के लिए बहार होती है। वह मिल जायें तो सब ख़ज़ानों की चाबी हाथ लग जाती है।

इन सभी कारणों में कहा गया है कि योगी के मन में न कोई तृष्णा होती है न इच्छा बल्कि 'इच्छा मात्रम् अविद्या' की उक्ति के अनुसार वह 'आप्तकाम' स्थिति वाला होता है अर्थात् जैसे सब इच्छायें एवं कामनायें पूर्ण हो जाने से किसी का मन [illegible] सन्तुष्ट हो गया हो वैसे ही वह तृप्त अनुभव करता है। वह ग्रीष्म ऋतु में [illegible] चमकने वाली रेत की ओर नहीं भागता। पानी से निकली गई मछली के [illegible]

तड़पता एवं हांपता नहीं। जिसे चारा, पानी न मिला हो ऐसी गाय के समान वह अपनी स्थिति का खूंटा नहीं तोड़ता। जिस कर्मचारी ने वेतन न पाया हो, उसके समान पीड़ित अनुभव करके हड़ताल नहीं करता। जिस बच्चे की कोई प्रिय चीज़ हाथ से छूटकर टूट गई हो, उसके समान वह नहीं रोता बल्कि वह एकरस, स्थिर, अचल, निश्चिन्त, शान्त, मधुर एवं प्रिय बना रहता है।

परन्तु योगी के मार्ग में भी अनेक प्रकार के विघ्न कई प्रकार की परीक्षाएं, और विभिन्न प्रकार के प्रलोभन आते हैं। जब प्रकृति उसकी दासी होने लगती है, तब उसे बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। तब यदि वह अपने किसी भी नियम को छोड़ता है और किसी सांसारिक प्राप्ति की ओर झुक जाता है, तब वह अपने बहुत बड़े सौभाग्य को गंवा बैठता है। ऐसे लोगों के लिए ईश्वरानुभूति का मार्ग फिसलने वाला मार्ग है जिस पर यदि एक कदम भी फिसल गया तो चोट ऐसी कड़ी लगती है कि फिर मनुष्य को उठने में समय लगता है और उसकी यात्रा अधूरी-सी रह जाती है।

इन्हीं अनेक प्रकार की परीक्षाओं में से जो एक प्रकार का विघ्न मनुष्य के सामने आ उपस्थित होता है, वह है – मान और शान की इच्छा। जब मनुष्य योग की स्थिति में ऊंचा उठता है तो लोग उससे प्रभावित होकर उसकी 'वाह-वाह' करने लगते हैं। यदि योगी उसे सुनते हुए अनसुना करके आगे बढ़ता जाता है तब तो वह एक दिन अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है, वरना वह 'वाह-वाह' उसके लिए फिसलन अथवा दल-दल की तरह सिद्ध होती है। इससे उसका जाता हुआ अभिमान फिर लौट आता है, उसकी सन्तुष्टता उससे मुख मोड़ लेती है और अभिमान के साथी – क्रोध, निन्दा, घृणा आदि भी वापस लौटने की ताक लगाये रहते हैं। अब वह प्रभु की महिमा का श्रेष्ठ कर्त्तव्य करने की बजाय अपनी महिमा सुनने में दिलचस्पी लेने लगता है, यदि कोई उसकी महिमा नहीं करता, तो उसके प्रति शंकित हो उठता है। जो उसका प्रशंसक हो, उसकी ओर अधिक झुक जाता है और उसकी बातें सुनने तथा मानने में उसका मन कोमल हो जाता है और इस प्रकार के वखेड़े में पड़कर योग की ऊंची उड़ान से धरती पर ऐसे आकर धराशायी होता है जैसे कि कोई वायुयान अपने ईंजन के किसी कल-पुर्जे के कारण दुर्घटना-ग्रस्त होता है। अत: योगी को चाहिए कि वह अपने इस मार्ग की खाइयों की ओर सचेत रहे और मिश्री-मेवा, मोटर-मकान, स्वागत-सुश्रुषा, उपहार और आराम तथा प्रशंसा और पुष्प वर्षा में निश्चेष्ट और एकरस रहते हुए, योग के परमानन्द में रमा रहे।



सहनशीलता और धैर्य

मनुष्य के जीवन में क्षण-क्षण अथवा पल-पल में परिस्थितियाँ तो बदलती ही रहती हैं। जीवन में सफ़लता-असफ़लता, जय-पराजय, हानि और लाभ की घड़ियाँ भी आया करती हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि कोई दूसरा व्यक्ति वार्तालाप के दौरान उससे कुछ अशिष्ट, आपत्तिजनक अथवा अपमान-सूचक शब्दों का प्रयोग करता है। उन क्षणों में यदि वह सहनशील नहीं बना रहता तो दोनों में वाक्-युद्ध, तनाव अथवा मन-मुटाव या सदा के लिये सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जीवन में थोड़ी-सी सहनशीलता के अभाव के कारण बात बहुत आगे बढ़ जाती है और उसके परिणाम स्थायी और भयंकर होते हैं। उदाहरण के तौर पर हम फरवरी 1974 में देहली के न्यायालय में हुई एक घटना का उल्लेख करते हैं।

एक वास्तविक घटना

ट्रान्सपोर्ट के कारोबार में दो भागीदारों में सहनशीलता न होने के कारण अनबन हो गई और दोनों ने अलग होने का निर्णय कर लिया। बात यहाँ तक भी समाप्त नहीं हुई बल्कि दोनों में कहा-सुनी बढ़ी और धमकियाँ भी दी जाने लगीं। एक पक्ष ने न्यायालय में मुकदमा भी दायर कर दिया कि मेरे जीवन को दूसरे पक्ष से खतरा है। जिस दिन दोनों पक्षों को न्यायालय में मेजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित होना था, उस दिन मेजिस्ट्रेट के कमरे के बाहर ही बात भयंकर स्वरूप धारण कर गई।

समाचार पत्रों में जो समाचार इस विषय में छपा था, उसमें यह बताया गया था कि एक ने दूसरे को दाढ़ी से पकड़ा था और दूसरे ने पिस्तौल निकाल कर प्रथम को गोली मार दी थी। परिमणामस्वरूप एक तो गोली के कारण वहीं ढेर हो गया था और दूसरे को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। तो देखिये कुछ ही समय पूर्व जो परस्पर स्नेह के कारण साँझीदार बने थे, बाद में सहनशीलता के अभाव के कारण न केवल उनमें सम्बन्ध-विच्छेद हुआ बल्कि दो कुटुम्बों में वैर-विरोध भी पैदा हो गया, मित्र-जनों में मायूसी छा गई। अनेक निकट सम्बन्धियों एवं बाल-बच्चों को कल्पनातीत क्षति हुई और दो व्यक्तियों के तो जीवन ही मानो बर्बाद हो गये। ऐसे हज़ारों छोटे-बड़े मुकदमें अदालत में आते रहते हैं, पंचायतों में पेश होते हैं, समाचार पत्रों में छपते रहते हैं तथा घरों-परिवारों को तबाही

की आग में धकेलते रहते हैं।

घर के वातावरण और सदस्यों पर प्रभाव

केवल बाहर वालों से नहीं, स्वयं एक घर में रहने वालों में भी यदि परस्पर व्यवहार में स्नेह और सहनशीलता न हो तो क्लेश हुआ ही रहता है। अड़ोसी-पड़ोसी भी उनसे परेशान हो जाते हैं और आखिर घर के सदस्य एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। उदाहरण के तौर पर पति-पत्नी में यदि थोड़ी-सी भी बात हो जाती है और यदि दोनों में से एक भी सहनशील नहीं है तथा दोनों ही उत्तर-प्रत्युत्तर, वाद-विवाद और परस्पर आक्षेप के कुचक्र में फँस जाते हैं तो **तलाक** देने तक की नौबत आ जाती है। जैसे एक छोटी-सी चिन्गारी जल के अभाव में बुझाने की बजाय भड़काने वाली सामग्री को पाकर बड़े-बड़े भवन भस्मसात कर देती है और बड़े-बड़े नगरों को भी वीरान कर देती है, वैसे ही दोनों पक्षों में सहनशीलता और शीतलता के अभाव में कुटुम्ब-परिवार भी आपस में टकरा कर एक-दूसरे को अथवा अपने खानदान की साख को मिट्टी में मिला देते हैं। जैसे दुर्घटनाग्रस्त दो रेल-गाड़ियों के इन्जन आपस में टकरा कर पटरी पर से उतर जाते हैं और पुर्जा-पुर्जा हो जाते हैं और उनमें बैठी सवारियों को गम्भीर चोटें लगती हैं तथा देश-भर में मायूसी का वातावरण छा जाता है, वैसे ही दो व्यक्ति जिनमें सहनशीलता नहीं है, एक-दूसरे से भिड़ कर अपने गली-मुहल्ले में, अपने कुटुम्ब परिवार में मायूसी की लहर पैदा कर लेते हैं।

अपराध में वृद्धि और समाज में मायूसी और धन बर्बाद

आये दिन हम समाचार पत्रों में कितनी ही ऐसी खबरें भी पढ़ते हैं कि मालिक मकान और किरायेदार में से किसी एक ने थोड़ी-सी बात कर दी तो दूसरे ने उसे सहन न करते हुए छुरा घोंप दिया। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर उस दूसरे व्यक्ति को भी आयु-भर के लिये कारावास का कड़ा दण्ड मिला। ऐसे भी समाचार छपा करते हैं कि बाप-बेटे में थोड़ी-सी कहा सुनी हो गई तो बाप ने बेटे को घर से निकल जाने को कह दिया या बेटा ही पिता की डाँट-डपट को सहन न कर सका और वह घर छोड़कर न जाने कहाँ भटक गया। तब घर वाले दु:खी होकर समाचार पत्रों द्वारा उस बच्चे से नम्र-निवेदन करते हैं कि वह वापस आ जाय और अब वे उससे अच्छा व्यवहार करेंगे और वे उसे यह

भी बताते हैं कि यदि वह शीघ्र न लौटा तो हो सकता है कि उसके वियोग से चिन्तित उसकी माता प्राण छोड़ दे। उधर लड़का भी आवारा-गर्दी में दिन काटता फिरता है। इस प्रकार, परस्पर व्यवहार में सहनशीलता न होने के कारण उनके सम्बन्ध टूट जाते हैं और यदि फिर बनते भी हैं तो वे पहले की तरह नहीं बन पाते।

कल्पनातीत क्षति

सहनशीलता के अभाव में समाज को, परिवार को और व्यक्ति, जान-माल की जो क्षति होती है, यदि हम उसके आंकड़े इकट्ठे करें तो वह बहुत चौंका देने वाले होंगे। सरकार और कर्मचारी, मिल-मालिक और मज़दूर एक-दूसरे के व्यवहार को असह्य मानकर, एक ही देश के नागरिक होने के बावजूद भी देश के हित को इतना धक्का पहुँचाते हैं कि जितना शायद कोई विरोधी देश भी युद्धकाल में नहीं पहुँचा सकते।

देश और समाज की बात को एक ओर रखकर यदि हम व्यक्ति की बात को लें तो कितने ही लोग पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव के कारण, व्यापार में क्षति के कारण, अपने किसी स्नेही की मृत्यु के कारण या अन्य किसी ऐसी परिस्थिति के कारण, जिसे वे सहन नहीं कर पाते, हृदय-रोग के शिकार हो जाते हैं, मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं, अपनी स्मरण-शक्ति से हाथ धो बैठते हैं अथवा घुल-घुल कर मरने लगते हैं और कई तो स्वयं ही अपने लिये जानलेवा बन जाते हैं। कितने ही लोग थोड़ी-सी बात को अपमानजनक मानकर भड़क जाते हैं और न्यायालय में मुकदमाबाजी में उलझ जाते हैं जिससे उनको कई गुणा अधिक परेशानी का सामना करना पड़ता है। कहने का भाव यह है कि इस एक गुण के अभाव के कारण संसार मानो जिन्दा लोगों का एक शमशान-सा बना हुआ है जहाँ मनुष्य मरने से पहले अपने भीतर की आग में जल रहे हैं।

मनुष्य प्रायः जिन परिस्थितयों में अपनी सहनशीलता को छोड़कर भावावेश में आ जाते है, अब हम उन परिस्थितियों का तथा उनमें सहनशील बने रहने की युक्तियों का उल्लेख करेंगे –

अशिष्ट अथवा अभद्र व्यवहार

जब मनुष्य के साथ दूसरा कोई व्यक्ति अकारण ही कोई अनुचित व्यवहार करता है तो उसे बहुत बुरा लगता है और उसके जज़्बात भड़क उठते हैं। तब वह कहता है कि

इसका व्यवहार तो **अक्षम्य** है। मैं अब इसे **मज़ा** चखाऊंगा; इसका **बदला** लेकर रहूँगा। उस समय मनुष्य यह भूल जाता है कि क्षमा ही तो मनुष्य का भूषण है; वही तो मनुष्य की महानता है; उसी में ही तो मनुष्य के स्वभाव की महानता है; उसी में ही तो मनुष्य के स्वभाव की शोभा है तब मनुष्य को अपने से पूछना चाहिये कि क्या मैं अपने ही आभूषण को नष्ट करने की सोचता हूँ, अपनी ही महानता को मटियामेट कर नीच-भाव को न्यौता देता हूँ और अपने स्वभाव की शोभा को छोड़कर अशोभनीय कार्य करना चाहता हूँ और क्या मैं उसकी बुराई के **बदले में** स्वयं भी बुरा बनकर न्याय की दृष्टि में परमात्मा रूप न्यायाधीश के सामने सम-कक्ष होकर दण्डनीय होना चाहता हूँ?

फिर, बात यह भी है कि जब मनुष्य सहनशीलता को छोड़ता है, तब वह गोया अपनी शान्ति गँवा बैठता है। अत: किसी का बदला लेने की बात तो बाद की बात रही, पहले तो मनुष्य स्वयं ही बदले के संकल्प-मात्र से जोश और अशान्ति द्वारा स्वयं को घिरा हुआ पाता है। जब द्वेष और बदले के संकल्प के फलस्वरूप तत्क्षण ही मनुष्य को इतना दण्ड मिल जाता है तो, बाद में, बोले गये कुवचनों और किये गये विकर्मों के परिणामस्वरूप मनुष्य को जो कष्ट भोगना पड़ता होगा उसका तो अन्दाज़ा ही नहीं लगाया जा सकता अत: मनुष्य को स्वत: ही सोचना चाहिए कि बाद के अनेक प्रकार के दु:ख सहने की तुलना में तो अभी ही थोड़ा-सा सह लेना ज्यादा अच्छा है।

बहुत बार हम मनुष्य को ऐसा भी कहता हुआ सुनते हैं कि – "मैंने इस मनुष्य का बिगाड़ा ही क्या था कि यह मुझसे इस प्रकार का व्यवहार करता है।" अथवा "मैंने तो इस मनुष्य को यह लाभ पहुँचाया था इसका अमुक कार्य करा दिया था, फलाँ समय सहयोग दिया था.... बड़े अफ़सोस की बात है कि इसके बावजूद भी यह मनुष्य मुझसे ऐसा व्यवहार करता है अब तो मैं इसको **खूब मज़ा चखाऊंगा।** अब मैं इसकी कोई बात सहन नहीं कर सकता।" सोचने की बात है कि **यदि हमने उस मनुष्य के साथ अच्छा किया था तो अच्छे बीज का अच्छा फल एक दिन हमारे सामने आएगा अवश्य।** इसके लिए तो धीरज धरने की आवश्यकता है न कि आपे से बाहर होने की।

इसके अतिरिक्त यदि हम किसी को मज़ा ही चखाना चाहते हैं तब तो हमें ऐसा ही कार्य करना चाहिये कि जिससे दूसरे मनुष्य को सचमुच मज़ा अर्थात् सुख मिले, वर्ना किसी का मज़ा किरकिरा करने से तो श्राप और अपयश ही मिलेगा और हमारा अपना भी अपनी ग्लानि ही करेगा।

फिर यदि कोई मनुष्य अपने कर्त्तव्य से गिरता है तो उसे देखकर हमें तो बुराई के गर्त में नहीं गिरना है? क्या कोई समझदार मनुष्य किसी बुद्धिहीन मनुष्य को कुएं में छलांग लगाते देखकर स्वयं भी कुएं में गिरने की सोचने लगता है?

पुनश्च, जो मनुष्य हमसे दुर्व्यवहार करता है, उसके बारे में तो हमें समझना चाहिए कि यह मानसिक सन्तुलन को खो चुका है अथवा इसका अन्तर्मन किसी विषम परिस्थिति के कारण खीजा अथवा दुःखी है। ऐसे मनुष्य को तो दया का पात्र मानकर स्नेह और सौहार्दपूर्ण शब्द बोलते हुए, उसकी झोली को सुख से भर देना ही कर्त्तव्य है न कि उसे और अधिक दुःखी करना।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य के स्वभाव में किन्चित विनोद का समावेश हो, उसके जीवन में यदि 1. हास्य रस हो, 2. स्नेह हो, 3. दूसरे के प्रति कल्याण और करुणा की भावना हो अथवा 4. यदि कर्म-सिद्धान्त में अटूट निश्चय हो तो वह सदा ही सहनशील बना रह सकता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के स्वभाव में यह विशेषताएं कैसे आएं?



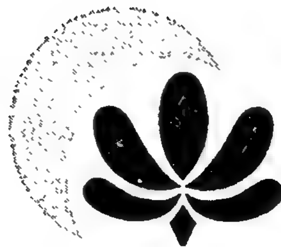
(विकारी) कर देता है और बुद्धि के नाश होने से अर्थात् कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की पहचान न रहने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है, क्योंकि भ्रष्ट बुद्धि वाला मनुष्य विकर्म करता है, विकर्मों से दुःख होता है और दुःखी मनुष्य का जीवन मृत्यु-तुल्य ही है।

अब जन्म-जन्मान्तर के परिपक्व हुए अशुद्ध संस्कारों को अपने ही बुद्धि-बल से जीत सकना मनुष्य के लिये बिल्कुल असम्भव है। जब मनुष्य कर्मेन्द्रियों को जीतने का पुरुषार्थ करता है तो पूर्व काल के संस्कारों के कारण या तो कर्मेन्द्रियाँ मन को फिर विषय-व्यक्तियों में धकेलकर ले जाती हैं और या विकारी मन स्वयं ही बुद्धि से युद्ध शुरु कर देता है और बुरा सोचने तथा बुरी वृत्ति की टेव नहीं छोड़ पाता, बल्कि इस कोशिश में रहता है कि बुद्धि को भी अपना साथी बना ले, ताकि उसके (मन के) ऊपर कोई रोक-टोक न रहे। ऐसी दशा में माया रूपी ग्रह से आत्मा रूपी गज को छुड़ाने वाला केवल परमात्मा ही है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। अगर यह गज उस समय परमात्मा को याद न करे और भगवान् उसकी सहायता को न आयें तो उसका और कोई भी रक्षक नहीं होता। इससे सिद्ध है कि विकारों को जीतना चाहते हुए भी मनुष्य तब तक इन्हें नहीं जीत सकता जब तक कि उसकी बुद्धि का योग परमात्मा के साथ न हो। हम लौकिक कार्य में भी यह युक्ति प्रयोग में लाते हैं। जहाँ कोई कार्य हम अपनी शक्ति अथवा योग्यता द्वारा नहीं कर सकते तो किसी दूसरे से सहायता ले लेते हैं। इसी प्रकार जबकि यह निश्चित है कि हमारी बुद्धि पूर्ण रीति से केवल अपनी ही योग्यता अथवा बल से मनोविकारों, विकल्पों और विकर्मों को समाप्त नहीं कर सकती, तो बुद्धि को बलवान् साथ दिलवाने के लिए, बुद्धि का संग परमात्मा के साथ जोड़ना आवश्यक है, क्योंकि एक वही तो स्वयं सम्पूर्ण निर्विकारी, सर्वगुण सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् और सबका शुभचिन्तक है।

परन्तु जो लोग आत्मा को ही परमात्मा मानते हैं और स्वयं को शिव निश्चय करते हैं, अर्थात् जो स्वयं को असमर्थ न समझ परमात्मा के साथ योग ही नहीं लगाते, उन्हें सर्वशक्तिमान् परमात्मा की रक्षा शक्ति और सहायता नहीं मिलती। जब परमात्मा ही उनके साथ नहीं तो वे विकारों को जीत नहीं सकते और जबकि वे विकारों को जीत नहीं सकते तो वे अन्य मनुष्यों के मुक्तिदाता और जीवनमुक्तिदाता अथवा 'गुरु' कहलाने के भी अधिकारी नहीं हो सकते।

अतः विकारों को जीतकर स्वधर्म में स्थित होने का अथवा मुक्ति और जीवनमुक्ति को पाने का एक मात्र उपाय यह है कि बुद्धि का योग परमात्मा से लगाया जाए और

यह तभी हो सकता है जब परमपिता परमात्मा का परिचय हो। और, परमात्मा का सत्य परिचय और उसके साथ योग स्वयं परमात्मा ही (अर्थात् गीता के निराकार भगवान् स्वयं ही) कराते हैं – यह स्पष्ट बात है। परन्तु परमात्मा योग तब सिखाते हैं और अपना परिचय (ज्ञान) भी तब देते हैं जब उनका अवतरण होता है। परमात्मा का अवतरण धर्मग्लानि ही के समय, कलियुग के अन्त और सतयुग के संगम-समय होता है। अतः जबकि परमपिता परमात्मा बुद्धि योग द्वारा ही निर्विकारी बनाते हैं और उनके द्वारा निर्विकारी बनने से ही मुक्ति और जीवनमुक्ति की प्राप्ति होती है, तो मनुष्य को योगयुक्त और निर्विकारी बनना चाहिए, क्योंकि सुख और शान्ति की प्राप्ति का दूसरा और कोई उपाय नहीं है।



मनुष्य बड़ा है या परमात्मा या आत्मा ही परमात्मा?

संसार में जितने भी जीव-प्राणी हैं उनमें सबसे बड़ा मनुष्य ही को माना गया, क्योंकि मनुष्य में ही सबसे अधिक बुद्धि है और इसलिए वह ही ईश्वरीय ज्ञान तथा योग की शिक्षा प्राप्त करके मुक्ति तथा जीवनमुक्ति, सच्ची शान्ति और आनन्द भी प्राप्त कर सकता है। हाँ, जिसमें मनुष्यता ही न हो वह तो पशुओं से भी खराब होता है।

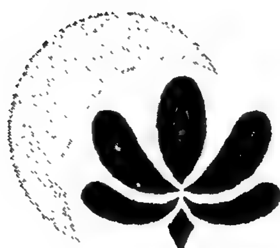
फिर हम देखते हैं कि मनुष्यों में भी कई छोटे और कई बड़े होते हैं। कोई व्यक्ति 'महात्मा' कहलाता है और दूसरे उसके 'अनुयायी' होते हैं। एक व्यक्ति 'नेता' कहलाता है, दूसरे उसके 'अनुगामी' होते हैं। कोई एक बड़ा वैज्ञानिक, कलाकार अथवा अभिनेता होता है और दूसरे उसके 'प्रशंसक' होते हैं।

बड़े मनुष्यों से भी बड़ा कौन?

हम यह भी देखते हैं कि हर-एक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान् अथवा मान्य क्यों न हो, के कोई माता-पिता भी होते हैं हर व्यक्ति से बड़े तो उसके माता-पिता हैं जिन्होंने उसे जन्म दिया। यों भी हर-एक 'बच्चा' अपने माता-पिता को तो अपने से बड़ा मानता ही है। अतः 'बच्चा' शब्द ही 'छोटा' का पर्यायवाचक हो गया है और बाप (Father) शब्द ही 'बड़ा', 'स्थापक', 'रचयिता' अथवा 'बुद्धिमान' का पर्याय हो गया है।

फिर हर-एक मनुष्य का कोई-न-कोई शिक्षक भी होता है। यह तो हो सकता है कि किसी मनुष्य ने विद्यालय में जाकर किसी शिक्षक से शब्द-ज्ञान न लिया हो, परन्तु बचपन में उसे बोलना सिखाने वाला, खाना और पहनना सिखाने वाला, वस्तु और सम्बन्ध का ज्ञान कराने वाला कोई तो होता ही है। उसे व्यवहार तथा व्यापार का, लिखा-पढ़ी या भाषा का ज्ञान कराने वाला कोई तो होता ही है। उसे बैठना-उठना, रीति-नीति, कला-कौशल व कमाना एवं रक्षा करना कोई तो सिखाता ही है। अतः हरेक व्यक्ति का कोई-न-कोई शिक्षक भी होता ही है और, देखा जाए, तो वह शिक्षक उस अवस्था में उस व्यक्ति से बड़ा होता है। यदि किसी शिशु को कोई बोलना न सिखाए तो वह गूँगा-सा

यह तभी हो सकता है जब परमपिता परमात्मा का परिचय हो। और, परमात्मा का सत्य परिचय और उसके साथ योग स्वयं परमात्मा ही (अर्थात् गीता के निराकार भगवान् स्वयं ही) कराते हैं – यह स्पष्ट बात है। परन्तु परमात्मा योग तब सिखाते हैं और अपना परिचय (ज्ञान) भी तब देते हैं जब उनका अवतरण होता है। परमात्मा का अवतरण धर्मग्लानि ही के समय, कलियुग के अन्त और सतयुग के संगम-समय होता है। अतः जबकि परमपिता परमात्मा बुद्धि योग द्वारा ही निर्विकारी बनाते हैं और उनके द्वारा निर्विकारी बनने से ही मुक्ति और जीवनमुक्ति की प्राप्ति होती है, तो मनुष्य को योगयुक्त और निर्विकारी बनना चाहिए, क्योंकि सुख और शान्ति की प्राप्ति का दूसरा और कोई उपाय नहीं है।



मनुष्य बड़ा है या परमात्मा या आत्मा ही परमात्मा?

संसार में जितने भी जीव-प्राणी हैं उनमें सबसे बड़ा मनुष्य ही को माना गया, क्योंकि मनुष्य में ही सबसे अधिक बुद्धि है और इसलिए वह ही ईश्वरीय ज्ञान तथा योग की शिक्षा प्राप्त करके मुक्ति तथा जीवनमुक्ति, सच्ची शान्ति और आनन्द भी प्राप्त कर सकता है। हाँ, जिसमें मनुष्यता ही न हो वह तो पशुओं से भी खराब होता है।

फिर हम देखते हैं कि मनुष्यों में भी कई छोटे और कई बड़े होते हैं। कोई व्यक्ति 'महात्मा' कहलाता है और दूसरे उसके 'अनुयायी' होते हैं। एक व्यक्ति 'नेता' कहलाता है, दूसरे उसके 'अनुगामी' होते हैं। कोई एक बड़ा वैज्ञानिक, कलाकार अथवा अभिनेता होता है और दूसरे उसके 'प्रशंसक' होते हैं।

बड़े मनुष्यों से भी बड़ा कौन?

हम यह भी देखते हैं कि हर-एक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान् अथवा मान्य क्यों न हो, के कोई माता-पिता भी होते हैं हर व्यक्ति से बड़े तो उसके माता-पिता हैं जिन्होंने उसे जन्म दिया। यों भी हर-एक 'बच्चा' अपने माता-पिता को तो अपने से बड़ा मानता ही है। अत: 'बच्चा' शब्द ही 'छोटा' का पर्यायवाचक हो गया है और बाप (Father) शब्द ही 'बड़ा', 'स्थापक', 'रचयिता' अथवा 'बुद्धिमान' का पर्याय हो गया है।

फिर हर-एक मनुष्य का कोई-न-कोई शिक्षक भी होता है। यह तो हो सकता है कि किसी मनुष्य ने विद्यालय में जाकर किसी शिक्षक से शब्द-ज्ञान न लिया हो, परन्तु बचपन में उसे बोलना सिखाने वाला, खाना और पहनना सिखाने वाला, वस्तु और सम्बन्ध का ज्ञान कराने वाला कोई तो होता ही है। उसे व्यवहार तथा व्यापार का, लिखा-पढ़ी या परम्परा का ज्ञान कराने वाला कोई तो होता ही है। उसे बैठना-उठना, रीति-नीति, कला-कौशल या कमाना एवं रक्षा करना कोई तो सिखाता ही है। अत: हरेक व्यक्ति का कोई-न-कोई शिक्षक भी होता ही है और, देखा जाय, तो वह शिक्षक उस अवस्था में उस शिष्य से बड़ा होता है। यदि किसी शिशु को कोई बोलना न सिखाये तो वह गूँगा-सा

ही रह जाय। शिक्षक तो एक प्रकार से मनुष्य को 'अकल' (बुद्धि) देने वाला होता है और अपने पांवों पर खड़ा होने का ढंग सिखाने वाला होता है।

इसके अतिरिक्त, हर-एक का कोई गुरु भी होता है। आध्यात्मवादी या धार्मिक प्रवृत्ति के लोग तो वैसे भी कोई 'गुरु' कर लेते हैं और ऐसा मानते हैं कि 'गुरु' किये बिना जो मनुष्य मर जाता है, उसकी सद्गति नहीं होती। संन्यासी या साधु लोग तो गुरु से दीक्षा लेते ही हैं। उनको तो गुरु से नाम भी दूसरा ही मिलता है। भक्तों में तो गुरु-मन्त्र लेने का पुराना रिवाज़ भी है। आदि सनातन धर्म के लोगों के अतिरिक्त, दूसरे धर्मों के लोग भी किसी आचार्य, महात्मा, मुनि, बिशप (Bishop), मौलवी आदि को अपना **'मार्ग-प्रदर्शक'**, 'रहनुमा' या 'गाईड' मानते हैं। अत: कम-से-कम आध्यात्मिक क्षेत्र में तो मनुष्य अपने गुरु को स्वयं से बड़ा मानता है। 'गुरु' शब्द का तो अर्थ ही 'बड़ा' है।

जो लोग धर्म को मानने वाले हैं, उनका तो कोई 'इष्ट', 'पूज्य', 'श्रद्धेय' अथवा 'मान्य' भी होता ही है। कोई राम को इष्ट मानता है, कोई श्रीकृष्ण को, कोई किसी देवी को तो कोई किसी तीर्थन्कर को, कोई ईसा को तो कोई अल्लाह को। हर-एक धार्मिक व्यक्ति अपने धर्म-स्थापक को तो अपने से बड़ा मानता ही है। इस प्रकार, ईसा और मुहम्मद भी गॉड (God) को अपना आसमानी बाप (Heavenly Father) या 'रब्ब' (मालिक) मानते थे।

कोई व्यक्ति धार्मिक प्रवृत्ति का न होने के कारण यदि किसी देवी-देवता या ईश्वर-अल्लाह को न भी मानता हो तो भी वह किसी-न-किसी व्यक्ति को अपने से बड़ा या अनुकरणीय मानता ही है। नास्तिक लोगों का भी कोई 'नेता' होता है, वैज्ञानिकों में भी अधिक प्रतिभाशाली होते हैं, कलाओं में भी उस्ताद या माहिर होते हैं। कोई किसी देश-भक्त को अपना आदर्श मानता है तो कोई किसी जरनैल, महात्मा या अभिनेता को। हरेक मनुष्य के सामने प्रेरणा का कोई स्रोत तो रहता ही है।

वास्तव में देखा जाय तो हरेक मनुष्य सुख और शान्ति ही का अभिलाषी है। अत: सुख-शान्ति तो सभी का इष्ट है। हाँ, कोई व्यक्ति तो परमात्मा से सुख-शान्ति की प्राप्ति की आशा करके परमात्मा को अपना इष्ट मानता है तो दूसरा कोई किसी तीर्थन्कर या देवी-देवता से सुख-शान्ति की आशा करता है। इस सत्यता को ध्यान में रखने से मानना होगा कि वास्तव में परमात्मा ही सबका इष्ट है। हाँ, कोई इस सत्य को जानता और

मानता है, कोई न जानने के कारण परमात्मा को नहीं मानता, केवल सुख-शान्ति को ही मानता है।

पूज्य लोगों का भी परमपूज्य अथवा 'मान्यवर' कौन है?

अब आप देखेंगे कि वास्तव में परमात्मा ही एक आत्मा है जो सभी आत्माओं का परमपिता, परमशिक्षक, सद्गुरु एवं इष्ट है। सभी धर्मों के अनुयायी सृष्टि का आदि-पुरुष ब्रह्मा को, आदम को, ऐडम (Adam) को या आदिदेव को मानते हैं। परन्तु साथ में यह भी प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा को अथवा आदम को परमात्मा ने ही रचा और उसके द्वारा नयी सृष्टि की स्थापना की जो सतयुगी पावन एवं सुखमय सृष्टि थी अथवा स्वर्गिक सृष्टि (Paradise) थी। अत: इस दृष्टिकोण से परमात्मा ही प्रजापिता ब्रह्मा तथा ऐडम के भी पिता होने के कारण सभी धर्मों वाली आत्माओं के परमपिता हुए जिन्होंने कि मनुष्यमात्र को पवित्रता, स्वर्गिक सुख और शान्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार दिया। उस परमात्मा को ही कल्याणकर्त्ता होने के कारण हम 'शिव' कह सकते हैं; उसे कई लोग जेहोवा (Jehova) भी कहते हैं।

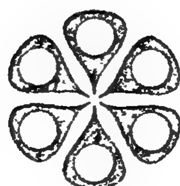
फिर, परमात्मा ही सभी के शिक्षक और सद्गुरु भी हैं, क्योंकि ब्रह्मा या ऐडम जो कि सर्वप्रथम धर्म-स्थापक माने जाते हैं, उन्हें सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त का ज्ञान उसी ने दिया। गीता में भी भगवान् के महावाक्य हैं कि – "पहले, सृष्टि के आदि में यह ज्ञान और योग मैंने सिखाया था, परन्तु अब यह प्राय: लुप्त हो गया है, इसलिए मैं फिर सिखाने आया हूँ और मैंने दिव्य जन्म लिया है, मेरे कोई माता-पिता नही हैं।" अत: स्पष्ट है कि परमात्मा ही सभी मनुष्यों को ज्ञान एवं सहज राजयोग की शिक्षा देने वाला, सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त के भेद बताने वाला, कर्म-अकर्म-विकर्म की गहन गति समझाने वाला, गमनागमन का चक्कर स्पष्ट करने वाला शिक्षक और गुरु है जो कि सभी की गति-सद्गति करता है। उसका कोई शिक्षक और सद्गुरु नहीं है।

वह सबका इष्ट तो है ही। उस 'शिव' को तो सभी याद करते ही हैं। कोई उसको 'नूर-ए-इलाही' (ज्योति-स्वरूप) परमात्मा मानता है तो कोई 'जेहोवा' नाम से याद करता है। मुसलमानों में 'संगेअसवद' नाम से उसकी यादगार है तो बौद्ध लोग भी जापान आदि देशों में उस पर मन टिकाते हैं। रामेश्वरं तथा गोपेश्वरं के मन्दिरों से स्पष्ट है कि राम और कृष्ण का भी पूज्य वह एक 'शिव' ही है। वह शिव ही 'त्रिमूर्ति' अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर का भी रचयिता है। वही नानक का 'मात-पिता' है, जिसका बालक नानक ने

स्वयं को माना है और वही ईसा का भी 'आसमानी बाप' (Heavenly Father) है। कोई उसका नाम-रूप न जानने के कारण सुख-शान्ति को ही अपना इष्ट मानता है। परन्तु सुख-शान्ति देने वाला, दु:ख से छुड़ाने वाला (Liberator) और पतितों को पावन करने वाला है वह एक ही। अत: एक परमात्मा शिव ही परमपूज्य एवं परममाननीय है।

क्या आत्मा ही परमात्मा है?

बड़े खेद की बात है कि आज मनुष्य उस "ऊंचे-से-ऊंचे भगवन्त" को, अल्लाह (सबसे श्रेष्ठ) या परम-आत्मा को अपने से ऊंचा एवं अलग न मानकर स्वयं आत्मा ही को परमात्मा मानते हैं और स्वयं को ही 'शिव' निश्चय करते हैं। इतना ही नहीं कई लोग तो गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और शंकर से तथा परमात्मा से भी ऊंचा मानते हैं। यह तो अज्ञानता की हद है और नास्तिकता से भी अधिक निकृष्ट मत है। अल्पज्ञ, असमर्थ, जन्म-मरण तथा दु:ख-सुख के चक्कर में आने वाले, विकारों के तथा देह के बन्धन में पड़े हुए मनुष्य को 'परमात्मा' मानना तो अज्ञानता की एवं मिथ्याभिमान की पराकाष्ठा है जिसे संसार के करोड़ों लोग अपना पिता, इष्ट या पूज्य मानते हैं, उसे अपने से भी छोटा मानना या स्वयं को वही परमपूज्य एवं परमपिता (शिव) मानना तो छोटे मुँह बड़ी बात कहना है अथवा एक बावले मनुष्य जैसे अनाप-शनाप वचन बोलना है।



आठ मुख्य शक्तियों की धारणा

अब जब हम शिव बाबा अर्थात् परमपिता परमात्मा की स्मृति में बैठते हैं तो बुद्धि द्वारा उनसे रूह-रिहान अर्थात् आत्मिक वार्तालाप होता है। बुद्धि कहती है – "बाबा अथवा परमपिता, आप तो ज्ञान के सागर हैं, आप हमको सृष्टि के आदि मध्य और अन्त का ज्ञान देते हैं।" तब हमें इसका उत्तर (Response) भी मिलता है। बाबा (परमपिता परमात्मा शिव) कहते हैं – "बच्चे, अब तो आप भी मास्टर ज्ञान के सागर (Master Knowledgeful) हैं; अब तो आप भी सार रूप में तीनों कालों की कहानी को जान गये हैं।" फिर बुद्धि कहती है – "बाबा आप शान्ति के भी सागर हो।" तब बाबा कहते हैं – "हाँ बच्चे, परन्तु अब तो आप भी मास्टर शान्ति के सागर बन गये हैं। अब पावन बनने के फलस्वरूप आप भी विश्व शान्ति की पुनः स्थापना के कार्य में मेरे साथ निमित्त बने हुए हैं। आप जिस सतयुगी सृष्टि की स्थापना के कार्य में निमित्त अथवा माध्यम बने हैं, उस सृष्टि में तो अशान्ति का कहीं नाम निशान भी नहीं होगा।" तब बुद्धि कहती है – "बाबा, आप तो प्रेम के सागर हो।" तब इसका उत्तर देते हैं कि – "बच्चे, अब आप जिस सतयुगी सृष्टि के निर्माण के कार्य में लगे हुए हैं, उसमें तो इतना प्रेम होगा कि शेर-गाय जैसे पशु भी एक घाट पानी पियेंगे। गोया आज जिन पशुओं में शत्रुता और वैर है, वे भी परस्पर निर्वैर और प्रेमपूर्ण रहेंगे। अतः स्पष्ट है कि आप भी तो एक प्रकार से प्रेम के सागर ही बन रहे हो।" इसी प्रकार आत्मा कहती है – "बाबा, आप सर्वशक्तिमान् भी तो हो।" तब बाबा कहते हैं कि – "आप भी तो एक तरह से सर्वशक्तिमान (Master Almighty) बन रहे हैं क्योंकि आपका स्वराज्य में जब चक्रवर्ती राज्य होगा तब वह अटल, अखण्ड, निर्विघ्न और अति सुखकारी होगा। सभी तत्व भी आपकी आत्मिक शक्ति के कारण नियमानुसार (In law and order) रहेंगे। सतयुग में कोई राजा किसी पर चढ़ाई नहीं करता, प्रकृति के तत्व भी प्रकोप नहीं करते, यहाँ तक कि काल भी किसी पर वार नहीं करता, अर्थात् अकाल मृत्यु भी नहीं होती।" इस प्रकार आत्मा का परमात्मा से वार्तालाप (रूह-रिहान) होता है।

तब बाबा पूछते हैं – "बच्चे, आप सर्वशक्तिमान बन रहे हैं तो देखो, आप इन आठ मुख्य शक्तियों धारण करो। वे आठ शक्तियाँ हैं – १- सहन शक्ति २- निर्णय शक्ति ३- परख शक्ति ४- समेटने की शक्ति ५- सामना करने की शक्ति ६- विस्तार करने और संकीर्ण करने की शक्ति ७- समाने की शक्ति ८- सहयोग करने की शक्ति।"

इन शक्तियों को धारण कैसे करें?

उपरोक्त शक्तियों को हम जितना-जितना धारण करेंगे उतना-उतना हम 'मास्टर सर्वशक्तिमान्' बनेंगे और उतना-उतना ही दैवी सृष्टि (स्वर्ग) के चक्रवर्ती राज्य पद के अधिकारी बनेंगे। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि हम इन शक्तियों को अपने जीवन में धारण कैसे करें? इसके उत्तर में हमें यह मालूम होना चाहिए कि शिव बाबा ने न केवल हमें इन शक्तियों को धारण करने के लिए सम्मति दी है बल्कि इसके लिए तरीका भी बताया है। उदाहरण के तौर पर हम पहले इस पर विचार करेंगे कि सहन शक्ति कैसे धारण करें।

सहन शक्ति कैसे धारण करें?

यों तो मनुष्य के जीवन में ऐसी बहुत-सी परिस्थितियाँ आती हैं जब उसे सहन शक्ति का प्रयोग करना होता है परन्तु मुख्य रूप से ये छः ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें कि इस शक्ति का विशेष रूप से प्रयोग करने की जरूरत प्रायः सभी मनुष्यों को अनुभव होती है – १. निंदा अथवा अपमान २. रोग ३. शोक अर्थात् किसी निकट सम्बन्धी अथवा स्नेही की मृत्यु ४. निर्धनता ५. सरकार, जनता अथवा सम्बन्धियों की ओर से कोई संकट ६. भविष्य के प्रति चिंता।

अब निंदा या अपमान ही की परिस्थिति को लीजिए। निंदा की परिस्थिति में मनुष्य को क्रोध इसलिए आता है कि मनुष्य समझता है कि मेरी हानि हो रही है, यह मनुष्य काफ़ी परिश्रम के बाद बनाई गई मेरी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला रहा है; अतः यह मेरा शत्रु है। परन्तु शिव बाबा कहते हैं कि – "बच्चे, सदा यह याद रखो कि 'निंदा हमारी जो करे, मित्र हमारा सो।" तो आप ही सोचिए कि यदि हम निंदा करने वाले को अपना मित्र मानें और उस निंदा में हम अपनी हानि न मानें तो भला हमें क्यों क्रोध आयेगा? स्पष्ट है कि तब हमारी बुद्धि का सन्तुलन और मन की शीतलता बनी रहेगी। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि निंदा करने वाला भला हमारा मित्र कैसे है?

विचार करने पर आप मानेंगे कि जब हमारी कोई निंदा करता है, तब यदि उस द्वारा वर्णित अवगुण अथवा दुर्गुण सचमुच हममें है, तब तो निश्चय ही वह हमारा मित्र है क्योंकि उसने हमें अपने दुर्गुण बताये। अब अपने अवगुणों की ओर ध्यान देकर उन्हें निकालने का हमारा विचार और प्रबल होगा। यदि वे अवगुण हममें नहीं हैं तो 'साँच को आँच कहाँ?' बाबा कहते कि –"सच्चे को तो खुशी से नाचना चाहिए उसे चिंता क्यों?" यदि वह व्यक्ति खाहमाखाह अथवा किसी ग़लत फहमी के कारण हमारी निंदा

करता है तो फिर उसकी निंदा से हमें अडिग रहना चाहिए। सहन न कर सकना भी तो एक अवगुण है।

बाबा बताया करते कि – "जो निंदा करता है, मानो कि वह आपका भक्त है।" इसका एक स्पष्टीकरण बाबा कह देते कि– 'देखो, आज जो भक्त हैं, वे भी गलतफहमी के कारण अपने पूज्य देवी-देवताओं की भी निंदा करते हैं। ब्रह्मा सरस्वती पर मोहित हो गया, श्रीकृष्ण की 16108 पटरानियाँ थीं, शिव पार्वती पर कामातुर हो गया,' इस प्रकार की कथाओं द्वारा वे न पर भी तो मिथ्या कलंक लगाते हैं। तो आपको भी ऐसे समझना चाहिए कि आज गाली दे रहे हैं, कल वे फूल चढ़ायेंगे परन्तु हमें अपना देवत्व या अपनी महानता नहीं छोड़नी चाहिए; हमें सहनशीलता के सिंहासन को छोड़कर नीचे नहीं उतर आना चाहिए। इसके अतिरिक्त,एक बात यह भी सभी प्रभु-प्रेमी मानते हैं कि निंदा द्वारा भी एक तरह से हमारे पूर्वकृत विकर्मों का संचय समाप्त होता है। निंदा भी हमारे किसी पूर्व-कर्म का फल हो सकता है; अतः यदि इस दृष्टि से भी हम निंदा के वातावरण में चुप साध लें और उसे मन को न लगने दें तो हम विकर्मों के बोझ से उबरते ही हैं। इस प्रकार यदि हम सहन करेंगे तो न केवल हममें सहनशीलता का गुण आयेगा बल्कि सहन करने से हमारा आत्मिक बल भी बढ़ेगा। और हमारा मान मिट्टी में नहीं मिलेगा बल्कि लोग हमें महान् मानने लगेंगे। आप देखेंगे कि जब कोई मनुष्य बहुत तंग आ जाता है तो कहता है कि – "बस, अब मैं सहन नहीं कर सकता।" इसका अर्थ यही हुआ कि मुझ में सहन करने की शक्ति नहीं है। तो स्पष्ट है कि सहन करने के लिए शक्ति की जरूरत है। आध्यात्मिक शक्ति सहन करने के अभ्यास से, योग से तथा ज्ञान को उस परिस्थिति पर प्रयोग (apply) करने से ही आती है।

रोग की परिस्थिति में सहन शक्ति का प्रयोग

इसी प्रकार रोग की परिस्थिति को सहन करने के लिए भी बाबा ने हमें कई युक्तियाँ बताई हैं। उदाहरण के तौर पर बाबा ने समझाया है कि – "जब रोग हो तो समझो कि मेरे पूर्व विकर्मों का हिसाब किताब चुक्ता हो रहा है।" मनुष्य रोग से दुःखी, अधीर और व्याकुल इसलिए होता है कि वह समझता है कि मेरी बहुत बड़ी हानि हो गयी है। कहावत भी है कि यदि स्वास्थ्य चला गया तो समझो कि कुछ हानि हो गयी (If health is lost, something is lost) परन्तु बाबा कहते हैं – यह चौरासीवें अर्थात् अन्तिम जन्म का शरीर है, साकार बाबा के भी शरीर को कितनी चत्तियाँ लगी हुई हैं, अतः अब यह रोग अन्तिम सलाम करने के लिए आयेंगे। रोग के समय तो बुद्धि व्यवहार और धन्धे से

भी फारिग होती , अत: यह समझो कि हमें योग-अभ्यास करने तथा ज्ञान को धारण करने का समय मिला है। तो आप उस समय का सदुपयोग करके और ही अविनाशी कमाई कर लो तो यह रोग भी अप्रत्यक्ष रूप से वरदान सिद्ध हो जायेगा। रोग का इलाज करो परन्तु कहावत है कि दु:ख की घड़ी में तो भगवान की और भी ज़्यादा याद आती है, अत: यह परिस्थिति आप के योग के चार्ट को अच्छा बनाने के लिए और आपको कुछ फुर्सत दिलाने के लिए आई है। यदि इस दृष्टिकोण से हम इस परिस्थिति को देखेंगे तो स्पष्ट है कि तब इसके सहन करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होगा। तब तो हमारे मन में हर्ष बना ही रहेगा। हमें यह भी तो बाबा ने बताया है कि अब हम योग द्वारा ऐसी सृष्टि में जा रहे हैं जहाँ 2500 वर्षों तक किसी भी प्रकार का रोग होगा ही नहीं।

किसी की मृत्यु होने पर सहन शक्ति का प्रयोग

यही बात शोक के बारे में भी कही जा सकती है। बाबा ने बताया है कि यह तो एक अनादि ड्रामा है जो कि फिरता रहता है। यहां सदा एक दृश्य तो कभी रहता नहीं है। यह तो मृत्यु-लोक है, यहाँ तो अकाल मृत्यु भी होती है। सभी का साथी तो एक शिव बाबा ही है; उसी एक से ही सर्व अविनाशी सम्बन्ध हैं। मृत्यु से तो केवल चोला बदलता है और पार्ट ही बदलता है, अत: इसके लिए शोक करना ग़लत है।

इसी प्रकार, अन्यान्य परिस्थितियों में भी कठिनाइयों को सहन करने के लिए बाबा ने युक्तियाँ बताई हैं। सहनशीलता के लिए विशेष रूप से बाबा ने यह बताया है कि सभी-कुछ अपने ही किए पिछले कर्मों के फलस्वरूप हमारे सामने आता है, अत: उसे भोगना तो होगा ही, तब क्यों न खुशी-खुशी भोगा जाय। और, बाबा ने समझाया है कि यह संसार एक विराट नाटक है। इसमें हरेक का अपना-अपना पार्ट है। सब कुछ अनादि-निश्चित है। अत: हमें किसी दूसरे के पार्ट को देखकर ईर्ष्या या द्वेष की अग्नि में नहीं जलना चाहिए। किसी का हमसे भिन्न मत हो तो उससे हमें परेशान नहीं होना चाहिए क्योंकि ड्रामा में विविधता अथवा भाँति-भाँति का पार्ट तो होता ही है। भावी अथवा नियति को सामने रखकर ढाँढ़स करना चाहिए तथा सन्तुष्ट रहना चाहिए। अपनी ओर से पूरा-पूरा पुरुषार्थ तो मनुष्य को करना ही चाहिए परन्तु यदि उस सबके बावजूद भी परिणाम हमारी आशा या इच्छा के अनुसार नहीं होता तो हमें दु:खित नहीं होना चाहिए बल्कि प्रारब्ध कर्म का फल मानकर अथवा अपनी किसी कमी का परिणाम मानकर आगे के लिए फिर उत्तम पुरुषार्थ करना चाहिए।

निर्णय शक्ति

इसी प्रकार निर्णय शक्ति के लिए भी बाबा ने सभी युक्तियाँ समझाई हैं। हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है, हमारी वर्तमान स्थिति कैसी है, अब हमें पुरुषार्थ क्या करना है, उसके लिए हमारे पास अधिकाधिक समय कितना है, अव्यक्त स्थिति के क्या लक्षण हैं, देव पद जो कि हमारा ध्येय है, उसमें क्या गुण होते हैं – ये सभी बातें हमें स्पष्ट कर दी गयी हैं। तब निर्णय करने के लिए और क्या बात हमें जाननी है? देव लोक में राजा पद, रानी पद, प्रजा पद, दास-दासी पद किस पुरुषार्थ वाले को मिलता है, हमारी पढ़ाई के विषय (Subjects) कौन-कौन से हैं, यह सब-कुछ ही तो बताया जा चुका है। निर्णय करने के लिए इन्हीं आवश्यक बातों ही को तो जानना होता है। तब हमें ही तो एकान्त में बैठकर निर्णय करना है। किसी की निर्णय शक्ति ठीक कार्य करती है तो वह निर्णय लेकर प्रभु के अर्पणमय हो चुका है और मन-वचन-कर्म से अपना तथा दूसरों का जीवन उच्च बनाने में लग गया है और कोई अभी तक भी निर्णय नहीं कर पाया। परमात्मा का क्या स्वरूप है, वह कब अवतरित होते हैं, उसके क्या कर्त्तव्य होते हैं, अब कौन-सा समय आने वाला है – यह सभी बातें स्पष्ट कर दी जा चुकी हैं। तब भी यदि कोई निर्णय न कर सके कि क्या सचमुच परमपिता का अवतरण हो चुका है या नहीं और अब मुझे क्या करना है, क्या नहीं करना तो उसमें निर्णय शक्ति ही का तो अभाव मानेंगे। तो देख लीजिए कि जीवन को श्रेष्ठ बनाने के पुरुषार्थ में निर्णय शक्ति का कितना महत्व है! यदि समय पर निर्णय न कर सके और समय हाथ से निकल गया तो देर से निर्णय करने का क्या लाभ?

अत: अच्छे निर्णय की विशेषताएं बताते हुए बाबा कहते कि निर्णय भी शीघ्र (Quick silver) होना चाहिए। निर्णय-शक्ति की जीवन में कदम-कदम पर ज़रूरत होती है। किस समय कौन-सा कार्य करना है, इस बारे में बहुत-से मनुष्य उलझन में पड़ जाते हैं। परन्तु जो योगयुक्त एवं अव्यक्त स्थिति में स्थित होते हैं, उनके मन में तुरन्त ही उत्तर मिल जाता है कि क्या करना है, क्या नहीं करना। दूसरों का समय दुविधा में ही निकल जाता है।

आठ शक्तियों की धारणा से सभी विषयों में पूर्णत: सफल

कई अतिरथी हैं, कई महारथी और कई कम गति वाले होते हैं; इस इन आठ शक्तियों में से किसी-न-किसी शक्ति की कमी ही है। हमारे चारों विषय-ज्ञान, योग, दिव्य गुणों की धारणा तथा

भी फारिग होती , अत: यह समझो कि हमें योग-अभ्यास करने तथा ज्ञान को धारण करने का समय मिला है। तो आप उस समय का सदुपयोग करके और ही अविनाशी कमाई कर लो तो यह रोग भी अप्रत्यक्ष रूप से वरदान सिद्ध हो जायेगा। रोग का इलाज करो परन्तु कहावत है कि दु:ख की घड़ी में तो भगवान की और भी ज़्यादा याद आती है, अत: यह परिस्थिति आप के योग के चार्ट को अच्छा बनाने के लिए और आपको कुछ फुर्सत दिलाने के लिए आई है। यदि इस दृष्टिकोण से हम इस परिस्थिति को देखेंगे तो स्पष्ट है कि तब इसके सहन करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होगा। तब तो हमारे मन में हर्ष बना ही रहेगा। हमें यह भी तो बाबा ने बताया है कि अब हम योग द्वारा ऐसी सृष्टि में जा रहे हैं जहाँ 2500 वर्षों तक किसी भी प्रकार का रोग होगा ही नहीं।

किसी की मृत्यु होने पर सहन शक्ति का प्रयोग

यही बात शोक के बारे में भी कही जा सकती है। बाबा ने बताया है कि यह तो एक अनादि ड्रामा है जो कि फिरता रहता है। यहां सदा एक दृश्य तो कभी रहता नहीं है। यह तो मृत्यु-लोक है, यहाँ तो अकाल मृत्यु भी होती है। सभी का साथी तो एक शिव बाबा ही है; उसी एक से ही सर्व अविनाशी सम्बन्ध हैं। मृत्यु से तो केवल चोला बदलता है और पार्ट ही बदलता है, अत: इसके लिए शोक करना ग़लत है।

इसी प्रकार, अन्यान्य परिस्थितियों में भी कठिनाइयों को सहन करने के लिए बाबा ने युक्तियाँ बताई हैं। सहनशीलता के लिए विशेष रूप से बाबा ने यह बताया है कि सभी-कुछ अपने ही किए पिछले कर्मों के फलस्वरूप हमारे सामने आता है, अत: उसे भोगना तो होगा ही, तब क्यों न खुशी-खुशी भोगा जाय। और, बाबा ने समझाया है कि यह संसार एक विराट नाटक है। इसमें हरेक का अपना-अपना पार्ट है। सब कुछ अनादि-निश्चित है। अत: हमें किसी दूसरे के पार्ट को देखकर ईर्ष्या या द्वेष की अग्नि में नहीं जलना चाहिए। किसी का हमसे भिन्न मत हो तो उससे हमें परेशान नहीं होना चाहिए क्योंकि ड्रामा में विविधता अथवा भाँति-भाँति का पार्ट तो होता ही है। भावी अथवा नियति को सामने रखकर ढाँढ़स करना चाहिए तथा सन्तुष्ट रहना चाहिए। अपनी ओर से पूरा-पूरा पुरुषार्थ तो मनुष्य को करना ही चाहिए परन्तु यदि उस सबके बावजूद भी परिणाम हमारी आशा या इच्छा के अनुसार नहीं होता तो हमें दु:खित नहीं होना चाहिए बल्कि प्रारब्ध कर्म का फल मानकर अथवा अपनी किसी कमी का परिणाम मानकर आगे के लिए उत्तम पुरुषार्थ करना चाहिए।

निर्णय शक्ति

इसी प्रकार निर्णय शक्ति के लिए भी बाबा ने सभी युक्तियाँ समझाई हैं। हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है, हमारी वर्तमान स्थिति कैसी है, अब हमें पुरुषार्थ क्या करना है, उसके लिए हमारे पास अधिकाधिक समय कितना है, अव्यक्त स्थिति के क्या लक्षण हैं, देव पद जो कि हमारा ध्येय है, उसमें क्या गुण होते हैं – ये सभी बातें हमें स्पष्ट कर दी गयी हैं। तब निर्णय करने के लिए और क्या बात हमें जाननी है? देव लोक में राजा पद, रानी पद, प्रजा पद, दास-दासी पद किस पुरुषार्थ वाले को मिलता है, हमारी पढ़ाई के विषय (Subjects) कौन-कौन से हैं, यह सब-कुछ ही तो बताया जा चुका है। निर्णय करने के लिए इन्हीं आवश्यक बातों ही को तो जानना होता है। तब हमें ही तो एकान्त में बैठकर निर्णय करना है। किसी की निर्णय शक्ति ठीक कार्य करती है तो वह निर्णय लेकर प्रभु के अर्पणमय हो चुका है और मन-वचन-कर्म से अपना तथा दूसरों का जीवन उच्च बनाने में लग गया है और कोई अभी तक भी निर्णय नहीं कर पाया। परमात्मा का क्या स्वरूप है, वह कब अवतरित होते हैं, उसके क्या कर्त्तव्य होते हैं, अब कौन-सा समय आने वाला है -- यह सभी बातें स्पष्ट कर दी जा चुकी हैं। तब भी यदि कोई निर्णय न कर सके कि क्या सचमुच परमपिता का अवतरण हो चुका है या नहीं और अब मुझे क्या करना है, क्या नहीं करना तो उसमें निर्णय शक्ति ही का तो अभाव मानेंगे। तो देख लीजिए कि जीवन को श्रेष्ठ बनाने के पुरुषार्थ में निर्णय शक्ति का कितना महत्व है! यदि समय पर निर्णय न कर सके और समय हाथ से निकल गया तो देर से निर्णय करने का क्या लाभ?

अत: अच्छे निर्णय की विशेषताएं बताते हुए बाबा कहते कि निर्णय भी शीघ्र (Quick silver) होना चाहिए। निर्णय-शक्ति की जीवन में कदम-कदम पर ज़रूरत होती है। किस समय कौन-सा कार्य करना है, इस बारे में बहुत-से मनुष्य उलझन में पड़ जाते हैं। परन्तु जो योगयुक्त एवं अव्यक्त स्थिति में स्थित होते हैं, उनके मन में तुरन्त ही उत्तर मिल जाता है कि क्या करना है, क्या नहीं करना। दूसरों का समय दुविधा में ही निकल जाता है।

इन आठ शक्तियों की धारणा से सभी विषयों में पूर्णत: सफल

ज्ञान मार्ग में कई अतिरथी हैं, कई महारथी और कई कम गति वाले होते हैं; इस अन्तर का मुख्य कारण इन आठ शक्तियों में से किसी-न-किसी शक्ति की कमी ही है। इन शक्तियों की धारणा में हमारे चारों विषय-ज्ञान, योग, दिव्य गुणों की धारणा तथा

ईश्वरीय सेवा – इन चारों विषयों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के तौर पर सहन शक्ति, जिसका ऊपर हमने उल्लेख किया है, तभी धारण हो सकती है जब ईश्वरीय ज्ञान को हर परिस्थिति में इस्तेमाल किया जाय। इसका उदाहरण हम सहनशक्ति के प्रसंग में दे भी आये हैं। फिर, यह सहनशक्ति, निर्णयशक्ति, सामना करने की आदि की शक्ति तभी तो हमारे जीवन में आ सकती हैं जब हमारा योग सर्वशक्तिमान् परमपिता परमात्मा से जुटा हुआ हो। अत: इन शक्तियों की धारणा में योग का विषय भी सम्मिलित हो ही गया। पुनश्च, आप देखेंगे कि इनमें से हरेक शक्ति को धारण करने के लिए कई दिव्य गुणों की धारणा हो जाती है। उदाहरण के तौर पर सहनशक्ति को ही लीजिए। सहनशीलता एक दिव्य गुण ही तो है। फिर, सहन वह कर सकेगा जो कि अन्तर्मुखी होगा। इसी प्रकार, समेटने की शक्ति भी उसी में होगी जो अनासक्त, उपराम चित्त और सन्तुष्ट होगा। निर्णय करने की शक्ति उसी में होगी जो निष्पक्ष, गम्भीर, विचारशील और अन्तर्मुखी होगा।

इसी प्रकार, **ईश्वरीय-सेवा** में भी वही सफ़ल हो सकेगा जिसमें परख शक्ति होगी। कौन-सा व्यक्ति ज्ञान ले सकता है, कौन देवता घराने का नहीं है, किसको कितना ज्ञान सुनाना चाहिए या ज्ञान-योगादि का कौन-सा प्वाइंट कब सुनाना चाहिए, जिसको यह परख नहीं होगी, वह ईश्वरीय सेवा के कार्य में भी सफ़ल नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि यदि इन चारों शक्तियों को धारण करने पर हमारा ध्यान बना रहे तो निश्चय ही हम ईश्वरीय पढ़ाई के चारों विषयों में अच्छे हो सकते हैं।

इन शक्तियों का परस्पर सम्बन्ध

फिर, आप देखेंगे कि इनमें से एक शक्ति का दूसरी शक्ति से भी सम्बन्ध है। उदाहरण के तौर पर सहन शक्ति को ही लीजिए। इसके लिए सामना करने की शक्ति भी चाहिए। जो विघ्न हमारे सामने आयें, बाधाएं पड़े, उनको हम न केवल सहन करें बल्कि उनका सामना भी करें – ये दोनों शक्तियाँ सहगामिनी हैं।

इस प्रकार यदि हम इन शक्तियों को धारण करने का पुरुषार्थ करेंगे तो शीघ्र ही पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो सकेंगे। सर्वशक्तिमान् परमात्मा शिव द्वारा शक्तियाँ लेने का समय है। जिन्होंने इन शक्तियों को पूर्व कल्प में धारण किया वे ही शिवमयी याँ – अम्बा, दुर्गा आदि कहलाईं। अब हमें भी चाहिए कि इस अनमोल अवसर ाथ से न गँवायें क्योंकि परमपिता परमात्मा शिव सारे कल्प में केवल एक ही बार ाते हैं!



बुरा मत सुनो, बुरा मत कहो, बुरा मत देखो

महात्मा गाँधी के तीन बन्दरों वाली बात से सभी परिचित हैं। अपनी चेष्टाओं से बन्दरों को यह बताते दिखाया गया है कि बुरा मत सुनो, बुरा मत कहो, बुरा मत देखो। तीनों बातें बहुत श्रेष्ठ हैं, जिनको यदि जीवन में उतारा जाय, तो हम भी स्वयं को श्रेष्ठ बना सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि इन तीनों बातों को जीवन में उतारा कैसे जाय? जीवन में उतारने का मतलब है, आचरण में ले जाना। आचरण में लाने के लिए पहला साधन है अन्तर्मुखता को धारण करना। **अन्तर्मुखता** से आशय है कि **अन्तरात्मा** के स्वरूप में स्थित होकर **कर्म** करना।

'अन्तर्मुखता' शब्द में मुख का विशेष महत्व है। सम्पूर्ण शब्द के इसी अंश पर अधिक ज़ोर है। क्योंकि शरीर में मुख ही मुख्य है, इसलिए कि शरीर की सब इन्द्रियों में से मनुष्य को नीच या ऊंच बनाने वाली इन्द्रियाँ इसी मुख (मुखौटे) पर स्थित हैं। इस भाग पर ही देखने, सुनने, बोलने, खाने तथा शरीर का सांस प्रदान करने वाली इन्द्रियाँ हैं। सम्पूर्ण शरीर का संचालक या सोचने-विचारने का साधन मस्तिष्क भी इसी भाग पर है। अब जो मनुष्य शरीर के अन्तर आत्मा को नहीं जानता या फिर जानते हुए भी आत्म-स्थिति में स्थित होकर कर्म नहीं कर पाता, वह विषय-विकारों की कीचड़ में फँसकर अपने मूल्य जीवन को बरबाद कर देता है। इसके विपरीत एक अन्तर्मुखी व्यक्ति अर्थात् जो यह बात जानता है कि मैं शरीर नहीं, बल्कि शरीर में रहने वाली चैतन्य आत्मा हूँ — उसका देखना, सुनना और बोलना सभी निराला होता है क्योंकि वह आत्म-स्थित होकर कर्म करता है, और इसलिए उसे बुराइयाँ घेर नहीं पातीं।

अन्तर्मुखता को किस प्रकार धारण किया जाय या उसे धारण करने से क्या अभिप्राय है। इसके लिए, अन्तर्मुखता के अर्थ को पूरी तरह समझना ज़रूरी है जिसे हम नीचे स्पष्ट करते हैं।

१. 'अन्तर्मुखता' का अर्थ तो यह है कि हम केवल वही कर्म करें, जिससे कि आत्म-दृष्टि हो अथवा आत्मा की उन्नति हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी मुखस्थित — ऑख, कान, मुख आदि इन्द्रियों से केवल वही देखें, सुने और बोलें अथवा खावें जो आत्मा के लिए उचित हो अर्थात् जिससे आत्मा का पतन न होता हो।

'मुख' और 'विमुख' दो शब्दों का भावार्थ लीजिए। विमुख माने ध्यान न देना और

मुख माने ध्यान देना। अत: अन्तर्मुखता का अर्थ अपने अन्दर में जो आत्मा है, उस पर ध्यान देना है। उसकी उन्नति का ख्याल रखना।

२. दूसरा अर्थ अन्तर्मुखता का यह है कि कर्मवीर रहते हुए आत्मवीर बने रहना। कर्म करते समय भी इस बात का ध्यान बनाये रखना कि कर्म का कर्ता अमुक इन्द्रिय नहीं, बल्कि आत्मा है। उदाहरण स्वरूप कहने को तो देखने वाली आँखें हैं, परन्तु वास्तव में आँखों के द्वारा देखने वाली तो आत्मा है। आँख तो एक लैंस या कैमरे की तरह है, जो कि मस्तिष्क पर वस्तु या दृश्य का प्रतिबिम्ब भर डालती है। इसी प्रकार मुख से बोलते समय हमें ध्यान रखना चाहिए कि मुख तो मात्र माइक्रोफोन है। बाहर-स्थित मुख से जो बोलता है, वह तो अन्तर-स्थित आत्मा ही है, जो चेतन ज्योतिस्वरूप है। अत: हम कर्म करते हुए देह का भान न रखें। हम **'आत्मानिश्चय-बुद्धि'** बन जायें, **'देह-निश्चय-बुद्धि'** नहीं।

३. अन्तर्मुखता का तीसरा अर्थ यह है कि बाह्य जगत में जो कुछ कर्म बाह्य इन्द्रियों से करें, उसे तुरन्त अन्तर-आत्मा पर घटायें। उदाहरणत: यदि हम अपना **घर** देखते हैं, तो हमारी वृत्ति तुरन्त अन्दर को जाय अर्थात् हम तुरन्त यह सोचें कि मैं आत्मा हूँ शरीर नहीं और आत्मा का **घर** तो 'परमधाम' है। शरीर तो एक कार की तरह है और – मैं तो इससे अलग आत्मा शरीर का ड्राईवर हूँ। परन्तु आज मनुष्य अन्तर्मुखी न होकर **'बाह्यमुखी'** बने हैं, बाह्य सुखों की खोज में भटक रहे हैं और उनकी प्राप्ति न होने पर तरह-तरह से दूसरों को **'पीड़ा'** पहुँचाते हुए **स्वयं दु:खों का घर बन बैठे हैं।**

४. चौथा अर्थ अन्तर्मुखता का यह है कि हमें इस बात का हर क्षण ध्यान रहना चाहिए कि जितना कर्म आवश्यक हो, उसे करके हम **'आत्मा-स्वरूप'** में स्थित हो जायें, आत्म-चिन्तन करें। आज का मनुष्य व्यर्थ के धर्म-जाल में इतना अधिक उलझा हुआ है कि अपनी कर्मेन्द्रियों को समेट कर आत्मा के स्वरूप में स्थित नहीं हो पाता। कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि कर्म करते हुए आत्म-स्वरूप में स्थित रहकर हमें व्यर्थ संकल्प, कर्म, वाचा और व्यर्थ की लम्बी-चौड़ी बातें सुनने में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिए। कर्म, कर्त्तव्य के दायरे में हो, दायरे से बाहर नहीं। कर्म वही है, जो आत्मोन्नति के लिए कर्त्तव्य हैं, बाकी तो विकर्म है।

५. इसके अतिरिक्त एक पाँचवा अर्थ भी है। वह यह कि मनुष्य अपने **अन्तरात्मा का निरीक्षण** करता रहे। बाह्यमुखी इस बात पर ध्यान नहीं देता। वह तो कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करने में ही तत्पर रहता है और बाह्य जगत को ही देखता रहता है। इसीलिए उसकी आत्म-उन्नति नहीं हो पाती और वह श्रेष्ठ नहीं बन पाता।

❑❑❑

क्रोध की अग्नि और क्रोध का भूत

क्रोधी स्वभाव वाले मनुष्य को शान्ति नसीब नहीं होती, क्योंकि क्रोधी मनुष्य दूसरों को भी अशान्त करता है और सारे वायुमण्डल को अपने उग्र स्वभाव की तरंगों से दूषित कर देता है। अतः जो मनुष्य सच्ची शान्ति का प्यासा है उसे चाहिए कि क्रोध रूपी अग्नि के निकट ही न जाए, क्योंकि यही अग्नि मनुष्य के सुख को भस्म कर देती है और उसके जीवन को अफ़ाक (आकाश) से गिराकर ख़ाक (मिट्टी) में मिला देती है। जो मनुष्य क्रोध करता है, उसके बारे में यों भी लोग मुहावरे में कहते हैं कि – "वह आपे से बाहर हो गया है" और हम स्वयं देखते भी हैं कि क्रोधी मनुष्य विवेक और सन्तुलन को खो बैठता है और उसे अपनी तथा दूसरों की, पीछे की और आगे की सुध-बुध नहीं रहती। अतः अब अपनी सुध लेने वाले तथा स्वयं को सुधारना चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह "**आपे से बाहर**" न हो, अर्थात् क्रोध न करे, बल्कि आपे में ही मस्त रहे अर्थात् स्वरूपस्थ होकर मौज मनाये।

संसार में बिजली से पैदा होने वाली अग्नि एक ऐसी प्रकार की अग्नि है जिसे प्रज्ज्वलित करने के लिए भी मिट्टी का तेल या दीयासलाई की आवश्यकता तो होती है, वह उसके अन्तरात्मा या मन को नहीं जलाती। किन्तु क्रोध तो एक ऐसी अग्नि है जो कि मनुष्य के मन को भी जलाकर उसके जीवन के सार को नष्ट कर देती है। अतः जब कोई मनुष्य क्रोध करता है तो लोग कहते हैं कि – "वह मनुष्य आग-बबूला हो गया, उसके क्रोध की ज्वालामुखी फट पड़ी।" इस प्रकार स्पष्ट है कि जो मनुष्य जीवित अवस्था में स्वयं को बार-बार क्रोध की चिता पर जलाता है, वह सदा अज्ञानी है। मुर्दे को जब अग्नि पर लिटाया जाता है तो उसे अग्नि का दाह अनुभव नहीं होता परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि जीवित मनुष्य क्रोध में स्वयं को जलाकर स्वयं को दुःखी करता है और फिर कहता है कि – "मैंने फलां मनुष्य को सीधा कर दिया, मैंने उसका दिमाग़ ठिकाने लगा दिया, मैंने उसके होश ही उड़ा दिए, मैंने उसको मज़ा चखा दिया।" स्पष्ट है कि क्रोध द्वारा अपने दिमाग को बे-ठिकाने करने वाला अपने स्वरूप को उल्टाने वाला और अपने मज़े को गंवाने वाला मनुष्य स्वयं ही होश में नहीं होता, उसके अपने ही होश उड़ गए होते हैं, जभी तो हम कई बार देखते हैं कि मनुष्य क्रोधावेश से अपने कपड़े भी फाड़ने लगता है, बाल उखाड़ने लगता है और जबड़े फाड़-फाड़ कर बोलने लगता है। अतः क्रोध एक प्रकार का भूत है, क्योंकि भूतों को मानने वाले लोग भी कहा करते हैं कि जब

किसी में भूत प्रवेश होता है, तब वह भूत भी कपड़े फाड़ने लगता है, सिर को बुरी तरह पीटने लगता है अथवा अन्यान्य प्रकार से स्वयं भी दु:खित होता है और दूसरों को भी दु:खी करता है। इसलिए, परमपिता परमात्मा शिव कहते हैं कि अब इस क्रोध रूपी भूत को भगा दो।

क्रोध दूसरों को भी दु:ख देता है, इसलिए दु:ख पाता है

क्रोधी मनुष्य की ज़बान तलवार से भी तेज़ होती है। उसके वचन दूसरों को पत्थर की तरह लगते हैं। उसके शब्द अश्रु गैस (Tear gas) से भी हज़ार गुणा बुरे होते हैं, तभी तो उससे न केवल लोग आंसू बहाते हैं बल्कि मन से रोते हैं। क्रोधी के शब्द मनुष्य के हृदय में छेद कर देते हैं और उसे दु:खी कर देते हैं। अत: दु:खित मनुष्य के हृदय के भीतर से निकलने वाली आह क्रोधी को भी जला देती है; उसे भी दु:खी करती है। इसलिए क्रोधी मनुष्य जब आवेश में आकर बात करता है तो कहता भी है कि – **"मेरे सीने में तो आग लगी हुई है।"**

क्रोधी मनुष्य कहता है कि – "लोग मेरी बात मानते ही नहीं, इसलिए मुझे क्रोध करना पड़ता है।" उसके कहने का भाव यह हुआ कि क्रोध ही का सिक्का चलता है। परन्तु अब परमपिता परमात्मा कहते हैं कि यदि अब दूसरों पर क्रोध रूपी गोली चलाओगे, कड़वे वचन रूपी पत्थर बरसाओगे, दु:खदायक शब्द रूपी बम मारोगे तो मरते समय तुम्हें ऐसी पीड़ा होगी जैसे किसी का सीना गोलियों से छलनी हो रहा हो, किसी के सिर पर बम मार दिया गया हो अथवा किसी के माथे पर ज़ोर से पत्थर जा लगा हो। अत: यदि अपने जीवन को अभी सुखी बनाना चाहते हो और स्वर्ग का राज्य-भाग्य पाना चाहते हो तो क्रोध का विरोध करके अब प्रेम की गंगा बहाओ।

क्रोध का दान न करने वाला ही नादान

जो व्यक्ति दूसरों को कुछ दान करता है, उसे 'दानी' कहा जाता है और जो व्यक्ति समझदार नहीं होता, उसे 'नादान' कहा जाता है। परन्तु परमपिता परमात्मा कहते हैं कि जो व्यक्ति मुझे क्रोध का दान नहीं करता वही 'नादान' (दान न करने वाला) है, इसलिए उसका कल्याण भी नहीं होता। जो मनुष्य चाहता है कि मेरा कल्याण हो, उसे अब परमात्मा को क्रोध का दान दे देना चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि बाल-बच्चों को सुधारने और समझाने के लिए क्रोध करना

ड़ता है। वे कहते हैं [illegible]
न्हें समझना चाहिए [illegible]
शा ही से हैं। [illegible]
फर उन्हें क्रोध [illegible]
। वास्तव में प्रेम और [illegible]
होता, क्योंकि क्रोध [illegible]
मयभीत होने से उसकी बुद्धि [illegible]
वाले मनुष्य को चाहिए [illegible]
पने सुधारे वर्ना "[illegible] (The [illegible]
black)" वाली [illegible]
फ़ज़ीहत बन [illegible]

अतः [illegible] है — [illegible]
आप भी प्रेम-[illegible]
बोल बोलो कि दूसरे [illegible]
किसी से भी क्रोध [illegible]
निन्दक कहलाता है और [illegible]
दूसरों को भी [illegible]
सम्पूर्ण तथा [illegible]"



संघर्ष और उत्कर्ष

इस कलियुगी संसार में जीवन के हर क्षेत्र में, हर वर्ग, व्यवसाय और आयु-भाग में संघर्ष ही देखने में आता है। एक मनुष्य व्यापार करने के लिए किसी चीज़ की दुकान खोलता है तो दूसरा भी उसकी चलती हुई दुकान को देखकर और यह मानकर कि यह व्यवसाय लाभप्रद है, कहीं आस-पास उसी चीज़ की दुकान खोल लेता है और, इस प्रकार द्वन्द्व अथवा संघर्ष का वातावरण पैदा कर देता है। एक बालक किसी दूसरे बालक को मंच पर अच्छा भाषण करते सुनता है तो उसके माता-पिता अथवा उसका मन उक्साहट पैदा करते हैं कि वह उससे भी अच्छा भाषण करे। इस प्रकार दोनों में एक प्रतिस्पर्धा-सी शुरू हो जाती है जो कई बार आगे जाकर द्वेष का रूप ले लेती है। कई बार तो ऐसा भी होता है कि एक व्यक्ति किसी दूसरे को मित्र-भाव से, सहानुभूति से, या किसी अच्छे लक्ष्य की पूर्ति के लिए कोई कला सिखाता है अथवा किसी कार्य में कुशल बनाता है तो वह व्यक्ति, उसी कला अथवा कौशल को लेकर, प्रथमोक्त व्यक्ति का सामना करने लगता है। इस प्रकार वह प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है और एक कशमकश-सी पैदा कर देता है। एक व्यक्ति को राजनीति के क्षेत्र में ले आता है और उसे दिशा-निर्देश देता है परन्तु राजनीति में परिपक्व होने पर वह व्यक्ति अपने अभिभावक को भी पछाड़ कर सत्ता हथियाने की कोशिश करता है । संक्षेप में भाव यह है कि सारे वातावरण में ही संघर्ष और विरोध की भावना भरी हुई है। हां, कुछ थोड़े ही लोग संसार में ऐसे होते हैं जिनका मन दूसरों के प्रति सहानुभूति, करुणा, सहयोग, सेवा सद्भावना और स्नेह से प्लावित हो उठता है, यहां तक कि वे अपने सर्वस्व की बाज़ी लगाकर भी दूसरे का हित करने से नहीं चूकते। वे त्यागी के गुण से विशेषतया विभूषित होते हैं जो स्वार्थ को परोपकार के लिए अथवा अपने आराम को दूसरे की उन्नति के लिए सहज ही त्याग देते हैं। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी, प्रतिस्पर्धक अथवा विरोधी का भी अकल्याण करने की बात नहीं सोचते। परन्तु संसार में अधिकांश लोग तो ऐसे ही हैं जो ईर्ष्या, द्वेष स्वार्थ और सत्ता-लोलुप्य की भावना से उद्वहैलित होकर कशमकश का वातावरण बनाये रखते हैं।

आध्यात्मिकता क्षेत्र में भी संघर्ष

आधुनिक युग का यह विश्लेषण केवल भौतिक जगत पर ही चरितार्थ नहीं होता

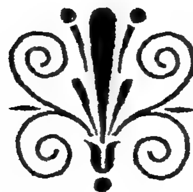
बल्कि जब वह आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रवेश करता है तब भी उसे ऐसी कई मंज़िलें पार करनी पड़ती हैं। कोई ईर्ष्या वश किसी की निन्दा करता है तो अन्य कोई द्वेष-वश मुख़ालफ़त अथवा विरोध। कोई प्रतिस्पर्धा करते-करते उसे पछाड़ने की सोचता है तो अन्य कोई अपनी ही महिमा अथवा प्रतिष्ठा के स्वार्थ से असहयोग, अथवा विरोध पर उतर आता है। अध्यात्मिकता के क्षेत्र में संघर्ष को देखकर कुछ लोग यह सोचने लगते हैं कि हम तो समझते थे कि आध्यात्मिक मार्ग में संघर्ष का नाम भी नहीं होगा परन्तु संघर्ष यहां भी पीछा नहीं छोड़ता। इस प्रकार वे विचलित और व्याकुल हो उठते हैं परन्तु सोचने की बात है संघर्ष तो इस युग का मुख्य-चिन्ह है। जिस क्षण से नवजात शिशु संसार की रोशनी में आता है, उसी क्षण से संघर्ष शुरू हो ही जाता है। जब वह स्वयं को नये वातावरण में, नये लोगों के बीच में पाता है और स्वयं को भाषा अथवा वाक्-शक्ति से रहित और अंग शक्ति में सुकोमल एवं अदृढ़ पाता है तो कुछ संघर्ष के बाद ही वह यहाँ के वायुमण्डल में और सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल कर पाता है। फिर भी यह संघर्ष समाप्त थोड़े ही होता है? यदि देखा जाय तो खेल-कूद आनन्ददायक हैं, आमोद-प्रमोद के साधन हैं और विद्याध्ययन भी उत्सुकता, कौतूहल और दिलचस्पी का स्रोत है परन्तु यदि दूसरा दृष्टिकोण अपनाया जाय तो यह भी होड़, प्रतिस्पर्धा और परीक्षा, परिणाम-चिन्ता आदि के उत्पादक हैं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि यदि बच्चे के सामने प्रश्न, परीक्षाएं और समस्याएं न आयें, वह उन्हें हल करने का संघर्ष न करे तो उसका शारीरिक एवं बौद्धिक विकास ही नहीं हो सकता ।

आध्यात्मिक जीवन में संघर्ष की उपयोगिता

इसी प्रकार, आध्यात्मिक जीवन में भी मनुष्य के सामने जो विकट परिस्थितियां या संघर्ष की जो घड़ियाँ आती हैं, उसके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए सहायक होती हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी करुणामूर्ति, त्याग मूर्ति, स्नेह-मूर्ति, राजयोगीजन होते हैं जो दूसरे को डूबता देखकर स्वयं मंझधार में कूद पड़ते हैं अथवा जो पर-हित के लिए मान-शान, सुख-साधना आदि का संघर्ष त्याग करते हैं, और इन सबसे भी ऊपर स्वयं करुणा के सागर, दया के भंडार, परम रक्षक एवं परम सहायक परमपिता परमात्मा का भी हाथ उन पर बना रहता है जो आध्यात्मिकता के पथ पर उसे अपना साथी बनाते हैं।

आध्यात्मिकता के मार्ग में संघर्ष से पार होने के प्रयत्न को ही 'पुरुषार्थ' कहा जाता है। पुरुषार्थी को चिन्ता इस बात की नहीं होती कि अन्य कोई उससे विरोध, द्वन्द्व अथवा

संघर्ष का वातावरण पैदा करता है बल्कि उसकी कोशिश यह होती है कि वह स्वयं उस दलदल में न फंसें और यदि हो सके तो दूसरे को भी उससे निकाले। वह इस बात से व्याकुल नहीं होता कि दूसरा कोई उसका मुकाबला करता है अथवा उसकी निन्दा करके उसके व्यक्तित्व को आघात पहुंचाता है बल्कि उसका प्रयत्न यह होता है कि उसका अपना मन स्थिर रहे, वाणी निर्मल बनी रहे और सद्भावना में अन्तर न आये। उसकी कोशिश यह होती है कि वातावरण प्रदूषित न हो और दूसरों को देखने या सुनने को बुराई न मिले बल्कि संसार में अच्छाई फैले, प्रीति बढ़े और सद्भावना से वातावरण सुगन्धित हो। वह सोंचता है कि मर्यादा भंग न हो, अनुशासन न टूटे, पवित्रता पर अपवित्रता हावी न हो और आसुरी तत्वों को बढ़ावा न मिले बल्कि सदाचार, पवित्रता और सात्विकता की जयजयकार हो और वातावरण ऐसा बने कि जिसमें चहुं ओर प्रसन्नता की लहर दौड़ उठे, सबके मन हर्ष से खिल उठें, सबमें भ्रातृत्व की भावना प्रधान हो और विश्व में प्राणी प्रेम से एक-दूसरे के निकट आयें। इस आदर्श लक्ष्य अथवा मनोरथ को लेकर वह जहां अपने पुरुषार्थ पथ पर सुदृढ़तापूर्वक चलता है, वहां वह निष्पक्ष रूप से समालोचक बनकर उसके सुधार की चेष्टा करता है तथा स्थितिपरिवर्तन के लिए प्रयत्नशील भी होता है। इस प्रकार के संघर्ष से सही पुरुषार्थी निश्चेष्ट नहीं होता और न निष्क्रियता को अपनाता है। परन्तु हां, यदि इस संघर्ष में वह देखता है कि परिस्थितियों का आक्रमण, विकटताओं का विस्फोट और द्वन्द्व, द्वेष, दुर्भावना और दुर्साधना की बाढ़ अत्यन्त प्रबल हैं तो वह अपने योगचर्या, आध्यात्मिक निष्ठा एवं दिव्य गुणों के विकास के पुरुषार्थ को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए कुछ समय के लिए स्वयं को एक ओर सुरक्षित कर लेता है।



स्नेह, संगठन और सेवा

गीता में एक जगह पर लिखा है कि भगवान ने कहा – "हे अर्जुन, जो मुझे श्रद्धा या भावना से पत्र अथवा पुष्प अर्पित करते हैं, मैं उनकी उस भावना को स्वीकार करता हूँ क्योंकि मैं तो उनके प्यार को देखता हूँ।"[1] हम भी यह समझकर विश्व-कल्याण महोत्सव के बारे में अपने आध्यात्मिक बहन-भाइयों को 'पत्र-पुष्प' भेजते रहे, क्योंकि हमने सोचा कि जब भगवान ही पत्र-पुष्प स्वीकार कर लेते हैं तब भगवान के बच्चे भी तो यह स्वीकार करेंगे ही। परन्तु उस पत्र में तो कोमलता भी होती है, हरियाली भी और अपने प्रकार का स्वाद भी और उस पुष्प में सुगन्धि भी होती है और सौन्दर्य भी; किन्तु हम जो 'पत्र-पुष्प' भेजते रहे, उसमें तो इन गुणों का अभाव ही रहा होगा। तो भी हम भेजते तो रहे ही। परन्तु शिव बाबा के सब बच्चों की कमाल है कि उन्होंने पत्र-पुष्प का ख्याल करते हुए स्नेह का उत्तर स्नेह से दिया कि वे स्वयं भी देहली में पधारे। अतः बाबा ठीक हो तो कहते हैं कि स्नेह ही संगठन बनाने वाला सूत्र है।

पत्र और पुष्प की चर्चा करते हुए हमें शिव बाबा और ब्रह्मा बाबा की याद आती है। बाबा इन दो शब्दों से बहुत-से बहन-भाइयों के जीवन में परिवर्तन ले आये। एक बार का किस्सा इस तरह है कि मुधबन में बाबा की क्लास समाप्त हुई तो बाबा ने एक बहन को फूलों की एक प्लेट लाने के लिए कहा जो कि बाबा के आदेश के अनुसार ही पहले से तैयार रखी हुई थी। जब वह बहन प्लेट ले आई तो बाबा ने कहा – "देखो बच्चे, ये मधुबन के बगीचे के कितने अच्छे फूल हैं! आज बाबा आप बच्चों को फूल देता है।" फिर बाबा ने मुस्कुराते हुए उस बहन को कहा कि जो बच्चा जितना खिला हुआ फूल है अथवा जिस बच्चे में जितनी सुगन्ध है, उसे वैसा ही फूल देना। जिसे फूल बांटने के लिए कहा गया था, उसके कदम और हाथ रुक गये और वह मुस्कुराते हुए बाबा की ओर देखने लगी और सभा में बैठे हुए सभी बहन-भाइयों के चेहरों पर भी मुस्कुराहट आ गई। उस मुस्कुराहट में जिज्ञासा भी भरी हुई थी क्योंकि हरेक के मन में यह चल रहा था कि देखें, हमें कौन सा फूल दिया जाता है। इस सारे वृतान्त में एक-दो मिनट भी नहीं लगे होंगे कि इसी बीच एक-दो बहनों की हंसी छूट गई और बाबा भी धीमे-धीमे हंस पड़े और बोले – "यहाँ तो बाबा सबको सम्मान देते हैं, इसलिए बाबा किसी को भी सुगन्धि-हीन फूल नहीं देंगे भले ही अभी कोई पूरी तरह से कांटे से फूल न बना हो; भले

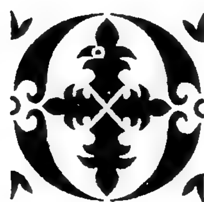
---

1. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो में प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ 11-9-26

ही कोई अभी तक कली हो और ज्ञान से पूरा न खिला हो अथवा भले ही कोई खिल कर भी मुरझाने लगा हो परन्तु बाबा सदा आपको फ्रेश (Fresh) और सुगन्धि वाले ही फूल देंगे क्योंकि बाबा सदा आप बच्चों को रिफ्रेश (Refresh) देखना चाहते हैं और सदा ही खिला हुआ और मुस्कुराता हुआ देखना चाहते हैं।'' यह बात सुनकर हर कोई अन्तर्मुखी होकर यह सोचता हुआ मालूम होता था कि हम ईश्वरीय ज्ञान और योग के द्वारा सदा हर्षितमुख बनेंगे और जन-जन को ऐसे प्यारे बाबा का 'पवित्र बनो और योगी बनो' वाला सन्देश अपने जीवन में दिव्य गुणों की सुगन्धि भर देंगे। बाबा की उस थोड़ी ही वार्ता का ऐसा प्रभाव देखने को मिलता कि हर कोई खुशी से नाचता हुआ मालूम पड़ता क्योंकि सब यही सोचते कि बाबा का ईशारा ही काफी है; सचमुच हमें सुगन्धि वाला ही फूल बनना चाहिए।

शायद ही कुछ लोग ऐसे हों जो यह सोचते हों कि हम तो सेवा कर ही नहीं पाते क्योंकि अब हमारी जर्जर अवस्था है अथवा अमुक-अमुक कारण हैं। शायद उन्हीं को ख्याल में रखकर बाबा कहते – ''बाबा को सभी बच्चे बहुत ही प्यारे लगते हैं। बाप को सदा बच्चे प्यारे होते ही हैं और ये तो रूहानी बच्चे हैं। इसलिए रूहानी बाप की इन सब पर मीठी ही दृष्टि है। भले ही कुछ बच्चों में अभी पूरा ज्ञान नहीं है और वे ईश्वरीय सेवा भी नहीं कर पाते परन्तु वे बाबा के तो बने ही हैं और उन्हें इस दैवी परिवार का संग तो मिला ही है। अतः वे भी इस ईश्वरीय परिवार की शोभा ही हैं।'' इस बात को स्पष्ट करते हुए बाबा गुलदस्ते का उदाहरण देते और कहते – ''देखो बच्चे, गुलदस्ते में फूलों के आसपास पत्ते भी होते ही हैं। पत्तों के बिना भी गुलदस्ते की शोभा नहीं होती। इसी प्रकार शिव बाबा के सभी बच्चे, जिन्होंने शिव बाबा का हाथ और साथ लिया है, वे भी तो इस ईश्वरीय परिवार के ही हैं।''

इस प्रकार बाबा पत्र और पुष्प द्वारा सेवा किया करते।



कृति और आकृति

आज ज़माना फ़ैशन का है। यह पर्दे का ज़माना नहीं कि मुँह को घूंघट में या बुर्के में छिपाकर रखा जाय। आज के नर-नारी तो अपने शरीर और वस्त्रों का ऐसा प्रदर्शन करते हैं कि लोगों को वे आकर्षक लगें। आज सौन्दर्य प्रतियोगिताएं होती हैं और फैशन पेरेड (Fashion Parades) होती हैं और लोग आकृति को आकर्षक एवं सुन्दर बनाने के लिए सौन्दर्य-प्रसाधनों (Cosmetics) का अथवा बनाव-श्रृंगार (Make up) की वस्तुओं का निस्संकोच प्रचुर प्रयोग करते हैं। गोया आज आकृति पर मनुष्य का अधिक ध्यान है; कृति पर उसका ध्यान कम है। माता-पिता भी अपने बच्चों को गोरा-चिट्टा, मोटा-ताज़ा बनाने पर ध्यान देते हैं परन्तु बच्चों के चरित्र को उज्ज्वल एवं कृति को सुन्दर बनाने पर ध्यान नहीं देते।

परन्तु सोचने की बात है कि कृति और आकृति इन दोनों में से महानता किसमें है? उदाहरण के तौर पर मान लीजिये कि एक व्यक्ति की पत्नी अतीव सुन्दर है। उसकी आकृति ऐसी है कि देखते ही मनुष्य हैरान रह जाता है। परन्तु वह इतनी कर्कशा है, ऐसी कटुभाषी, ज़िद्दी और नाज़ुक मिज़ाज़ है कि पति साहिब तो वहाँ से ऐसे भाग जाना चाहते हैं कि फिर कभी उसकी शक्ल ही न देखें।

उनके लिये वह आकृति दु:खदायक है। उस औरत का चेहरा मन के नेत्रों के सामने आते ही उनमें दु:ख की लहरें उठ खड़ी होती हैं। वे उस नारी को तलाक देने के लिये न्यायालय में आवेदन पत्र दाख़िल कर देते हैं। वह नारी आकृति से भले ही देवी-सी मालूम होती हो उसकी कृति पूरी ही दानवी है। वह रसोई घर में जाती है तो किसी छोटी-सी बात पर आगबबूला होकर पिर्च-प्यालियाँ और गिलास-प्लेट फर्श पर दे मारती है, मानो किसी काँच के सामान की दुकान में कोई बैल घुस आया हो। यदि ड्राइंग रूम में वह किसी बात पर बिगड़ जाय तो फूलदान, सजावटी चित्र इत्यादि की शामत आ जाती है और बैठा हुआ मनुष्य भी खैर मनाने के लिए कुर्सी-मेज़ के नीचे छिपता फिरता है। उसे उस नारी की आकृति सुन्दर नहीं, डायन जैसी, भूतनाथनी-जैसी लगती है।

नर-नारी की आकृति के पीछे भला है भी क्या? गोरी, लसलसी और रंग-रूप वाली चमड़ी के नीचे भी तो वही नस-नाड़ियाँ, खून और मलादि ही हैं जो एक भद्दे मनुष्य के चर्मावरण के पीछे है। अत: यद्यपि सौन्दर्य मनलुभावने वाला, प्रभावशाली और उपयोगी है तथापि यदि आकृति के साथ कृति अच्छी न हो, तब वह आकृति स्वयं को तथा दूसरों को पतित करने वाली ही होती है; वह आकृति दूसरों के लिए भी और अपने लिए भी अभिशाप बन जाती है और गर्व के गर्त्त में गिराने वाली होती है।

परन्तु आज मनुष्य ऐसा तो देह-अभिमानी बन चुका है कि वह आकृति ही के पीछे बावला हुआ-हुआ है, क्योंकि उसे केवल चर्म-चक्षु ही प्राप्त हैं, उसकी बुद्धि रूपी चक्षु में धुन्ध, जाला, फूला, कुकड़े मोतिया आदि हैं। वह तन के सौन्दर्य के पीछे दीवाना है; मन के सौन्दर्य की उसे कुछ परवाह नहीं। वह इस बात को भुला देने में ही सुख मानता है कि चमड़ी का भ्रम तो यहीं रोग, बुढ़ापे और शमशान की अग्नि के दर्शनों से पहले तक ही है, परन्तु वास्तव में मनुष्य के कर्म ही उसके साथ चलते हैं। सच्चा सुख मनुष्य को अपने कर्मों ही से मिलता है। जो व्यक्ति हमारे गुणों तथा हमारी कृति पर आकर्षित होते हैं, वही हमारे सही आकर्षण-क्षेत्र में हैं और आकृति पर लट्टू होते हैं, वे स्वयं भी नाम-रूप की दलदल में फँस कर ख़त्म हो जाते हैं और हमारे भी स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य को लूटना चाहते हैं।

अतः हमें चाहिये कि आकृति प्रकृति को स्वच्छ स्वस्थ, और सही रखते हुए हम कृति पर पूरा ध्यान दें, क्योंकि हमारे अगले जन्म में हमें जो आकृति मिलेगी वह हमारे इस जन्म की कृति पर आधारित होगी। पुनश्च, यदि किसी की मुखाकृति सुन्दर हो परन्तु उसके मुख पर नाराज़गी, रुठने, क्रोधित होने तथा घृणा करने के चिह्न हों तो ऐसी कृति के चिह्न उसके मुख के सौन्दर्य पर हावी होकर सौन्दर्य को खा जाते हैं।

अतः सच्चाई तो यह है कि मनुष्य के होंठों पर मुस्कान ही उसकी लिपस्टिक है, चेहरे पर हर्ष ही वास्तविक पाउडर अथवा गुलाबी रंग है, मुख-मण्डल पर नम्रता एवं स्नेह-चिह्न ही सही बेजलीन या क्रीम है, मस्तिष्क में शान्ति, ज्ञान तथा शीतलता ही सिर अथवा केशों का श्रृंगार है, हाथों द्वारा दूसरों की सेवा ही भुजाओं पर बाजूबन्द तथा नाखूनों का नेल पालिश है। याद रहे कि परमात्मा हमारी कृति को देखता है। मनुष्य तो देह के सौन्दर्य को देखकर कर्म को भूल जाते हैं, परन्तु परमात्मा, जो पतित-पावन हैं, परमपवित्र हैं और शान्ति तथा सुख के दाता हैं, मनुष्य को कृति के सुधार के लिए ईश्वरीय ज्ञान और योग की शिक्षा देते हैं जिससे कि उसे कृति का सद्श्रृंगार, जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है, प्राप्त होता है।

वास्तव में सच्चा सौन्दर्य योगाभ्यास ही में है। क्योंकि उससे ही मनुष्य मन का मैल धुलता है, संस्कार उज्ज्वल होते हैं, कृति पवित्र एवं सुखदायक होती है और भविष्य में आकृति-प्रकृति भी देवताओं जैसी, सात्विक स्वस्थ तथा सर्वांग सुन्दर, मिलती है। परमात्मा ही सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् तीनों हैं, उन्हीं से सर्वगुण, सम्पूर्ण सौन्दर्य और स्वास्थ्य प्राप्त होता है जिसे काल, रोग या ज़रा भी नाश नहीं कर सकते और जिससे किसी का पतन भी नहीं होता। अतः मनुष्य को योगाभ्यास द्वारा आत्मिक सौन्दर्य को प्राप्त करना चाहिये।



अव्यक्त अथवा विदेह अवस्था में बाधक – अलबेलापन और आलस्य

शिव बाबा ने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए यह समझाया है कि यदि मनुष्य दिन-भर में आठ घण्टे भी कार्य-व्यापार करे और आठ घण्टे आराम, नींद तथा खानपान में लगाये तो शेष आठ घण्टे तो उसे ईश्वरीय याद की यात्रा में लगाने ही चाहिये। परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि मनुष्य प्रतिदिन आठ घण्टे ईश्वरीय याद में नहीं टिक पाता। शिव बाबा ने कहा है कि इसका कारण है – **अलबेलापन और आलस्य।** प्रस्तुत लेख में हम विचार करेंगे कि यह अलबेलापन और आलस्य किस-किस रूप में सामने आता है और इनका निवारण कैसे होना चाहिये।

अवकाश की कमी और थकावट का बहाना

प्राय: मनुष्य आठ घण्टे ईश्वरीय याद में स्थित न होने का बहाना यह देते हैं कि दफ़्तर में बुद्धि कार्य में व्यस्त रहती है। दफ़्तर से लौटने के बाद वे सोचते हैं कि अब तो बुद्धि सारे दिन के कार्यभार के कारण थकी हुई है, इसलिए अब तो कुछ आराम करना चाहिए अथवा गपशप लगाकर बहलना चाहिए। इस प्रकार स्वयं को ग़लत बात समझा कर वे ईश्वरीय याद पर कम ध्यान (Attention) देते हैं और अपने चार्ट में याद की यात्रा की रफ़्तार बढ़ा नहीं पाते। किन्तु वे यह नहीं सोचते कि हम यह बहाना करके वृथा ही अपना दिल खुश कर रहे हैं वर्ना तो हम अपने जन्म-जन्मान्तर के लिए स्वयं को बहुत ही घाटे में डाल रहे हैं और अपने भाग्य को लौटा रहे हैं। आठ घण्टे मनुष्य जब कार्य-व्यापार करता है तब यदि टेलीफ़ोन पर रिंग (Ring) आ जाय या कोई मिलने-जुलने वाला व्यक्ति आ जाय या जल-पान आदि का विचार पैदा हो जाय तो उस ओर भी तो वह ध्यान देता ही है। सारा समय तो मनुष्य की बुद्धि पूरी तरह कार्य-व्यापार में नहीं लगी रहती? सारा समय तो उसके सामने ग्राहक या फ़ाइल (Files) नहीं रहते? ऐसा तो नहीं होता कि घण्टे में 5-7 मिनट तो आत्मिक स्वरूप में स्थित होने का तथा ईश्वरीय याद का कार्य करना ही है। यदि हमारे दफ़्तर में किसी दिन अधिक और बहुत ही आवश्यक कार्य कुछ और आ जायें तो क्या हम उनकी ओर ध्यान नहीं देते? यदि एक बच्चा अधिक होता तो क्या आप उसकी ओर ध्यान न देते? अपनी ड्यूटी (Duty) समझकर उनको भुगताते हैं ना? तो क्या कारण है कि हम ईश्वरीय स्मृति को महत्व नहीं देते? क्या यह हमारी ड्यूटी नहीं है? क्या इससे किसी और को लाभ होगा? क्या इसके

लिए दूसरा कोई जन्म अथवा युग आयेगा? क्यों न हम ऐसा मान लें कि शिव बाबा भी एक ग्राहक हमारी दुकान पर आ जाता है जो कि हमसे केवल 5 मिनट ईश्वरीय याद रूप वस्तु मांगता है और उसके लिये हमें 5 करोड़ रुपये दे जाता है? क्यों न हम यह मान लें कि हर घण्टे में एक फाईल ईश्वरीय सरकार की भी आ जाती है जिस पर "ऐट वन्स" (At once; तुरन्त) का चिट (Chit) लगा होता है और उस फाईल में हमें अपने ही बारे में सोचना होता है, अपना ही चार्ट भरना होता है? दफ़्तर में भी वीकली रिपोर्ट (Weekly Report) या मन्थली रिपोर्ट (मासिक रिपोर्ट) तैयार करनी होती है न? तो क्यों न हम ऐसा समझकर चलें कि हर घण्टे में 5 मिनट हमें अपने बारे में भी ईश्वरीय सरकार को रिपोर्ट देनी होती है? ईश्वरीय याद से तो मनुष्य की निर्णय शक्ति और कार्य शक्ति बढ़ती है और जो कार्य साधारणत: व्यक्ति एक घण्टे में करता है, ईश्वरीय याद में रहने से वह उसे कम समय में कर लेता है। अत: ईश्वरीय याद तो व्यवहार को निपटाने में भी सहायक है।

शिव बाबा कहते हैं कि जब आप दफ़्तर में **'कलम'** का प्रयोग करते हैं तो **'कमल'** को भी साथ ही साथ याद करो और जाँच करो कि मैं कमल के समान न्यारा और अलिप्त हूँ? जब आपके सामने फाईल (File) आती है तो यह सोचो कि अब शिव बाबा मेरे **जीवन की फाईल** अथवा रिकार्ड (Record) में क्या रीमार्क (Remark) दे रहे होंगे और किस बात पर हस्ताक्षर कर रहे होंगे? जब आपको अपने कार्य-व्यापार के लिए **भाग-दौड़** करनी पड़ती हैं अथवा बुद्धि दौड़ानी पड़ती है तो यह सोचना चाहिए कि क्या हम ईश्वरीय याद रूपी यात्रा में भाग रहे हैं या नहीं? इस प्रकार, अब गफ़लत को छोड़ना चाहिए वर्ना अब इस भंभोर को तो आग लगने ही वाली है।

थकावट की माजून ईश्वरीय याद है

दफ़्तर और दुकान के कार्य के बाद यदि थकावट है तो **थकावट की तो माजून** ही "ईश्वरीय याद" है। ईश्वरीय याद तो थकावट को दूर करती है न कि थकावट को लाती है। पुनश्च, थकावट भी तभी महसूस होती है और तभी बाधक बनती है जब हम ईश्वरीय याद के महत्व को नहीं पहचानते। थकावट वाले मनुष्य को यदि अपने किसी स्नेह-पात्र या सम्बन्धी के बीमार हो जाने पर जागना पड़े तो क्या वह नहीं जागता? यदि उसे किसी आवश्यक कार्य के लिए तार आ जाय तो क्या वह नहीं जाता? क्या विद्यार्थी परीक्षा के दिन निकट आने पर रात-दिन के भेद को भूलकर, 'थकावट' शब्द के अर्थ को हल्का लेकर अपने भविष्य को सोचकर, परीक्षा के परिणाम को सामने रखकर दिल

लगाकर अथक परिश्रम नहीं करता? अतः "थकावट-थकावट" – ये शब्द उनके मुख पर आते हैं जिन्हें यह निश्चय नहीं है कि इस सुहावने संगम युग में याद की यात्रा से हमें भविष्य में 21 जन्मों के लिए ऐसा सुख मिलेगा जिसमें कभी भी किसी प्रकार की अपूर्णता न होगी। हमें स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सम्पत्ति, शान्ति सब-कुछ मिलेगा। ऐसी कोई वस्तु या कोई ऐसा सुख नहीं रहेगा जो हमको न मिले। तब हमें अपनी आजीविका कमाने के लिए भी इस प्रकार पसीना नहीं बहाना पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य इस बात को भली-भाँति समझता हो तो वह कैसे कह सकता है कि मुझे इस समय थोड़ी थकावट है, अब मुझे थोड़ी गप-शप लगानी है अथवा आराम करना है। इतनी जबर्दस्त कमाई के लिए तो उसका आराम हराम हो जाएगा। जन्म-जन्मान्तर मनुष्य ने आराम ही तो किया है और व्यापार-धन्धा ही तो किया है और अब स्वयं ही कहता है कि 'मैं गोरख-धन्धे में पड़ा हुआ हूँ।' अब सारे कल्प में यह एक अन्तिम जन्म ही तो है, जिसका शेष थोड़ा ही समय रहा है और शिव बाबा कहते हैं कि – "शेष जो कुछ वर्ष रहे हैं, इसमें केवल आठ घण्टे प्रतिदिन मुझे याद करो तो मैं 21 पीढ़ी तक आपको सम्पूर्ण स्वर्गिक सुख दूँगा।" इसमें भी शिव बाबा लौकिक धन्धा करने के लिए रोकते थोड़े ही हैं? तब क्या मनुष्य का दिमाग़ ख़राब हुआ है या माया ने उसकी मत मार दी है कि उसे यह विचार नहीं आता कि बहुत बीत गयी, अब तो थोड़े समय में से भी थोड़ा ही समय शेष है, अब तो मुझे चेतकर अपना नारायण पद बना लेना चाहिये! भक्ति मार्ग में अलबेलापन तो चल गया परन्तु अब जबकि स्वयं भगवान् आये हैं हमें खज़ाना देने के लिए तब तो अलबेलापन बहुत हानिकारक है!

मैं पुरुषार्थी हूँ; अभी सम्पूर्ण थोड़े ही हूँ?

अलबेलेपन का एक रूप यह है कि जो मनुष्य स्वरूप की तथा शिव बाबा की विस्मृति में रहता है, वह प्रायः यही सोचता है कि – "अभी तो मैं पुरुषार्थी हूँ; मैं कोई सम्पूर्ण थोड़े ही बना हूँ, अभी मुझ में कोई न कोई कमी तो होगी ही ना।" इस प्रकार उल्टा सोचकर वह अपनी सम्पूर्ण अवस्था को मानो और पीछे धकेल देता है। वह यह नहीं सोचता कि मुझे अब ही तो सम्पूर्ण बनने का लक्ष्य सामने रखकर पूरा पुरुषार्थ करना है, वर्ना सम्पूर्ण बनने के लिए कोई दूसरा समय थोड़े ही आयेगा? पुनश्च, "अलबेला" (Non-serious) व्यक्ति थोड़े ही होता है? सच्चा पुरुषार्थी तो वह है जिसे एक बार जो भूल बताई जाय, वह दोबारा न करे, अथवा जो इशारे से ही अपनी कमी को समझकर उसे पूरा करने के पुरुषार्थ में पूरी तरह लग जाय। 'पुरुषार्थ' (पुरुष+अर्थ) का तो भाव ही है – "आत्मा के लिये" अथवा 'आत्मा का हित'। जिसे आत्मा का कल्''

ध्यान में रहता है अथवा जो प्रकृति में अनासक्त होकर सदा पुरुषत्व अर्थात् आत्मा-निश्चय में रहता है, वही तो 'पुरुषार्थी' है। जो आत्मा को या आत्मा के हित को भूलकर प्रकृति की देह में फँस जाता है, वह पुरुषार्थी कैसा? क्या उसे 'पुरुषार्थी' कहना चाहिये? शिव बाबा जो आज्ञा हमें देते हैं, वह हम पुरुषों (आत्माओं) के कल्याणार्थ ही तो है और वह यह समझकर ही तो दी जाती है कि हम व्यापार या व्यवसाय करने वाले पुरुष हैं। तभी तो शिव बाबा हमें केवल आठ ही घण्टे ईश्वरीय याद में रहने के लिए कहते हैं, न कि 16 घण्टे। क्या शिव बाबा नहीं जानते कि हमें व्यापार या दफ़्तर का कार्य या घर का कार्य करना होता है? यदि यह सब जानते हुए भी वे हमें आठ ही घण्टे याद में रहने के लिए कहते हैं और फिर भी हम नहीं रहते तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो हम ऐसा मानते हैं कि हम शिव बाबा से भी अधिक समझदार हैं या हम इतने अलबेले हैं कि हमें उनकी आज्ञा अथवा अपने भविष्य की परवाह नहीं! अत: अब 'पुरुषार्थी' के भी वास्तविक अर्थ को जानकर हमें ठीक पुरुषार्थ करना चाहिये।

३. रीस करते हैं, रेस (Race) नहीं करते

कई बार मनुष्य देखता है कि – "उससे अधिक मान्यता-प्राप्त ज्ञानवान् व्यक्ति में, जिसको ज्ञान क्षेत्र में 'महारथी' माना जाता है, उसमें भी फलाँ कमी है। वह भी आठ घण्टे ईश्वरीय याद रूपी यात्रा में नहीं रह पाता। तो वह सोचता है कि "मैं तो ज्ञान-क्षेत्र में उससे छोटा हूँ, अथवा पीछे आने वालों में से हूँ, अत: यदि मुझमें फलाँ कमी है तो क्या बात है?" वह कहता है कि – "बड़े भी ऐसे करते हैं तो हम तो अभी छोटे हैं, हमने यदि ऐसा किया तो फिर क्या हुआ?" वह यह नहीं सोचता कि बड़ों में बड़ाई इस बात की नहीं कि उनमें भी कमी है, उसमें तो वे भी छोटे हैं और उसे तो वे भी निकालने की कोशिश कर रहे हैं अथवा जिस कमी के कारण उनमें भी अभी छोटापन है, उसे देखकर मुझे स्वयं से उसे निकाल देना चाहिये; उसके बारे में और ही अलबेला थोड़े ही बनना चाहिये? जबकि बड़ों में भी यह कमी अथवा बुराई हमारी आंखों में खटकती है तो हममें यदि यह रहेगी तो दूसरों को भी तो हमारी यह कमी अखरेगी? फिर, क्या हमने दूसरों की बुराई का अनुकरण (Following) करके अपना रजिस्टर ख़राब करना है या हमने अपने दैवी माता-पिता, जोकि हमसे आगे हैं, उन्हें देखना है तथा निराकार परमपिता परमात्मा शिव, जो ही एकमात्र सम्पूर्ण आत्मा हैं, उन्हें देखकर अपने जीवन को आगे बढ़ाना है? अपने से अधिक मान्यता-प्राप्त व्यक्तियों से अथवा बड़ों से हमें क्या ग्रहण करना है—बुराई या बड़ाई? यदि हमें उनसे भी कोई अच्छाई ही लेकर अपनी कलाओं

को बढ़ाना है तो हमें उनकी बुराई को देखना ही नहीं चाहिये बल्कि उनसे भी रेस (Race) करके आगे बढ़ने का ही शुभ संकल्प सदा मन में रखना चाहिये।

इसी प्रकार, जहाँ तक ईश्वरीय स्मृति का तथा अव्यक्त अवस्था को धारण करने का प्रश्न है, उसमें भी हमें अपने व्यक्तिगत (Individual) पुरुषार्थ पर सदा ध्यान देना चाहिये और अपने रजिस्टर को सदा सामने रखना चाहिये। हमें सदा ईश्वरीय याद का अपना चार्ट बढ़ाने के पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिये और दूसरों को भी नम्रता-पूर्वक इस बारे में सचेत करना चाहिये, न कि उनको घाटा करते देख अपना भी घाटा करना चाहिये।

४. मेरी नींव तो ठीक है, समय आने पर सामना कर लूँगा

कई बार मनुष्य यह सोचता है कि – "मेरी बुद्धि में ज्ञान की नींव तो ठीक और मज़बूत है, मैं ज्ञान के सभी राज़ों को समझ तो गया ही हूँ। मैं सब कायदे-कानून जानता तो हूँ ही, समय आने पर मैं सब ठीक कर लूँगा और अपनी कमी भर लूँगा।" वास्तव में यह भी मनुष्य का उल्टा संकल्प है। कमी को भरने का और कौनसा समय आयेगा? कौनसी घड़ी की हमें इन्तज़ार है? जो घड़ी गुज़र गई क्या वह फिर आयेगी? क्या हमें अपने जीवन की घड़ियों पर भरोसा है? भला बताओ तो हमारे जीवन की कितनी घड़ियाँ बाकी हैं? यदि आज हमारे प्राण निकल जायें, किसी दुर्घटना से हमें देह त्यागनी पड़े तो हमारी क्या गति होगी?

फिर, इस संगम-युगी जीवन में हम जितने समय से लेकर पवित्र रह रहे होंगे, जितना अधिक समय से हम दिव्य नियमों का पालन करते आये होंगे, उस समय का भी तो हमें फल मिलेगा। ऐसा थोड़े ही है कि जो दस वर्ष से पवित्र रह रहा होगा और जो आज से पवित्र रहने लगेगा, वे दोनों बराबर हैं? जिसने दस वर्षों में विभिन्न परिस्थितियों का ईश्वरीय नियम-पूर्वक सामना किया होगा और विघ्नों को ज्ञान-युक्त रीति से पार किया होगा और जो आज से ही पुरुषार्थ शुरु कर रहा है, क्या उन दोनों को एक ही फल मिलेगा? अत: यह कहना कि "हमारी बुद्धि में ज्ञान का बीज तो पड़ा ही हुआ है, हमारे निश्चय की नींव तो मज़बूत है, हमारी अमुक-अमुक परिस्थिति ठीक हो जाए तो हम पुरुषार्थ करने लग पड़ेंगे" – यह उल्टा वचन है। बहुत काल से अभ्यास करते आने पर ही योग की अवस्था भी परिपक्व होती है वर्ना अवस्था कच्ची रह जायेगी और फिर पर विनाशकाल आ पहुँचेगा, तब कुछ भी न बन सकेगा!

५. केवल मैं थोड़े ही हूँ, और भी तो हैं!

हूँ, ऐसे तो बहुत-से हैं। तो जो उनका हाल होगा, वह मेरा भी होगा। अभी सभी की अवस्था को देखते हुए मैं समझता हूँ कि अभी पुरुषार्थ के लिए कुछ समय रहा हुआ है।'' इस प्रकार सोचकर मनुष्य अपनी ज़िम्मेवारी को हल्का कर देता है। 'अलबेलेपन' का भावार्थ ही वास्तव में ''ज़िम्मेवारी को न समझना'' है। जब मनुष्य को कोई ईश्वरीय सेवा सौंपी जाती है तब भी वह यह कहता है कि – ''मेरे ऊपर यह कार्य क्यों रखा है, दूसरे सब कहाँ गए हैं; क्या केवल मैं ही दिखाई देता हूँ?'' वह यह नहीं सोचता कि ''सबने मुझमें ही इस कार्य के लिये आशा रखी है, अथवा चलो, मेरा भाग्य ऊंचा बन जायगा,'' बल्कि वह मायावी संकल्प लाकर अपनी बुद्धि को भी ख़राब करता है और भाग्य भी बिगाड़ देता है। वह **आलस्य** के संकल्प को न पहचान कर मिलते भाग्य को टाल देता है!

इसी प्रकार, मनुष्य यह नहीं सोचता कि – ''आठ घण्टे याद की यात्रा करने अथवा अव्यक्त अवस्था में टिकने का जो शिव बाबा का आदेश है वह व्यक्तिगत (Individually) मेरे लिए है। दूसरे उसका पालन करते हैं या नहीं करते, इस बात की देखरेख करना मेरा काम नहीं है। मैं क्यों दूसरों की नकल (Copy) करूँ, क्यों न मैं इस फ़रमान का पालन करके दिखाऊं कि दूसरे मुझसे यह गुण लें? मैंने शिव बाबा की आज्ञा माननी है या मनुष्यों को देखना है?'' इस प्रकार यदि वह ठीक तरह से सोचे तो अपने अलबेलेपन और आलस्य के संस्कार को निकाल कर बहुत ही उन्नति कर सकता है।

इसी प्रकार, ईश्वरीय सेवा के बारे में भी मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिये कि – ''अच्छा ये जो कुछ कर रहे हैं; उन्हें करने दो। मेरे ऊपर कोई ज़िम्मेवारी थोड़े ही है, या इन्होंने मुझसे राय थोड़े ही ली है, या मुझे कहा थोड़े ही है?'' मनुष्य को समझना चाहिए कि **जो व्यक्ति किसी के कहने से करता है उसे आधा फल मिलता है, उसका आधा फल कहने वाले को मिल जाता है।** पुनश्च, इसमें किसी के कहने की क्या बात है, यह तो ''जो करेगा सो पायेगा'' की बात है। करने का निमन्त्रण तो सभी को ही है। करना तो अपना कर्त्तव्य ही है। हाँ, बड़ों को सन्मान देकर और उनकी स्वीकृति से करना है, परन्तु यह कहना कि – ''जो कुछ ये करेंगे, मैं उस सबमें राज़ी हूँ,'' यह तो अन्दर नाराज़गी का होना प्रगट करता है। **नाराज़ होना अथवा रूठना तो गोया अपनी तकदीर से रूठना है।** हरेक को अपना भाग्य बनाने का विचार करना चाहिए और उसके लिए चान्स (Chance) लेना चाहिए न कि रूठकर एक किनारे पर बैठ जाना चाहिए या दूसरों के स्वभाव से टकरा कर आलस्य और अलबेलेपन का हार गले में डाल लेना चाहिए।

६. "यह सहज मार्ग है" – इसका सही अर्थ

शिव बाबा ने हमें अनेक बार समझाया है कि यह राजयोग मार्ग 'सहज' है। कई लोग कम समझ के कारण इस कथन का यह भाव ले लेते हैं कि हमें किसी भी कठिनाई में पड़ना ही नहीं चाहिए। यदि हमें कोई ईश्वरीय सेवा करनी पड़े जिसमें कि भूख-प्यास सहन करनी पड़े, नींद को थोड़ा त्यागना पड़े, आर्थिक कठिनाइयों में से गुज़रना पड़े तथा सांसारिक सुविधाओं के बिना कुछ समय काम करना पड़े अथवा किसी थकावट की अवस्था में भी कुछ और कार्य करना पड़े तो वे समझते हैं कि कार्य ही नहीं करना है, क्योंकि "हमारा तो सहज मार्ग है, हमारा कोई हठयोग मार्ग थोड़े ही है।" इसी तरह ईश्वरीय याद की यात्रा के बारे में भी वे सोचते हैं कि – "ठीक प्रकार से अवकाश और सुविधा मिले, तब ही वह सम्भव है।" परन्तु वास्तव में कठिनाइयों का सामना करने से ही आत्मा में बल भरता है। सहज मार्ग का भाव तो यह है कि ईश्वरीय याद के लिए हमें जान-बूझकर भूखे नहीं रहना या प्राणायाम तथा हठ-क्रियाएं नहीं करनी, परन्तु इसका यह तो अर्थ नहीं है कि सेवा के कार्यों में आराम-पसन्द बन जाना है? यदि हम यहाँ ही सुख-सुविधाएं और आराम भोगते जायेंगे तो भविष्य में हमें प्रारब्ध क्या मिलेगी? यहाँ तो हमें त्याग और मेहनती जीवन व्यतीत करना है। इस बात को ध्यान में रखते हुए हमें हर हालत में ईश्वरीय याद की यात्रा में रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि 'अमुक समस्या सुलझेगी, तभी हम ईश्वरीय याद में रह सकेंगे अथवा अमुक सुविधा मिलेगी तभी ईश्वरीय सेवा हो सकेगी।' ऐसा सोचना भी अलबेलापन और आलस्य का ही एक सूक्ष्म रूप है।

यदि शरीर को कोई रोग है या अन्य ऐसा कोई कारण है तो भी कोशिश करनी चाहिए कि हम ईश्वरीय याद की यात्रा पर रहें और तन से नहीं तो मन से, धन से, वचन से और थोड़ा-कुछ कर्म से भी ईश्वरीय सेवा करते ही रहें, क्योंकि क्या पता है आगे चलकर और कोई रोग, कमज़ोरी, दुर्घटना या कोई कठिनाई नहीं होगी? हर प्रकार से अपने जीवन को सफल करने का ही यत्न करना चाहिए। अब अलबेला बनने तथा आलस्य में पड़े रहने का समय नहीं है, नहीं है!!



नियम पालन और सिद्धि

'योग' शब्द ढ़ाई अक्षरों का बना है परन्तु इसका सही अभ्यास करने से मनुष्य को ढ़ाई हज़ार वर्षों के लिए सर्वांगीण, सम्पूर्ण और स्थायी सुख एवं शान्ति की प्राप्ति होती है। यह कहना अयुक्त न होगा कि योग ही मात्र ऐसा पुरुषार्थ है जिस द्वारा सभी खज़ानों के द्वार और सभी शक्तियों के भण्डार मनुष्य के लिए सहज ही खुल ही जाते हैं। योग-स्थित आत्मा के संकल्प बड़े शक्तिशाली, अचूक और कल्याणकारी होते हैं। उनके सामने प्रकृति की शक्तियाँ नतमस्तक होती हैं।

प्रश्न उठ सकता है कि योग द्वारा सब सिद्धियाँ कैसे प्राप्त होती हैं। इसको जानने के लिए यह मालूम होना चाहिये कि योग रूपी पुरुषार्थ में अनेक प्रकार के सूक्ष्म और स्थूल पुरुषार्थ समाये होते हैं और उनमें से हरेक पुरुषार्थ किसी-न-किसी प्रकार की सिद्धि को देने वाला होता है। यह प्राय: सर्व विदित है कि योगी को 1. सत्य, 2. अहिंसा, 3. ब्रह्मचर्य, 4. अपरिग्रह अथवा अनासक्ति, 5. शुद्धि अथवा शुचि, 6. सहनशीलता, 7. सन्तोष, 8. त्याग, 9. नम्रता, 10. मधुरता इत्यादि का पालन करना पड़ता है। और इनके अतिरिक्त वह 11. परचिन्तन और व्यर्थ चिन्तन को छोड़कर, 12. ममता और मोह से मुख मोड़ता है, 13. वासना और विकार पर विजय प्राप्त करता है, 14. देहं से न्यारा होता है, 15. परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ता है और 16. मन को सब ओर से हटाकर, इस संसार से भी निकालकर एक परमात्मा ही पर स्थिर करके उनमें टिकाता है। सबके कल्याण की बात सोचते हुए सेवा में रहता है। इस प्रकार के वह अनेकानेक पुरुषार्थ करता है जिनमें से केवल कुछेक के नाम हमने गिनाये हैं। अब हम नीचे यह बतायेंगे कि किस पुरुषार्थ से क्या सिद्धि होती है —

1. सत्य'

जो बात अथवा जो वस्तु हो, उसके बारे में कहना कि वह "है ही नहीं" अथवा जो ग़लती, भूल अथवा घटना हुई हो, उसके बारे में कहना कि वह "हुई नहीं" — यह असत्य है। इस प्रकार जो घटना न घटी हो अथवा जो बात या चीज़ हो ही न, उसके बारे में कहना कि 'वह है' — यह भी असत्य है। इस प्रकार का असत्य कथन मनुष्य प्राय: भय अथवा स्वार्थ के वश ही किया करता है। अत: सत्य बोलने से मनुष्य को अभय एवं अचल अवस्था की ओर अपने वचन के सत्य की सिद्धि की प्राप्ति होती है अर्थात् उसके बोल वरदान रूप सिद्ध होते हैं। अत: जब हम पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्य बोलते हैं तो हम 'वरदान मूर्त' बनते हैं। 'मैं आत्मा हूँ, देह नहीं' 'परमात्मा

परमधाम का वासी है सर्वव्यापक नहीं — अध्यात्म सम्बन्धी ऐसे सत्य बोलना पारमार्थिक सत्य कहलाता है और व्यवहार में जो बात जैसी हो, उसे निश्छल रूप से, सरलतापूर्वक वैसे ही कहना व्यावहारिक सत्य है।' इन दोनों प्रकार के सत्यों से मनुष्य की अवस्था सतोप्रधान होने लगती है, वह सत्य स्वरूप परमात्मा को अधिकाधिक निकटता से जानता है, वह सतयुग के देवताओं-तुल्य अवस्था प्राप्त करने लगता है और उसके वचन सत्य सिद्ध होने लगते हैं। आज इस कलिकाल में असत्यता का ही प्रचलन है; अतः सत्य बोलने वाले को बहुत कष्ट सहन करने पड़ते हैं, यहाँ तक कि उसका जीना ही मुश्किल हो जाता है। फिर, ऐसे भी अवसर आते हैं जब सत्य बोलने पर किसी दूसरे के परमार्थ में भी विघ्न पड़ सकता है, यहाँ तक कि किसी की जान भी जा सकती है। अतः कई बार सत्य के पथ पर जाने वाले के लिए संघर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु मनुष्य को इस बात का सतत प्रयत्न करना चाहिये कि वह सत्य ही को ग्रहण करे, सत्यता ही को व्यवहार में लाये और जब तक कि किसी पारमार्थिक कल्याण की अथवा किसी के जीवित रहने की विषम परिस्थिति उपस्थित न हो, सत्य ही बोले। इससे ही सत्य की प्रत्यक्षता होगी, सतयुग आएगा, सतोगुण प्रधान होगा और जो कहेंगे, वह हो जाएगा।

2. अहिंसा

शत्रुता, घृणा, द्वेष, स्वार्थ और क्रोध के वशीभूत होकर किसी प्राणी के प्राण हरना, अपना अथवा किसी अन्य जीव का घात करना तथा स्वयं को या अन्य किसी को कष्ट, दुःख एवं अशान्ति पहुँचाना न्यूनाधिक हिंसा करना है। अतः जो इनको छोड़कर प्रेम, स्नेह, सौहार्द, सहानुभूति, सद्भावना, स-अस्तित्व और सर्व-उत्कर्ष के भाव में स्थित होता है उसे भी इसके फल के रूप में दूसरों को स्नेह, सद्भाव, सामीप्य, सद्भावना इत्यादि की प्राप्ति होती है। जो काम द्वारा कुटाराघात, क्रोध द्वारा दाह, लोभ द्वारा लूट आदि कर्मों में पड़कर दूसरे का अकल्याण करना छोड़ देता है, वही सबका स्नेहभागी बनता है, सबके मन को जीतता है अथवा उनकी स्वेच्छा से उन पर शासन करता है। अतः ऐसी अहिंसा के बल से ही सुख-शान्ति पूर्वक, शत्रु रहित, आक्रमण रहित, दुःख रहित स्वराज्य की प्राप्ति होती है। ऐसी अहिंसा से ही मनुष्य देवता बनता है, देव युग की स्थापना के कार्य में सफ़ल होता है और दैवी स्वराज्य का अधिकारी बनता है। इसी से ही सभी जीव-प्राणी उसे प्यार देने और उसका प्यार पाने को उत्सुक रहते हैं क्योंकि उसका प्यार निःस्वार्थ और कल्याणमय होता है। हम मन, वचन, और कर्म से जितना-जितना इस प्रकार अहिंसा का पालन करेंगे, उतना-उतना हम मन-पसन्द और लोक-पसन्द होते हुए प्रभु-पसन्द बनेंगे और इसी के आधार पर हम भविष्य का अटल, अखण्ड,

निर्विघ्न और अति सुखकारी स्वराज्य प्राप्त करेंगे।

3. ब्रह्मचर्य

शारीरिक सौन्दर्य के आकर्षण का, रूप और लावण्य का, कोमलता और कोमुकता का दास न बनना ही ब्रह्मचर्य का पालन करना है। यौवन में भी, एक शिशु के समान मन के निर्दोष रहने और दृष्टि एवं वृत्ति के शुद्ध रहने ही को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। गृहस्थ को भी जो आश्रम के समान बनाकर इस अपवित्र संसार रूपी कीचड़ में कमल के समान रहता है, वही ब्रह्मचारी है, जो अपने तथा अन्य किसी देह पर आसक्त नहीं है, बल्कि स्वयं को ब्रह्मधाम से आया हुआ एक आत्मा मानकर सारी चर्या करता है, वही मानों ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। इस प्रकार के आचरण से जो अपनी शक्ति का संचय करते हुए अपनी तथा अन्य आत्माओं की उन्नति में लगा रहता है, वही ही उत्तम ब्रह्मचारी है। मन में निर्दोष होने के कारण उसकी मासूमियत दूसरों को प्रभावित करती है। रूप, लावण्य के आकर्षण को जीतने के परिणाम-स्वरूप वह आत्मा स्वरूप में स्थित होता है, ईश्वरीय लव (Love) में लीन रहता है और भविष्य से आया हुआ मानकर विचरने के प्रभाव स्वरूप लोगों को उसकी निकटता में ब्रह्मलोक की शान्ति, एकान्तता और प्रकाश का अनुभव होता है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप कर्मेन्द्रियाँ उसकी दासी हो जाती हैं और उसे स्थाई स्वास्थ्य तथा सात्विक सुख की प्राप्ति होती है। शक्ति का संगठन करने के कारण वह इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह मृत्यु को भी जीतकर अमर देवता बन जाता है। युवावस्था में भी मासूम शिशु की तरह स्थिति बनाये रहने से उसका शैशव और यौवन चिरस्थायी रहता है और उसे बुढ़ापा और व्याधि अपने अधीन नहीं कर सकते। अत: हमें मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य ही का पालन करना चाहिये क्योंकि इस द्वारा ही सतयुगी दैवी सृष्टि की अथवा अमरलोक की एवं जितेन्द्रिय देवताओं की रूप-लावण्य, स्वास्थ्य-सुख, सम्पदा और सदा बहार वाली दुनिया की स्थापना हो सकती है और हम उसमें जाने के अधिकारी बन सकते हैं। यहाँ ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही हमारे लिए ब्रह्मलोक के द्वार खुल सकते हैं। इन्द्रियों को जीतने से अथवा इन्द्रियों से परे स्थिति होने से ही हम इन्द्रप्रस्थ के मालिक बन सकते हैं।

4. अनासक्ति अथवा अपरिग्रह

किसी भी पदार्थ, वस्तु अथवा व्यक्ति में लगाव न होना, उस पर आश्रित अथवा आधारित न होना, उसके न होने पर आकुल-व्याकुल न होना तथा स्वप्न और स्मृति मात्र

में भी उसके प्रति खिंचाव अथवा उसके लिए तृष्णा अनुभव न करना ही अनासक्ति है। ऐसी अनासक्ति वाला ही उपराम चित्त होता है। उसमें वैराग्य की जैसी घृणा नहीं भरी होती, बल्कि समझ और समझ के आधार पर मनुष्य का उससे अपनत्व, ममत्व या उसके प्रति आकुलता नहीं होती। इस प्रकार अनासक्त हो इधर-उधर सब ओर से लगाव मिटाने वाले का मन ही, जहाँ वह लगाना चाहे, लगा सकता है अर्थात् अनेक ओर से हटाने के कारण उसे एकाग्रता प्राप्त होती है। आकर्षणों को जीतने से ही उनके व्यक्तित्व में एक चुम्बकीय आकर्षण आता है अर्थात् वे आकर्षणमूर्त्त बनते हैं। अनेक प्रकार के रसों की तृष्णा को जीतने से ही सब प्रकार के रसों की स्वत: ही प्राप्ति होती है और जीवन नीरस की बजाय सरस बनता है। अर्थात् मनुष्य ईश्वरीय स्मृति द्वारा आनन्द रस प्राप्त करता है। मेरा-मेरा मिटाने से ही सब-कुछ मेरा हो जाता है और हर व्यक्ति मेरा ही बनना चाहता है। ममत्व को छोड़ने से ही सर्वस्व की प्राप्ति होती है। स्मृति द्वारा भी सब प्रकार की आसक्ति को भूलने से अपनी (आत्मा की) याद टिक सकती है। चीज़ों को छोड़ने से ही मन में हल्कापन और वृत्ति में विराम आता है। अत: हमें अनासक्ति और अपरिग्रह को पूर्ण रूप से धारण करना चाहिए, क्योंकि यही प्रकृति को दासी बनाने का दिव्य उपाय है। अनासक्ति वाले को कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता और वह अशान्ति, अकिंचन भाव और अधीनता से ऊपर उठ जाता है। इस संसार के पदार्थों में अनासक्त होने वाले को सहज ही स्वर्ग की सर्व सम्पदा प्राप्त होती है और यहाँ भी सम्पत्ति और सिद्धि उसके अंग-संग रहना चाहते हैं।

5. शौच अथवा शुद्धि

जल स्नान द्वारा शरीर की, दैवी गुणों की धारणा द्वारा मन की, ज्ञान द्वारा बुद्धि की और योग द्वारा संस्कारों की शुद्धि होती है। सत्संग द्वारा विचार की और श्रेष्ठ लक्ष्य द्वारा मनुष्य के लक्षणों में शुद्धि आती है। तन की शुद्धि से तन्दुरुस्ती,, मन शुद्धि से मन-मौज़, बुद्धि से ध्रुव स्मृति और संस्कारों की शुद्धि से सात्विकता तथा इन सबकी शुद्धि से अतिन्द्रिय सुख का अपार खज़ाना प्राप्त होता है। वचन और कर्मों की शुद्धि, संकल्प की शुद्धि पर आधारित है, संकल्प की शुद्धि शुद्ध अन्न, शुद्ध संस्कार, शुद्ध अध्ययन इत्यादि पर आश्रित है और जैसे कि पहले बताया गया है आहार, व्यवहार, विचार और संस्कार के शुद्धिकरण के लिए योग ज़रूरी है। शुद्ध होने से योग लगता है और योग लगने से शुद्धि आती है और इन दोनों से आत्म-बल, उत्साह, उमंग और खुशी का इतना खज़ाना मिलता है कि – मनुष्य इन द्वारा संसार का हर कार्य कर सकता है। अत: मनुष्य को सब प्रकार से शुद्धि का पालन करना चाहिए, क्योंकि शुद्धि अथवा पवित्रता

द्वारा ही परम-पवित्र परमात्मा का सामीप्य प्राप्त होता है। परलोक गमन होता है और पवित्र सतयुगी सृष्टि में पवित्र जीवन और पवित्र स्वराज्य पद की प्राप्ति होती है। पवित्रता ही मनुष्य को महान् बनाती है और उसे सब सुखों की अधिकाधिक प्राप्ति कराती है, जबकि शारीरिक अपवित्रता-रोग, मानसिक अपवित्रता, अशान्ति एवं चंचलता, बौद्धिक अपवित्रता प्रभु से वैपरीत्य भाव पैदा करते हैं और हर प्रकार के कष्ट एवं क्लेश का कारण बनते हैं।

शारीरिक सौन्दर्य के आकर्षण का, रूप और लावण्य का, कोमलता और कौमुकता का दास न बनना ही ब्रह्मचर्य का पालन करना है। यौवन में भी, एक शिशु के समान मन के निर्दोष रहने और दृष्टि एवं वृत्ति के शुद्ध रहने ही को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

संस्कार परिवर्तन द्वारा विश्व परिवर्तन

आज सभी लोग चाहते हैं कि संसार में सुख और शान्ति हो और लोगों का आचरण महान तथा व्यवहार सात्विक एवं सद्भावनायुक्त हो। परंतु सभी की ये इच्छा पूर्ण नहीं हो पा रही है। क्योंकि नर-नारी के संस्कारों में परिवर्तन नहीं आ रहा है। मनुष्य के संस्कार अथवा उसका अर्ध-चेतन मन (Subconsious Mind) ही उसके विचार और व्यवहार का प्रवर्तक होता है। वही उसकी दृष्टि-वृत्ति को तामसिक, राजसिक या सात्विक बनाता है और उसके कर्मों को महानता या निकृष्टता की श्रेणी में ले जाता है। मनुष्य के जैसे संस्कार हों वैसा ही वह मनुष्य अर्थात् उसका व्यक्तित्व हुआ करता है। अत: संस्कारों को बदलना सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है। **जन-जन के संस्कारों को बदलने से ही संसार को बदला जा सकता है। जन-जन के संस्कार अत्यंत निर्मल हों तो युग का नाम 'सतयुग' और यदि मलीन एवं हीन हों तो युग का नाम 'कलियुग' हुआ करता है। अतएव संस्कारों को बदलना ही युग को बदलना है।**

हमारे कर्मों की पुनरावृत्ति हमारे संकल्पों का निर्माण करती है और हमारे कर्म, हमारी चेतना से ही संप्रेषित होते हैं। अत: संस्कारों को बदलने के लिए चेतना (Consciousness) और (Awareness) को बदलना ज़रूरी है। यदि हमारी चेतना देह-भान से रंगी हुई हो तो हमारे कर्म, हमारी स्थिति को दिनोंदिन निम्न स्तर के बनाते जाते हैं और यदि हमारी चेतना आत्मा के ज्ञान से रंगी हुई हो तो हमारे कर्म महान बन जाते हैं और तदनुसार हमारे संस्कार भी पवित्र, निर्विकार और दिव्य होते हैं। अत: आज आत्म चेतस् (Soul-consciousness) की ज़रूरत है।

दूसरे शब्दों में हम ये कह सकते हैं कि हमारे संस्कार हमारे पूर्व कर्मों की सुषुप्त संस्मृतियाँ (Dormant Memories) हैं उनके परिवर्तन के लिए अब उनका परिवर्तन करने वाली स्मृति की आवश्यकता है। इस स्मृति को ही हम 'ईश्वरीय स्मृति', 'आत्मा के स्वरूप की स्मृति' या 'अपने लक्ष्य की स्मृति' कहते हैं। ये तीन स्मृतियाँ ही हमारी दृष्टि, वृत्ति और कृति को पवित्र बनाते हुए हमारी सुषुप्त स्मृतियों तक पहुँचकर उनका भी शुद्धीकरण कर देती हैं। यही नये संस्कारों की रचना की प्रक्रिया है।

यूं तो हरेक मनुष्य चाहता है कि वो महान बने और सुख तथा शान्ति को प्राप्त करे। परंतु संस्कार बदलने के लिए जिस पुरुषार्थ की आवश्यकता है उसके लिए वह दृढ़ संकल्प नहीं कर पाता और टाल-मटोल करता रहता है, बहाने बनाता रहता है, परिस्थितियों

की दुहाई देता रहता है और इस प्रकार अपनी शक्तियों को क्षीण करते हुए दिनोंदिन अपने विकर्मों का बोझ और बढ़ाते हुए दलदल में गहरा धंसता जाता है। इस पर भी यदि कोई उसे निकलने का सहयोग देना चाहे तो उसकी भी वह बात नहीं मानता और सहयोग नहीं लेता। सो सबसे बड़ी विडंबना है कि मनुष्य चाहता कुछ और है और करता उसके विपरीत है। इसलिए आज सबसे पहले इस बात की आवश्यकता है कि आलस्य, अलबेलापन, बहानेबाजी, और मज़बूरियों का आलाप करना छोड़कर मनुष्य पुरुषार्थ में तत्पर हो जाए और संस्कारों को बदलने के लिए दृढ़ संकल्प करते हुए पवित्रता, आनंद, शान्ति एवं शक्ति देने वाले योग की साधना में लग जाए। इसमें उसका अपना ही भला है और संसार का भी क्योंकि उसके अपने संस्कार बदलने से यह संसार बदलेगा।

हमारे कर्मों की पुनरावृत्ति हमारे संकल्पों का निर्माण करती है और हमारे कर्म, हमारी चेतना से ही संप्रेषित होते हैं। अतः संस्कारों को बदलने के लिए चेतना (Consciousness) और (Awareness) को बदलना ज़रूरी है।

निश्चय-बुद्धि और स्थिर-बुद्धि

मनुष्य से अकर्त्तव्य अथवा भूल दो कारणों से होती है: भूल का या तो यह कारण होता है कि मनुष्य की बुद्धि समय पर यह नहीं जान सकती कि जो कर्म वह कर रहा है अथवा करना चाहता है वह कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य। दूसरे, यदि उसको मालूम हो भी जाय कि अमुक कर्म वास्तव में अकर्त्तव्य है तो उसकी बुद्धि डोल जाती है, स्थिर नहीं रहती। डोलने का अर्थ यह है कि वह मनुष्य अपने ही निर्णय में संशय करने लगता है अथवा दृढ़तापूर्वक तथा डटकर खड़ा नहीं हो सकता वल्कि मान-अपमान या लोक-लाज इत्यादि की भावना के वश होकर वह अपने विवेक का हनन कर देता है।

मान लीजिए, किसी मनुष्य को यह मालूम हो गया है कि विकारी मनुष्य के हाथ से बनाया हुआ भोजन मन पर बुरा प्रभाव डालता है। परन्तु जब वह मनुष्य किन्हीं विकारी सम्बन्धियों के पास जाकर ठहरता है तो उसके मन में इस प्रकार संशय उठने लगते हैं कि – "यह खाने से क्या हानि हो जायेगी? जबकि मैं बाज़ार से दूध, मिश्री, औषधि इत्यादि अन्यान्य वस्तुएँ ले लेता हूँ तो खाना खाने से क्या अन्तर पड़ जायेगा?" बस, इस प्रकार संशय हो जाने से वह मनुष्य भगवान् का हाथ छोड़ देता है और अकर्त्तव्य कर बैठता है और भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन के कारण दु:ख का भागी बन जाता है। इसलिए ही कहा गया है कि 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् संशय करने वाले मनुष्य का अधोपतन होता है।

बुद्धि की दूसरी स्थिति यह है कि मनुष्य लोक-लाज से घबराता है। वह सोचता है— "यदि मैं इन द्वारा भेंट किया गया खाना न खाऊंगा तो ये लोग नाराज़ हो जायेंगे, मेरे इस व्यवहार को बुरा मानेंगे, वे मुझसे सम्बन्ध तोड़ देंगे और मैं इनको ज्ञान भी नहीं सुना सकूंगा। इन बेचारों को क्या मालूम कि मैं कैसा ज्ञान धारण कर रहा हूँ? जब तक इनको मालूम न हो जाय तब तक तो मुझे खाना ही पड़ेगा। यदि ऐसा 'न' करूँगा तो यह मेरी बात समझेंगे ही नहीं।" इस प्रकार उनका चित्त डोल जाता है, वह अपनी दृढ़ता को छोड़कर, दैहिक सम्बन्धियों के प्रभाव में आ जाता है। ऐसे मनुष्य को 'अस्थिर बुद्धि' कहा जाता है। यह आत्मा की निर्बलता, निश्चय की कमी और बुद्धि के व्यभिचारीपन के लक्षण हैं जिनके कारण ही वह व्यक्ति कल्याणकारी परमात्मा की आज्ञा का भी उल्लंघन कर देता है और उसके परिणाम को भी गम्भीरतापूर्वक नहीं सोचता। वह मनुष्यों से सम्बन्ध जोड़े रखने के लिए परमात्मा से सम्बन्ध तोड़ने को झट तैयार हो जाता है।

ऊपर, खाने के बारे में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की जो चर्चा की गई है, वह दूसरे कर्मों के बारे में भी लागू होती है। अस्थिर बुद्धि वाले मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकते

निश्चय-बुद्धि अथवा स्थिर-बुद्धि वाला मनुष्य वह है जिसकी बुद्धि ठीक निर्णय दे देती है और जो उस निर्णय पर दृढ़तापूर्वक अर्थात् अडोल मन से टिका रहता है। बुद्धि के इस सद्विवेक के लिए ईश्वर द्वारा प्राप्त ज्ञान और ईश्वरीय योग की आवश्यकता होती है। सभी दु:खों की निवृत्ति के लिए अकर्त्तव्य की निवृत्ति आवश्यक है, अकर्त्तव्य की निवृत्ति के लिए परमात्मा की मार्ग-प्रदर्शना की आवश्यकता है और उसके लिए योग ज़रूरी है क्योंकि योगयुक्त मनुष्य ही परमात्मा की प्रेरणाओं को पकड़ पाता है।

परमपिता परमात्मा तो सदा-स्थिर अर्थात् एकरस हैं। उनका सहारा लेने वाले अथवा उनसे बुद्धि का योग लगाने वाले मनुष्य का चित्त डोलता नहीं है। इसी प्रकार, ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करने वाला मनुष्य भी एकरस अवस्था में ही रहता है। वह इस सृष्टि-रूपी विराट नाटक के भेद को जानता है। वह हर वृतान्त और हर घटना को इस बने-बनाये विराट नाटक की एक नूँध (पूर्व-निश्चित चीज) मानकर, स्वयं साक्षी होकर इसे गुज़ार देता है क्योंकि वह जानता है कि इस सृष्टि-लीला में सदा एक ही पार्ट नहीं चलता और इस नाटक में होने वाले किसी भी वृतान्त को टाला नहीं जा सकता क्योंकि "बनी-बनाई ही बन रही है", अत: जबकि सब कुछ भावी के अनुसार ही हो रहा है तो हर्ष और शोक किस बात का और क्यों किया जाय? यह रहस्य जान लेने पर कि हर एक मनुष्य इस पूर्व-निश्चित नाटक में एक पार्टधारी अथवा निमित्त मात्र है, उसका मन अडोल, बुद्धि स्थिर और अवस्था एकरस हो जाती है।

जब किसी मनुष्य के सामने संशय, लोक-लाज अथवा हर्ष-शोक की परिस्थिति आ जाती है तब उसे यह सोचना चाहिए कि "अब इस विराट सृष्टि-नाटक की शूटिंग (Shooting) हो रही है अर्थात् इसकी फिल्म (Film) बन रही है, अत: मुझे सावधान रहना चाहिए।" जब कोई मनुष्य फोटो (छायाचित्र) खिंचवाने के लिए बैठता है तो वह खूब तैयार हो कर बैठता है ताकि उसकी फोटो अच्छी निकले। वह उस समय हिलता-जुलता नहीं है बल्कि स्थिर रहता है, हर्षित-मुख होकर बैठता है और कोई ऐसी हरकत नहीं करता कि जिससे उसकी फिल्म खराब हो जाय क्योंकि एक बार खराब शूटिंग हो जाने से उस फिल्म में परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी प्रकार, यह सृष्टि भी एक विराट नाटक है; इसके ऐक्टर्स (Actors) हैं। वर्तमान समय सन्धियुग है। जब हमारे कर्मों की जो शूटिंग (shooting) हो रही है, वह ही अनादि सृष्टि नाटक की फिल्म की अनादि नूंध हो जायेगी। परमात्मा का मूवी कैमरा (Movie camera) तो इतना तेज अथवा पावरफुल (Powerful) है कि उससे मनुष्य के तन, मन और धन द्वारा किये गए हर क्षण के कर्मों के फोटो निकलते रहते हैं। अत: मनुष्य को स्थिर-बुद्धि एवं अडोलचित्त होना चाहिए और कर्मों के प्रति सतर्क होना चाहिए वरना ठीक फोटो नहीं निकलेगा।

दुख:देना, दु:ख लेना बन्द करो!

कर्मों का हिसाब-किताब बड़ा ही अटल है। इसलिए, मनुष्य को कोई छोटा-मोटा विकर्म करने से भी बच के रहना चाहिए, क्योंकि जितना सूक्ष्म कर्म होता है उतनी सूक्ष्म उसकी भोगना (दण्ड) भी अवश्य ही भोगनी पड़ती है। असावधानी से भी अपने विकर्म द्वारा, अन्य किसी को दु:ख देने के बदले में दु:ख पाना पड़ता है। इसलिए स्वयं को सुखदाता परमात्मा की वंशावली निश्चय करके स्वयं अपने मन में सुखी होकर अन्य सभी को भी सुखी करने की सेवा में तत्पर रहते हुए स्थूल (शारीरिक) और सूक्ष्म (मानसिक) विकर्मों से सदा सावधान रहो। न किसी को दु:ख दो और न ही किसी से दु:ख लो।

अगर कोई मनुष्य, अन्य किसी को दु:खी देख कर स्वयं भी उस प्रवाह (प्रभाव) में आ जाता है और फिर दु:ख का हाल सुनाकर अन्य किसी को दु:खी करता है, तो उस मनुष्य की अवस्था को कोई ज्ञानमय अवस्था नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो ज्ञानी मनुष्य है वह सदा साक्षी, शान्त-चित्त और हर्षित-मुख होकर स्वयं भी अतीन्द्रिय सुख में रमण करता है और अपने ज्ञान के बल से दूसरों के दु:खों को भी दग्ध कर देता है। अपना तथा लोक-कल्याण का ख्याल रखते हुए उसके मुख पर मुरझाहट अथवा चित्त में ग्लानि नहीं हो सकती। वह समझता है कि "मेरे दु:ख का प्रवाह (प्रभाव) अथवा चिह्न देखकर दूसरों का भी मेरे प्रति संकल्प चलेगा। उनका मेरी तरफ ध्यान खिंच जावेगा और वे मुझे खुश करने के लिए जो स्थूल सूक्ष्म पुरुषार्थ करने लग पड़ेंगे तो उसका बोझ भी मुझ पर चढ़ जायेगा और इस प्रकार, मेरे ही कारण उनका भी समय व्यर्थ होगा"। इसलिए अब आप जीवन में ज्ञान की धारणा करके दु:ख के काँटों को हमेशा के लिए निकाल दो।

दु:खियों से बुद्धियोग लगाना भी ज्ञान के विरुद्ध है

स्वयं दु:ख से छूटने का और दूसरों को सुखी करने का पुरुषार्थ बहुत ही महीन पुरुषार्थ है। शान्तिस्वरूप, आनन्दस्वरूप परमात्मा के साथ बुद्धियोग की सूक्ष्म तारें जोड़ने से आप शान्ति और आनन्द का प्रवाह पकड़ सकते हैं, वैसे ही अगर मनुष्य का सूक्ष्म बुद्धियोग किसी दु:खी मनुष्य के साथ जुटा होगा तो उसे भी दु:खी व्यक्ति के दु:ख का रस पहुँचेगा अवश्य। और अगर कोई मनुष्य स्वयं दु:खी होगा तो उसके सूक्ष्म

(मानसिक) सम्बन्ध के कारण उसके सम्बन्धियों को भी दु:ख की सूक्ष्म भासना मिलेगी अवश्य। अगर इस प्रकार दु:ख का लेना और देना चलता रहेगा तो मनुष्य सदा प्रफुल्लित अवस्था को कदापि प्राप्त नहीं कर सकेगा। आप जानते हैं कि इस समय सभी मनुष्य दु:खी हैं। इसलिए, किसी भी मनुष्य से जरा भी मन का सम्बन्ध होगा तो स्वयं सुखी होने और दूसरों को सुखी करने के पुरुषार्थ में विघ्न पड़ता अवश्य रहेगा। तब ज्ञान की खुमारी चढ़ न सकेगी।

इसलिए, भगवान कहते हैं कि अब इस गुह्य धारणा को समझकर न किसी को दु:ख दो और न किसी का दु:ख लो। क्योंकि यदि इस आज्ञा का पालन न किया तो दु:ख का कर्म-बन्धन अथवा हिसाब-किताब चलता ही रहेगा परन्तु अब तो समय भी अधिक नहीं रहा है। और, सम्पूर्ण सुख प्राप्त करने का यह सुहावना समय दिन-प्रतिदिन क्षण-क्षण, पल-पल करके गुज़रता जाता है? इसलिए एक-एक क्षण में सुख लेते और देते ही रहो क्योंकि आप सुखदाता भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़कर सम्पूर्ण सुख प्राप्त करने वाले हो। जब देह के सब सम्बन्धियों, अज्ञानियों अथवा दु:खी व्यक्तियों से आन्तरिक सम्बन्ध तोड़कर अपने मन और बुद्धि का सम्बन्ध स्थूल और सूक्ष्म रीति सुखसागर भगवान् से जुटाएंगे तो आपके जीवन में दु:ख का लेश भी नहीं रह सकेगा।

दूसरों को दु:खी करने का संकल्प करने वाला ही दु:ख का अनुभव करता है

किसी को दु:ख पहुँचाने का अगर सूक्ष्म भी संकल्प आपके मन में आये तो मानो कि आप ज्ञान की धारणा में निष्फ़ल और विफल (फेल) हो गये हैं, क्योंकि ज्ञानी तो कोई हानिकारक कार्य नहीं करता है जबकि दूसरे को दु:ख पहुँचाने का सूक्ष्म संकल्प उठाने वाले मनुष्य को अपने ही मन में पहले दु:ख का अनुभव होता है और बाद में भीं दु:ख देने के कारण, उसे दु:ख ही भोगना पड़ता है तो आप ही बाताओ कि क्या कोई ज्ञानी मनुष्य कभी भी दु:खी होने की बात करना चाहेगा? क्या वह अपने दु:ख के चिन्हों अथवा अनुभव से दूसरों को दु:खी करने का संकल्प भी करेगा?

देवताओं के समान मीठे बनो

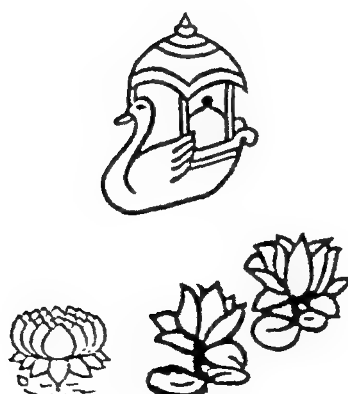
देवताओं की मूरत, सूरत (मुखाकृति) और सीरत (आचरण) तो ऐसी होती है कि जिससे सब खुश हो जाएँ। देवता तो सबको वरदान देने वाले होते हैं। जब किसी भक्त

किसी देवता (जैसे कि श्रीकृष्ण) का साक्षात्कार होता है तो भक्त का मस्तक झुक जाता है, क्योंकि देवताओं का मन, वचन, कर्म सभी सुख ही से भरपूर होते हैं। इस लिए, अब अपने स्वरूप को पहचान कर, फिर देवताओं के समान मीठे बन जाइये। सबको सुख देने वाले हो जाइये। आपसे कोई भी व्यक्ति अप्रसन्न होना नहीं चाहिए।

हाँ अपनी ही खराब दृष्टि अथवा तमोगुणी वृत्ति के कारण भी कोई आपके प्रति ग़लत (मिथ्या) धारणा करके दु:खी हो जाया करेंगे। भले ही इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है परन्तु फिर भी अपने ज्ञानबल से उन अज्ञानी मनुष्यों की भी दृष्टि को पलटने का प्रयत्न तो करना चाहिए।

सुखधाम जाने का मार्ग

अब तो आप सुखदाता भगवान् द्वारा सुखधाम जा रहे हो। अब दु:ख के दिन पूरे हुए। अब जितने-जितने कदम अथवा श्वांस सुख में गुजारेंगे उतना ही आप मंज़िल (लक्ष्य) के समीप पहुँचते जाओगे। इसलिए, उस सुखधाम की याद में रहते हुए, खुशी-खुशी में विघ्नों को टालते हुए, दूसरों को भी सुखधाम का परिचय देकर सुखी करते रहो तो सुखधाम में अवश्य ही पहुँच जाओगे।



ज़िम्मेवारी तथा उत्तरदायित्व

यों दिव्य गुण तो अनेकानेक हैं और हरेक गुण का अपना ही एक बहुत बड़ा मूल्य और महत्व भी है और हरेक गुण को धारण करना ज़रूरी भी है, परन्तु 'ज़िम्मेवारी' नाम का जो गुण है वह सभी गुणों में अग्रगामी है अथवा नेता है। वह सभी गुणों का उद्घाटन-कर्ता भी है और प्रतिपालक तथा विकासक भी है। क्योंकि जब तक मनुष्य अपने जीवन में दिव्य गुणों को लाने की अपनी ज़िम्मेवारी ही नहीं समझेगा तब तक अन्य गुण आयेंगे ही नहीं। अगर कुछ गुण आ भी जायें तो यदि मनुष्य अपनी ज़िम्मेवारी में ढ़ीलापन लिये होगा तो वह गुण विकसित नहीं होंगे। अत: जब पहले ज़िम्मेवारी का गुण आयेगा तब दूसरे गुण भी आने लगेंगे और विकसित होंगे। जैसे किसी भवन के निर्माण के लिए भूमि को पहले समतल बनाना अथवा सुदृढ़ नींव बनाना ज़रूरी है वैसे ही अन्य दिव्य-गुणों का गगन-चुम्बी भवन खड़ा करने के पहले ज़िम्मेवारी की नींव अथवा समतल भूमि भी आवश्यक है।

ज़िम्मेवारी हमारी, न कि भगवान् की

बहुत-से लोग भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि – "हे प्रभो, हमारे विषय विकार मिटाओ!" वे अपने विकारों को मिटाने की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर नहीं लेते; इसलिये वे मरने के बाद भी विकारों को साथ ही ले जाते हैं। जैसे कहा गया है कि "रस्सी जल गयी परन्तु बल (सलवट) नहीं गये", वैसे ही मरने पर व्यक्तियों का शरीर तो जला दिया जाता है। परन्तु उनके मन के जो टेढ़े संस्कारों के सलवट थे, वे रह जाते हैं!

ऐसे ही अन्य कई लोग कहते हैं कि "जो ईश्वर को मंजूर होगा, वही होगा" या गुरु जी कृपा करेंगे तो हम सुधर जायेंगे! अत: वे प्रभु की या गुरु की कृपा का इन्तज़ार ही करते रहते हैं और दिव्य-गुण धारण करने का इन्तज़ाम नहीं करते, क्योंकि इसे वे अपनी ज़िम्मेवारी ही नहीं समझते। परिणाम ये होता है कि उनके संस्कार नहीं बदलते।

सोचने की बात है कि यदि भगवान् ही विषय-विकार मिटाने का कार्य करेगा तो उसका फल भी तो उसे ही मिलेगा, क्योंकि कर्म का सिद्धान्त ही यह है कि "जो करेगा सो पायेगा।" हमें तो तब फल मिलेगा जब हम करेंगे। "करनी-भरनी" का नियम ही ऐसा है। अत: सबसे पहले तो श्रेष्ठ कर्म करने तथा संस्कारों को बदलने की हमें अपनी ज़िम्मेवारी समझनी चाहिए, तभी संस्कार बदलेंगे भी। वर्ना तो "बदल जाये दुनिया, न बदलेंगे हम।"

कार्य को यों ही करने और ज़िम्मेवारी से करने में अन्तर

कई बार हम जब किसी व्यक्ति को कोई काम देते हैं तो उनसे हम ये कहते हुए सुनते हैं कि – "मैं काम तो ज़रूर करूँगा, पर ज़िम्मेवारी नहीं लूँगा।" इसका अर्थ यह होता है कि काम करना अलग चीज़ है और ज़िम्मेवारी से काम करना दूसरी बात है। इसलिए हम कुछ व्यक्तियों को ये कहते हुए सुनते हैं – "आप कहते हैं तो मैं कर देता हूँ, परन्तु अगर ये काम बिगड़ गया तब मुझे मत कहना, मेरी ज़िम्मेवारी नहीं है।" इसका ये स्पष्ट अर्थ है कि जब कोई ज़िम्मेवारी से कार्य करता है तब वो उसमें पूरा मन लगाकर अपनेपन से उसमें लग जाता है। वो कार्य को केवल इस ख्याल से नहीं करता कि उसे वो कार्य दे दिया गया है तो उसे करना ही है, बल्कि वो अपनी पूरी शक्ति, पूरा ध्यान, पूरा समय और पूरे अहसास के साथ उसमें जुट जाता है। उसे बार-बार कहने, याद दिलाने, चौकन्ना करने इत्यादि की ज़रूरत नहीं होती, बल्कि वो स्वयं ही उसमें लगा रहता है और उसे करके ही दम लेता है। ज़िम्मेवार आदमी ऐसा नहीं कहता – 'ये विघ्न पड़ गया, ये हो गया, वो हो गया; तब मैं क्या करता?" कुछ भी हो जाये, कैसी भी परिस्थिति आ जाये, चाहे सारे आदमी हाथ छोड़कर भाग जायें, ज़िम्मेवार आदमी सिर पटक कर भी अपनी ज़िम्मवारी को निभाता है। वो आने वाली विकट परिस्थितियों के बारे में पहले से ही सोच लेता है और इन्तज़ाम कर लेता है। परन्तु कार्य को मंझधार के बीच नहीं छोड़ता और बहानाबाजी तथा ढीलेपन के अंश को भी उभरने नहीं देता। करना है या मरना है; करने से पीछे नहीं हटना है, बल्कि कर गुज़रना है – ये उसकी मनोवृत्ति होती है। उसके लिए 'ज़िम्मेवारी' एक प्रकार से उसका धर्म अथवा कर्त्तव्य हो जाता है।

'ज़िम्मेवारी समझने' और 'ज़िम्मेवारी महसूस करने' में अन्तर

'ज़िम्मेवारी समझने' और 'ज़िम्मेवारी महसूस करने' में अन्तर है। दोनों से अलग-अलग श्रेणी का पुरुषार्थ होता है और अलग-अलग ही मनोस्थिति उत्पन्न होती है। जैसे ईश्वरीय-ज्ञान और श्रीमत को केवल समझना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि इन्हें महसूस (Realise) करने की भी ज़रूरत है। इन्हें जो जितनी गहराई से महसूस करता है, उतना ही इन्हें जीवन में ढालने की उसे धुन अथवा लगन लग जाती है और उतना ही उसका प्रैक्टिकल पुरुषार्थ तीव्रगति प्राप्त करता है। यों ज्ञान तो बहुत लोग समझते हैं क्योंकि जानने में तो कुशल है, परन्तु जानने के बावजूद भी वे उसे आचरण में नहीं लाते क्योंकि वे उसके महत्व को महसूस (Relaise) नहीं करते। ऐसे ही ज़िम्मेवारी को समझने की तुलना में ज़िम्मेवारी को महसूस करना गोया अधिक ऊँचाई पर जाना है।

इस विषय में ऐसे युवकों का उदाहरण सामने रखकर विचार करना ठीक होगा जिनकी परीक्षायें निकट हैं। यों परीक्षा के निकट होने की बात तो अन्य विद्यार्थियों को भी मालूम है और सभी उस परीक्षा में पास होने की ज़िम्मेवारी को समझते भी हैं, परन्तु उनमें से कुछ युवक ऐसे भी हैं जो अपनी ज़िम्मेवारी को न केवल समझते हैं बल्कि महसूस भी करते हैं। उनके माता-पिता ने उनकी पढ़ाई पर खर्च किया है और स्वयं उन्होंने भी एक वर्ष या अधिक समय तक परिश्रम किया है। वे ये महसूस करते हैं कि अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर ही उनका भविष्य और उनका व्यावसायिक जीवन और आगे का कार्यकाल (career) आधारित है। अत: अपनी ज़िम्मेवारी महसूस करने के कारण वे नींद में से भी कुछ समय बचाते हैं और खेलकूद में भी पहले से कम समय देते हैं और अपनी पढ़ाई पर अधिक ध्यान देते हैं, यहाँ तक कि यदि उनके माता-पिता उन्हें कहते हैं कि – "बेटा, अब सो जाओ", तो भी वे ज़रूरत महसूस करने पर उन्हें कहते हैं कि – "अभी थोड़ा और पढ़ने दीजिये क्योंकि कुछ अध्ययन करना अभी बाकी है।"

इस प्रकार हमें भी जब यह एहसास होगा कि हमारे भविष्य के 21 जन्मों का आधार हमारे वर्तमान ईश्वरीय विद्या के अध्ययन और अभ्यास पर है तो ज़िम्मेवारी के एहसास के फलस्वरूप हम भी ग़फ़लत नहीं करेंगे, यों व्यर्थ ही समय नहीं गँवायेंगे बल्कि जी-जान लगाकर योगाभ्यास तथा संस्कार-परिवर्तन के कार्य में लग जायेंगे।

इसी तरह एक डॉक्टर के सामने ऑपरेशन-टेबल (Operation Table) पर जब कोई रोगी पड़ा हो और उसकी जीवन और मृत्यु का प्रश्न सामने हो तब उस डॉक्टर को खाने-पीने के, बीबी-बच्चों के, घर-बाहर के संकल्प नहीं आते बल्कि उसका पूरा ध्यान ऑपरेशन द्वारा रोगी की जान बचाने पर लगा होता है। तब उसके मन में कोई व्यर्थ संकल्प घुस-पैठ नहीं करते। इसी प्रकार, यदि हम भी अपनी इस पढ़ाई को कम-से-कम 21 जन्मों के लिए प्राप्य सुख-शान्ति से जोड़ दें तो हम भी अपनी ज़िम्मेवारी का एहसास कर तीव्र पुरुषार्थ में लग जायें।

ज़िम्मेवारी के अहसास के अन्तर के कारण ही पुरुषार्थ की तीव्रता में भी अन्तर

इस ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षा देने वाले तो शिवबाबा ही हैं। वह तो सभी को एक ही पढ़ाई पढ़ाते हैं। वह अलग-अलग वत्सों को अलग-अलग ज्ञान तो नहीं देते। वे किसी को कम तथा किसी का ज्यादा भी तो नहीं पढ़ाते। तब फिर हरेक का पुरुषार्थ अलग-अलग स्तर का क्यों है? इसका एक मुख्य कारण ये है कि कुछेक ने अपनी ज़िम्मेवारी को भली-

भाँति समझा और कुछेक ने कम समझा है। जितना जिसने अपने तथा विश्व के परिवर्तन की ज़िम्मेवारी को समझा है, उतना ही उसका तीव्र पुरुषार्थ है।

ज़िम्मेवारी (Responsibility) और उत्तरदायित्व (Accountability) में अन्तर

'ज़िम्मेवारी' और 'उत्तरदायित्व' में भी अन्तर है। किसी कार्य को अपने ज़िम्मे लेना – 'ज़िम्मेवारी लेना' कहलाता है। यह ज़िम्मेवारी परम्परा अथवा लोक-मर्यादा के कारण भी हो सकते हैं, जैसे कि माता-पिता अपने बच्चों के लालन-पालन इत्यादि की ज़िम्मेवारी स्वाभाविक रूप से अपने ऊपर समझते ही हैं। यह ज़िम्मेवारी स्वेच्छा से भी ली जा सकती है, जैसे कि कोई व्यक्ति किसी संस्था के कार्य को अच्छा मानकर, उसके किसी कार्य को करने की ज़िम्मेवारी अपनी खुशी से अपने ऊपर लेता है क्योंकि वह समझता है कि लोगों की भलाई का अथवा अच्छा काम है। कोई ज़िम्मेवारी नैतिकता अथवा इन्सानियत के नाते भी हम पर आती है, जैसे कि ईमानदारी से व्यापार करना अथवा प्यासे को पानी पिलाना। कुछेक ज़िम्मेवारियाँ कानून भी हम पर लागू करता है – सड़क की बायीं ओर गाड़ी चलाना और दूसरे यात्रियों को बचाते हुए अपनी यात्रा करना। इन सभी में से नैतिक ज़िम्मेवारी मुख्यतम् है, क्योंकि यदि मनुष्य नैतिकता को छोड़ दे तो वह पुलिस कर्मचारी की अनुपस्थिति में अपनी गाड़ी को ग़लत मोड़ से भी मोड़ लेगा और किसी को गाड़ी के नीचे कुचल देने पर भी भाग जायेगा और सरकारी अधिकारियों को घूस देकर भी बे-ईमानी से धन्धा करेगा।

परन्तु नैतिक ज़िम्मेवारी में भी मनुष्य को यदि यह एहसास हो कि मेरे कर्मों का मुझ से कोई हिसाब लेने वाला भी है; सांसारिक न्यायाधीश से ऊपर कोई 'धर्मराज' भी है तथा मुझ से नैतिकता एवं आध्यात्मिकता में वरिष्ठ मेरे अलौकिक बहन-भाई या मुझे आध्यात्मिक शिक्षा देने के लिये निमित्त बहन-भाई भी हैं जो मुझ से पूछताछ करने के अधिकारी है, तब वह नैतिकता के पथ पर दायें-बायें झांके बिना सीधा चला चलता है। अतः ज़िम्मेवारी (Responsibility) के अतिरिक्त उत्तरदायित्व (जवाबदारी;Accountability) पर भी यदि हमारा ध्यान रहे तब नैतिकता के पथ पर अग्रसर होने में हमें सहायता मिलेगी। अगर हम यह समझ लें कि हम से कोई जवाब-तलबी कर ही नहीं सकते तो इस अभिमान से हमारी प्रगति रुक जायेगी। हाँ, हम से जो वरिष्ठ हो, उसे ही हम से पूछताछ करने का अधिकार है, अन्य को नहीं। परन्तु यदि हम यह मान लें कि हम तो सभी बहन-भाई है और कोई भी – चाहे वह निमित्त शिक्षिका हो या वरिष्ठ अधिकारी, वह हमारे

अनुशासनहीनता, हमारे दृष्टि-वृत्ति की कलुषता, हमारे व्यवहार में किसी प्रकार की निकृष्टता या हमारे स्थिति की अनियमितता इत्यादि के बारे में पूछ ही नहीं सकते, न राय दे सकते हैं, न दण्डित कर सकते हैं, न अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकते हैं; तब तो ''चढ़ जा बेटा सूली पर, राम भला करेंगे।'' हमें यह ध्यान रहना चाहिये कि हमारे ऊपर कोई है जो हमारे हितैषी हैं, हम से पुरुषार्थ में आगे हैं और वह यदि हमें सावधान करता है, हमें प्रायश्चित करने को कहते हैं या हमारी कमज़ोरी अथवा कमी बताते हैं तो इसमें हमारा भला ही है। अगर कोई सावधान करने वाला ही न हो तब तो ''सिर पर नहीं कुण्डा, हाथी फिर लुण्डा'' वाली बात हो जायेगा। अर्थात् ''घोड़ी बे-लगाम'' हो जायेगी।

अत: पुरुषार्थी होने के नाते हमें यह समझकर चलना चाहिये कि हमारे ज़िम्मेवारी स्वयं हम पर तो है ही परन्तु हम से जो वरिष्ठ हैं, वे यह मानते हैं कि उनकी भी हमारी प्रति कुछ ज़िम्मेवारी है। उसी के कारण वे हम से पूछताछ करते हैं और हमें शिक्षा-सावधानी इत्यादि देते हैं। इसलिये हमारा उनके प्रति उत्तरदायित्व (Accountability) है।

ज़िम्मेवारी महसूस करने से ही अलबेलापन समाप्त

हमें यह बहुत बार समझाया गया है कि आलस्य और अलबेलापन सबसे बड़े कारण हैं। वे ही हमारे उन्नति में रुकावट पैदा करते हैं और हमें जड़ता में लाते हैं। परन्तु ध्यान देने के योग्य बात है कि ज़िम्मेवारी का एहसास आलस्य और अलबेलेपन को भगा देता है। जब कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने की ज़िम्मेवारी महसूस करता है, तब वह उस पर पूरा ध्यान देता है और उसे कर-गुज़रने के लिये जी-जान लगा देता है। आध्यात्मिक पुरुषार्थ की ज़िम्मेवारी के एहसास के साथ इतना गहरा सम्बन्ध है कि कई लोग 'ज़िम्मेवारी' को 'कर्त्तव्य-पालन' और 'कर्त्तव्य-पालन' को 'धर्म' का नाम देते हैं, अर्थात् ज़िम्मेवारी को धर्म का सहगामी मानते हैं।

ज़िम्मेवारी और धर्मसहगामी

कई लोग धर्म को 'ड्यूटी' (Duty) अथवा 'कर्त्तव्य-पालन' मानते हैं। धर्म हमें यही तो बताता है कि हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये अर्थात् ''विधि और निषेध'' (Do and Don't) ही सम्मुचय धर्म है। 'धर्म' और 'नैतिक ज़िम्मेवारी' एक ही वात तो है। गीता का प्रारम्भ ही इस प्रश्न से होता है कि – क्या करूँ? कर्म से उदासीन होना नहीं वल्कि कर्त्तव्य-परायण होना ही धर्म है। यही तो ''नैतिक उत्तरदायित्व'' है।

व्यक्तित्व और सफ़लता का एक बड़ा लक्षण

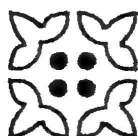
जो स्वभाव ही से हरेक कार्य को ज़िम्मेवारी से करते हैं, लोग उन पर विश्वास करते है। वे ऐसे ही व्यक्ति को कार्य देना पसन्द करते हैं जो दृढ़तापूर्वक, लगनपूर्वक, उत्साहपूर्वक, सूझपूर्वक पूरी शक्ति लगाकर गम्भीरता से कार्य करते हैं। अत: ज़िम्मेवारी से कार्य करने और ज़िम्मेवारी को निभाने (Sense of duty) का जो गुण है यह तो व्यक्ति को कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ाने वाला बहुत बड़ा गुण है। इससे व्यक्ति को जीवन में महान् कार्य करने के बहुत अवसर प्राप्त होते हैं। और वह बहुत आगे बढ़ जाता है।

ज़िम्मेवार बनो ओर ज़िम्मेवारी लो

इस गुण की महानता के कारण ही बाबा प्राय: कहा करते कि "मुझे ज़िम्मेवार (Responsible) बच्चे अच्छे लगते हैं" अथवा "मुझे ज़िम्मेवार बच्चे चाहियें।" बाबा कहते – "जो इस जीवन में ज़िम्मेवारी का ताज सिर पर लेता है, उसे ही भविष्य में विश्व-महाराजन् का ताज प्राप्त होता है। जितनी बड़ी यहाँ ज़िम्मेवारी लोगे उतने बड़े महाराजन् बनोगे।"

अत: जब हमें किसी सेवा का अवसर (Chance) मिलता है, तो हमें "न" नहीं करनी चाहिये, खुशी-खुशी ही ज़िम्मेवारी लेनी चाहिये। चांस लेने से ही हम चांसलर (Chancellor) बनेंगे।

हम कई कार्य करना ही नहीं जानते तब हम उनके लिये ज़िम्मेवारी कैसे लें? यह प्रश्न तो ठीक है। परन्तु हमें सोचना चाहिये कि अगर हम करेंगे ही नहीं तो अनुभवी कैसे बनेंगे? अत: हमें यह बता देना चाहिये कि हमने पहले यह कार्य किया नहीं है, इसलिये हमें मार्गप्रदर्शन और सहयोग की ज़रूरत पड़ेगी; बाकी, हाँ, हम ज़िम्मेवारी ले लेने पर हमें बहाने कभी नहीं बनाने चाहिये – 'ऐसा हो गया, वैसा हो गया।" ज़िम्मेवारी का अर्थ ही है – कार्य को ठीक तरह करने का पूरा पुरुषार्थ।



ग़लती के साथ एक और ग़लती

अब हमें यह ज्ञान मिला है कि सतयुग में नर-नारी ग़लती नहीं करते। वहाँ हरेक चीज़ फूल प्रूफ (Fool proof) होती है और हर व्यक्ति भी भूल-रहित होता है। इसका कारण यह है कि सतयुग के सभी देवी-देवता संगमयुग में पुरुषार्थ करके सर्वगुण सम्पन्न बने होते हैं। उन्होंने अपनी सारी कमियों और कमज़ोरियों को दूर कर लिया होता है। उन्होंने अपने संस्कारों को भी ठीक किया होता है और उनके जीवन में इच्छायें भी शान्त हो चुकी होती हैं। तो जबकि कोई अवगुण, कोई कमी, कोई बुरा संस्कार और कोई इच्छा का अंश ही नहीं रह जाता बल्कि उनके जीवन में पूर्णतः सन्तुलन, सच्चाई-सफ़ाई और सद्‌गुण होते हैं तथा वे सम्पूर्णता को पा चुके होते हैं तो उनसे ग़लती या भूल क्यों हो? वे निर्णय शक्ति, परख शक्ति इत्यादि शक्तियाँ भी धारण कर चुके होते हैं। तथा एकाग्रता, एकतानता और ईमानदारी इत्यादि योग्यतायें भी उनमें आ चुकी होती हैं और उनका ध्यान टूटता या बिखरता नहीं, मन में गड़बड़ या उलझन होती नहीं, किसी प्रकार की विक्षेपता, मल या आवरण का अस्तित्व भी रहता नहीं, तब फिर भूल किस कारण से हो?

वर्तमान समय में, जब हम अभी सम्पूर्ण अवस्था को प्राप्त नहीं हुये और सभी दिव्य-गुणों का हमारे जीवन में पूर्णतः उत्कर्ष भी नहीं हुआ तथा हमारी सब कमियाँ मिटी भी नहीं और अभी कुछ छिद्र अथवा दोष तथा कुछ कालिमा एवं कालुष्य अभी रहा हुआ है और मन कभी-कभी टेढ़ी चाल चलता है तो संस्कार-वश, विकार-वश या उद्‌गार-वश कोई भूल हो जाती है।

अन्तरात्मा की आवाज़ को सुनो

जब भूल हो जाती है तो हमारे अन्दर से आवाज़ उठती है कि हमने फलां भूल की है। किसी-किसी व्यक्ति में यह आवाज़ मन्द पड़ जाती है। अथवा लगभग मर जाती है, क्योंकि वह उस आवाज़ की अवहेलना करता है, उसे दबा देता है अथवा उसे मसोस कर एक ओर कर देता है। अन्य प्रकार का घात करने से पहले मनुष्य अपनी अन्तरात्मा का घात करता है, उसका गला दबाता है, उसमें कुतर्क का छुरा घोंपता है और उसकी हत्या कर डालने के बाद ही वह जीव-घात, जन्तु-घात आदि घात पर घात किये चले जाता है। हमारी यह अन्तरात्मा की आवाज़ हमारे आदिम (Original) अथवा मूल पवित्रता से पैदा होती है। हमारे वास्तविक स्वरूप हमारे विकृत स्वरूप को कहता है कि तूने ग़लती की है। वह उसे दुत्कारता है, समझाता है और आगे के लिये भूल न करने के लिये कहता

परन्तु हमारी बुद्धि जिसे स्वयं पर अभिमान होता है, जो कुतर्क को तर्क समझने लगी

होती है, वह अनीति को नीति और अमानुषता को मानवता की वेष-भूषा पहना देती है और भूल को महसूस नहीं होने देती। इसका एक परिणाम तो यह होता है कि हमारे मन की भीतरी तहों में वह भूल, आंख में गिरे कंकर की तरह, चुभती रहती है। और जब तक उसे निकाल न दिया जाये वह चैन नहीं पड़ने देती। हम अपनी मादकता और झूठे नशे में कुछ समय के लिये उस दर्द को भूल जायें परन्तु वह चुभन कुछ-न-कुछ समय के बाद हमारी चेतना को कचोटती रहती है। गोया वह यह सूचना देती रहती है कि "मैं बाहर से आया हुआ कंकर अभी भी यहाँ हूँ, मुझे बाहर निकाल दो वर्ना एक दिन मैं पस (Puss) बनकर बाहर निकलूंगा और पीड़ा पैदा करके भी बाहर आये बिना नहीं रहूँगा।"

भूल को महसूस करना ज़रूरी

अत: यदि हम भूल की बजाय अपना भला चाहते हैं तो भूल को महसूस करना, उसकी ओर ध्यान देकर उसे निकालना हमारी शान्ति और हमारे सुख-चैन के लिये ज़रूरी हो जाता है। अगर हम अपनी ग़लती महसूस नहीं करते तो फिर ग़लती पर ग़लती होती रहती है। ग़लती की परतें इकट्ठी होती जाती हैं। गांठ पर गांठ पड़ने की तरह ग़लती पलती है और पेंचीदा हो जाती है। अगर हम उसे महसूस कर लेते हैं तो ग़लती पलती नहीं, बल्कि पिंघलती है। महसूसता एक ऐसी ब्रेक है जो ग़लती को आगे बढ़ने नहीं देती और एक दुर्घटना होने के बाद दूसरी दुर्घटना से बचाती है। इसलिये ग़लती को ठीक करने के लिये पहला कदम अपनी ग़लती को महसूस करना है।

हमने बताया है कि अगर हम महसूस नहीं करते तो ग़लती के बाद ग़लती होती रहती है। यह वैसे ही है कि जैसे किसी मशीन का सांचा बिगड़ जाये और इस कारण उस द्वारा भद्दी, बदसुरत अथवा बेकार चीज़ें निकलें। अगर कोई व्यक्ति मशीन की खराबी को महसूस नहीं करेगा तो वह मशीन के सांचे और ढांचे को ठीक भी नहीं करेगा और उसे ठीक करने के बिना तो माल खराब निकलेगा; वह या तो बिकाऊ माल नहीं होगा या घाटे पर बिकेगा। अगर हम ब्रेक (Brake) नहीं लगायेंगे तो हो सकता है कि मशीन स्वयं ही ब्रेक (Break) हो जाये अर्थात् टूट जाये। हमें यह समझना चाहिये कि अगर हम ग़लती को बार-बार दोहराते हैं तो उससे ग़लती पक्की हो जाती है। मशीन और मानव की ग़लती में यह अन्तर है कि मशीन की ग़लती से उसकी ग़लती और बढ़ती और पक्की होती है क्योंकि मानव के सीखने के तरीके में यह बात शामिल है कि उसे अभ्यास करना पड़ता है। जिस चीज़ का हम बार-बार अभ्यास करते हैं अथवा जिस क्रिया को हम बार-बार दोहराते हैं, उसे हम और अधिक सीख पाते हैं और उसमें निपुण हो जाते हैं। [illegible] ग़लती बाद बन जायेंगे अर्थात् ग़लती को हम स्वाभाविक रूप से करने लगेंगे

और नौबत यह आ जायेगी कि फिर उस ग़लती का सुधार करना बहुत कठिन हो जायेगा। उसको ठीक करने के लिये फिर उतना समय और उतनी बार अभ्यास करना पड़ेगा और शक्ति लगानी पड़ेगी तथा मेहनत करनी होगी जो कि एक बड़ी मुसीबत से कम नहीं होगी। हरेक इन्सान मुसीबतों से बचना चाहता है। इसलिये ग़लती मत दोहराओ और स्वयं मुसीबत को निमन्त्रण मत दो आपने आप, अपने हाथों, अपने लिये आफत मत लाओ। ग़लती हो गई, बस, उसको वहीं रोक दो। अच्छी बात को भी अगर कोई ग़लत तरीके से दोहराता है तो वह अच्छी बात भी अच्छी नहीं रहती। अगर कोई व्यक्ति ग़लत तरीके से नृत्य करना सीख लेता है तो वह नृत्य, नृत्य नहीं रहता है बल्कि अनृत्य हो जाता है और ग़लत सीखी हुई कला को भुलाना भी एक बड़ी कोफ्त हो जाता है। कोफ्ते खाना आसान है परन्तु कोफ्त मिटाना परेशानी है। इसलिये अगर हम चाहते हैं कि कोफ्त से बचें तो हमें यह बात अच्छी तरह से याद रखनी चाहिये कि हम ग़लती को न दोहरायें। किसी ने सच कहा है –

धागों का बना रस्सा, उसका टूटना मुश्किल।
जो आदत हो गयी पक्की उसका छूटना मुश्किल।।

प्रश्न भूल को जानने और मानने का

बात यह हो रही थी कि हम भूल को महसूस करें। महसूस करने का एक तरीका तो यह है कि हम स्वयं अपने मन में उस भूल में बुराई की ग़हराई को जानें और पहचानें और एक दूसरा तरीका यह है कि – हम उसे मानें। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि हम अपनी भूल किसके सामने मानें? अगर अपराधी न्यायाधीश के सामने अपनी भूल मान जाये, तब तो वह दण्डित होगा; क्योंकि न्यायाधीश का तो कार्य ही यह है कि वह भूल के लिये दण्ड दे। अगर हम न्यायाधीश के सामने भूल न मानें अथवा यों किसी भी व्यक्ति के सामने भूल मानते रहें तो उस मानने में फायदा क्या है? फिर, यदि हम भूल मान लें तो उससे हमारी छवि धूमिल होगी। आगे के लिये लोग यह समझ लेंगे कि हम भुलक्कड़ हैं, चोर हैं, बेईमान हैं, अपराधी हैं। जब-कभी वे हमारे फोटो देखेंगे, तो उनके मस्तिष्क में हमारे बारे में यह संकल्प आयेगा कि हम तो भूल करने वाले व्यक्ति हैं। तब ख्वाहमख्वाह हम अपने लिये अड़चन क्यों पैदा करें, अपने आपको दूसरों की निग़ाहों में क्यों गिराये? उनके सामने भूल मानने में हमें क्या मिलेगा? बदनामी के सिवा हमें उनसे और क्या प्राप्ति होगी?

अत: यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि क्या हम भूल बतायें या न बतायें? अगर बतायें तो किसको बतायें और अगर न बतायें तो किसको न बतायें और क्यों न बतायें? भूल

कई टन के एक पत्थर के समान है जो हमारी छाती पर बोझ की तरह बना रहता है जिसके नीचे हम दबे चले जाते हैं। जब कई पत्थर हम पर लद जाते हैं, तब मन कई बार हल्का होना चाहता है। भूल बताकर वह उन पत्थरों के बोझ से मुक्त होना चाहता है। परन्तु यदि कोई हमसे पूछने लगे कि तुमने यह पत्थर उठाये क्यों थे, कहाँ से उठाये थे, किसलिये उठाये थे, क्या तुम्हें इतनी ही समझ है कि जिसके परिणामस्वरूप तुम अपने ऊपर पत्थर लादते चले गये, तो फिर ऐसा महसूस होता है कि एक बोझ से हमने मुक्ति पाई, परन्तु एक दूसरे प्रकार का बोझ और लाद दिया गया और हम किसी की निगाहों से शायद हमेशा के लिये गिर गये और अब उठने-जैसे भी नहीं रहे। क्या कोई ऐसा इन्सान है जिसे हम अपनी भूल बता दें और वह हमें मदद करके हमारे सिर से पत्थर नीचे उतारने में सहयोगी बने और हमें स्नेह से कह दे कि "जाओ, आज से तुम बहुत अच्छे इन्सान हो और उन पत्थरों को भूल जाओ और मेरे पास ही छोड़ दो"। न वह जीवन-भर उन पत्थरों को स्वयं ही याद करे और न हमें उस बोझ की याद दिलाकर वह व्यक्ति फिर से हमें थकाये।

हम भूल किसे बतायें?

इस बारे में यह तो स्पष्ट है ही कि हमें अपनी भूल को ऐसे ही व्यक्ति को बताना चाहिये जिसमें ये मुख्य गुण हों। (1) वो गम्भीर हो ताकि बात स्वयं तक रखे या केवल वहाँ तक पहुँचाये जहाँ तक पहुँचाने में हमारा भला हो। वह हर-किसी व्यक्ति से बात करने वाला और भूल को फैलाने वाला या भूल को तूल देने वाला न हो। (2) वह न केवल भूल को अपने मन में समा ले बल्कि समाप्त कर दे। ऐसा न हो कि हर आये दिन वह यह जतलाता रहे कि "पहले भी तो आपने यह भूल की थी। यह भूल तो आप में भरी हुई है और आप इसको छोड़ ही नहीं सकते।" हाँ, कभी हमें समझाने के लिये आवश्यक हो तो उस पहले की भूल की ओर इशारा किया जा सकता है परन्तु एक ताने (Taunt) की तरह से अगर कोई बार-बार हमारी ही भूल हमें बताता रहे तो वो अच्छा नहीं है। (3) विशेष बात तो यह है कि भूल उसको बताई जाये जहाँ से हमें कुछ ऐसी शक्ति मिले, ऐसा स्पष्टीकरण मिले और ऐसी मार्ग-पद्रर्शना उपलब्ध हो कि वह भूल का भूत हमारे दिमाग से निकल जाये। (4) भूल उसे ही बताई जाये जो उस क्षेत्र का मुख्य व्यक्ति हो, जिस पर कि हमारी ज़िम्मेवारी हो अथवा जिसके निरीक्षण (Supervision) में हम कार्य करते हों। यदि हम हर-किसी को भूल बताते रहेंगे तो यह दुनिया और यह जमाना ऐसे हैं कि वे उसका नाजायज़ फायदा भी उठा सकते हैं। (5) भूल बताना तो इसलिये है ताकि मन हल्का हो जाये परन्तु जिसे बतायें वह व्यक्ति ऐसा न हो कि जो स्वयं

बोझिल हो जाये। अगर हम किसी को अपनी बीमारी बतायें और उससे वह स्वयं ही बीमार हो जाये तो उसमें हमारे प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। बहुत-से व्यक्ति स्वयं ही आध्यात्मिक रूप से निर्बल होते हैं और यदि उन्हें भूल बता दी जाये तो वे उसे भस्म नहीं कर सकते, बल्कि उस दाग़ से स्वयं को दाग़ी कर बैठते हैं और अपने अतिरिक्त अन्य कइयों को भी उस बीमारी में मुब्तिला कर देते हैं। (6) सबसे बड़ी बात यह कि भूल उसे बतानी चाहिये जिसकी कल्याणकारी वृत्ति हो, उच्च धारणा हो, महान् स्थिति हो और जिसका क्षमाशील स्वभाव हो और जो न केवल स्वयं सुधरा हुआ हो बल्कि हमें भी सुधार सके और जिसका हमारे जीवन और हमारे कार्य से ऐसा सम्बन्ध हो कि जिसके कारण उसे ही भूल बताना उचित हो।

भूल का दण्ड

हम पीछे कह आये हैं कि अगर हम किसी न्यायिक (Judge) को अपनी भूल बतायेंगे तो वह हमें दण्डित करेगा। यदि सचमुच में हमारी भूल ऐसी है कि जिसका दण्ड हमें मिलना ही चाहिये तो हमें भागने की क्या ज़रूरत है? कर्म का फल तो मिलकर ही रहेगा। उसे तो कोई टाल नहीं सकते। अतः यदि हमें न्याय से कोई दण्ड मिलता है तो उसे स्वीकार कर स्वयं को सदा के लिये उससे स्वच्छ कर लेना चाहिये। दण्ड से भोगना तो इस बात का सूचक है कि हम इस बात को या तो जानते नहीं, या तो मानते नहीं कि कर्म का फल आज नहीं तो कल अवश्य ही मिलेगा और भोगने का अर्थ यह है कि एक भूल पहले करने के बाद स्वयं छिपाने की दूसरी भूल और करते हैं। इसके अतिरिक्त, भय के वश भागना भी तो एक प्रकार का दण्ड ही है जो कि स्वयं ही हम अपने आपको दे डालते हैं जबकि उसकी आवश्यकता ही नहीं है। यदि हम अपनी भूल नहीं मानते और यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि हम तो बेगुनाह हैं, बेदाग़ हैं, निरपराध हैं और दूध से धुले हुए शुद्ध एवं पवित्र हैं तो गोया झूठ बोलने की भूल हम और साथ में जोड़ते हैं और अपने पाप को बढ़ावा देते हैं। अगर हमें झूठ बोलने की आदत पड़ गई, तब तो हम कई भूले जान-बूझकर करने लगेंगे क्योंकि हम यह सोचेंगे कि किसी को हमारे भूल का पता चल भी गया तो हम फलां-फलां झूठ बोलकर उस से बच निकलेंगे। वह झूठ बोलना तो हमें ग़लती करने की और हिम्मत दिलायेगा और चोरी के साथ मक्कारी, दोनों मिलकर, हमें पक्का अपराधी बना डालेंगे। परन्तु हाँ, यदि भूल बताने से हमारा जीना ही कठिन हो जाता है, हमारे जीवन ही खतरे में पड़ जाता है अथवा हम सदा के लिये अच्छे नागरिक समझे जाने से ही वंचित हो जाते हैं तो हमें नपे-तुले एवं नीतिपूर्वक तथा विधि व् रीति से हितैषी व्यक्ति को ही प्रायश्चित्त एवं क्षमा-सहित भूल बतानी चाहिये।

भूल कैसे बतायें?

भूल के विषय में कई प्रश्न उठते हैं। उदाहरण के तौर पर प्रश्न उठता है कि कई बार इससे पूर्व कि हम किसी अधिकारी एवं योग्य व्यक्ति को अपनी भूल बतायें, लोग ही हमारी भूल उसे बता देते हैं और उसे ही नहीं बल्कि अन्य कई लोगों तक बात पहुँचा देते हैं और बताते भी ऐसे हैं कि उन्हें भड़का देते हैं और बात कुछ और होती है लेकिन उसे कुछ और बना देते हैं या थोड़ी बात को बढ़ा देते हैं। तब क्या किया जाये? क्या हम चुपी साध लें? क्या हम अपनी सफाई पेश करें? जिन्होंने हमें पहले ही दोषी मान रखा है, क्या वे हमारी बात को सुनेंगे, उस पर निष्पक्ष भाव से विचार करेंगे और न्यायपूर्वक निर्णय देंगे? यह सब सोचने और समझने की बातें हैं। परन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शान्तिपूर्वक, मर्यादित भाषा में, धैर्यवत् अवस्था में, दूसरों को सम्मान देते हुए हम अपनी बात को पूरे तौर पर और प्रभावशाली तरीके से बतायें। उसमें झिझकने की ज़रूरत नहीं है। सार-संक्षेप में, श्रृंखलाबद्ध तरीके से, विधिवत रीति से; सारी परिस्थिति और स्थिति को हम पेश करें। हमारी जो भूल है और जितनी भूल है उसको हम सच्चे मन से स्वीकार करें और अगर लोग उसमें मिलावट, बनावट और सजावट करके उसे बढ़ा-चढ़ा कर बता रहे हैं तो हम निस्संकोच यह कहें कि उसमें कुछ भी तथ्य नहीं है और कि कोई चाहे तो उसकी जांच कर ले। फिर भी यदि कोई हठवादिता पर तुला है और दुराग्रह पर टिका है तो हम आवेश में आये बिना उसके लिये अपनी अस्वीकृति और अमान्यता प्रकट करें। फिर जो-कुछ निर्णय होता है उसके लिये तैयार रहें। परन्तु ग़लती करने के बाद हम दूसरों के भड़काने की ग़लती को देखकर और मामले को बढ़ाने की कूटनीति को जान कर हम स्वयं कानून को न तोड़ें। जो ग़लती हम कर चुके सो कर चुके और दूसरों को ग़लती करते देखकर हम उनकी ग़लत राह पर चलने की कोशिश न करें। कोई हमारे विषय में ग़लत अनुमान लगाता है, हमसे ईर्ष्या या द्वेष करके बदला लेना चाहता है तो हम उसके हाथों में न खेलें। हम अपनी सज्जनता और श्रेष्ठता को न छोड़ें। हमारी दूसरी भूल पहली भूल को मिटायेगी नहीं बल्कि लोगों के मन में इस बात को पक्का करेगी कि हम ठीक आदमी नहीं है। एक ग़लती करने के बाद अगर आपने अपनी ग़लती मान ली और सम्भल गये तो सब कहेंगे कि — "इनसे ग़लती हो गई थी और ये मान रहे है; अब और ज़्यादा ज़ोर-ज़बरदस्ती करने की क्या ज़रूरत है?" अतः दूसरों की बुराई को देखकर हम बुरे न बनें बल्कि यह निश्चय लेकर चलें कि हम अच्छाई के अनुयायी रहें।

ग़लती किसी और की और दण्ड मिले हमें!

कभी ऐसा भी हो सकता है कि ग़लती तो किसी और की हो परन्तु हमें भी दण्ड मि...

शामिल कर लिया गया हो। ऐसी स्थिति में घबराने की ज़रूरत नहीं, बौखलाने की भी ज़रूरत नहीं और चिल्लाने की भी ज़रूरत नहीं। अभय रूप से बताया जा सकता है कि हमारा नाम तो यों ही इसमें धकेल दिया गया है, जबकि इस बात से हमारा सम्बन्ध ही नहीं और उस तस्वीर में हम हैं ही नहीं। फिर भी अगर कोई नहीं मानता तो हमें अपनी बात बताने का तो पूरा अधिकार है परन्तु उन्हें धमकी देने, स्वयं भड़क जाने, दूसरों को बुरा-भला कहने और उनको दुष्नाम देने की ग़लती हमें नहीं करनी चाहिये क्योंकि इससे हमारी अपनी छवि ही कम होती है और अपना ही पक्ष दुर्बल होता है। दूसरों ने हमें जो ग़लत समझा है वो ग़लतफहमी तो आगे चलकर ठीक भी हो जायेगी परन्तु यदि अब हम उत्तेजित होकर दूसरों का अपमान करेंगे अथवा व्यवहार की श्रेष्ठता को छोड़कर असामाजिक अथवा आंदोलित मन से व्यवहार करेंगे तो इस प्रत्यक्ष ग़लती को मिटाना कठिन हो जायेगा।

ग़लती थोड़ी परन्तु सज़ा अधिक

ये भी हो सकता है कि हमारी ग़लती तो थोड़ी-सी हो परन्तु उसके बदले में हमें सज़ा अधिक दे दी जाये। ऐसी स्थिति में भी हमें अपना आवेदन-निवेदन अथवा प्रस्ताव-सुझाव सामने रखना चाहिये। फिर भी यदि हमें अनुचित मात्रा में दण्ड दिया जाता है तो हमें उस अग्नि परीक्षा को पार करना चाहिये। अत्याचार अथवा अन्याय का सामना करने के लिये हमें वैर-विरोध, शत्रुता-उद्दण्डता इत्यादि को नहीं अपनाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से हम संसार में बुराई में और बुराई जोड़ देते हैं और उसकी मात्रा घटाने की बजाये बढ़ाने में सहायक होते हैं। कोई कह सकता है कि अत्याचार और अन्याय को सहन करना ही उसे वास्तव में बढ़ावा देना है। परन्तु हमारा निवेदन यह है कि हम केवल सहन करने की बात नहीं कह रहे हैं, हम ज़ोरदार तरीके से यह समझाने का भरसक प्रयत्न करने को कह रहे हैं कि हमारे साथ अनुचित व्यवहार किया जा रहा है। परन्तु हम अन्याय और अत्याचार का सामना करने के लिये हिंसा का प्रयोग करने के पक्ष में नहीं हैं अथवा बदला निकालने को ठीक नहीं समझते। हम अपनी सत्यता, ईमानदारी ओर सज्जनता रूपी अमोल शास्त्रों से ही प्रायः उसका सामना करने के पक्ष में हैं।

दण्ड केवल हमें ही क्यों?

कई बार ऐसा भी होता है कि ग़लती दूसरे भी करते हैं परन्तु सज़ा केवल हमें ही दी जाती है। तब मन में प्रश्न उठता है कि जबकि ग़लती केवल हमारी ही नहीं तो दण्ड ल हमें ही दिया जाना कहाँ का न्याय है? तब या तो हम दूसरों के भी नाम बताने

लगते हैं और यह मांग करते हैं कि या तो उन्हें भी सज़ा दी जाये और या फिर हमें भी छोड़ दिया जाये। ऐसे अवसर पर हमें अपने मन को टटोलना चाहिये और स्वयं से पूछना चाहिये कि क्या हम दूसरों के नाम बताकर उनसे बदला लेना चाहते हैं या केवल स्वयं को सज़ा से छुड़ाना चाहते हैं? क्या दूसरों को सज़ा से बचते देखकर हमारे मन में उनके प्रति ईर्ष्या पैदा होती है या हम न्याय की विकृति पर ध्यान दिलाते हैं? हमारे सामने मूल प्रश्न तो यह है कि जब हमने ग़लती की है तब उसका दण्ड भोगने में हमें क्या एतराज़ है? दूसरों को दण्ड दिलाने में हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है और हमें क्या मज़ा आता है? एक पुरुषार्थी के तौर पर हम तो यही चाहते हैं कि हम आगे के लिये भूल न करें और जो भूल हमने कर ली है उसे हम कबूल करें (मान लें) और उसके लिये यदि हमें न्याय-सम्मत दण्ड दिया जाता है तो उसे हम इस ख्याल से भोगें कि कर्म-फल एक दिन मिलना तो है ही, इसलिये की-हुई भूल के परिणामस्वरूप दण्ड भोगकर उससे निवृत्ति प्राप्त की जाये।

हमारे कहने का यह भी भाव नहीं है कि हम ख्वाहमख्वाह सीना तान कर अपने लिये दण्ड की याचना करें। पहला पुरुषार्थ तो यह होना चाहिये कि हम अपनी ग़लती को महसूस करके उसके लिये प्रायश्चित्त करें और तपस्या करके हम पाप और सन्ताप से मुक्त हों। यह भी हो सकता है कि हम अपना प्रायश्चित्त-भाव प्रकट करके क्षमा के लिये आवेदन करें अथवा दण्ड को हल्का करने के लिये कहें। परन्तु यदि कोई निर्णायक हमें क्षमा न देकर दण्ड ही देना चाहता है तो यह बात हम उस पर छोड़ दें। हम यह मानकर चलें कि हमारे जीवन लेने का अधिकार तो किसी को भी नहीं है परन्तु हाँ, हमारे अपराध के लिये हमें न्याय-सम्मत दण्ड दिया जा सकता है और वो हम इसलिये स्वीकार करते हैं कि समाज में न्याय, अनुशासन, प्रशासन और व्यवस्था बनी रहे। यदि कोई न्यायाधीश लोगों के अपराध करने पर सभी को क्षमा दे दे, तब न तो कानून चल सकेगा और न कानून बनाने की ज़रूरत ही रहेगी। हाँ, कानून के साथ स्नेह का सन्तुलन करने से दण्ड को हल्का किया जा सकता है और ग़लती करने वाले को सुधरने का मौका भी दिया जा सकता है। परन्तु अपराधी का यह अधिकार नहीं होता कि वह न्यायकर्ता (Judge) को यह कहे कि वह कितनी सज़ा दे। सज़ा की मात्रा को निर्धारित करना तो निर्णायक अथवा न्यायकर्ता ही का काम है। अपराधी अपने अपराध के निर्णय के लिये न्यायाधीश की कुर्सी पर नहीं बैठ सकता बल्कि उसके लिये तो अलग व्यवस्था बना होता है। अगर हर कोई अपने अपराध के लिये स्वयं ही दण्ड की मात्रा निश्चित करने लगे तो शायद ही कोई अपने लिये कड़ा दण्ड निश्चित करेगा, चाहे उसका अपराध कितना ही विकराल क्यों न हो। अपने बारे में तो अपराध करने से पहले ही निर्णायक अथवा जज बनना उचित है।

अगर हम पहले से ही ठीक निर्णय करते तो ग़लती करते ही क्यों? ग़लती करने का अर्थ ही यह है कि हम ठीक निर्णय नहीं कर पाते। तब हमें हमारे ग़लती के दण्ड की मात्रा निश्चित करने का अधिकार कैसे दिया जा सकता है? निस्संदेह, हम दण्ड को घटाने के बारे में प्रार्थना (Appeal) कर सकते हैं परन्तु उसके लिये हम कोई अवैधानिक या ग़ैर-कानूनी (Unlawful) तरीका नहीं अपना सकते। न ही हम न्यायाधीश (Judge) की अपमानजनक आलोचना कर सकते हैं क्योंकि न्यायाधीश की निन्दा करना (Contempt of Court) दण्ड संहिता में स्वयं एक अपराध है और न्यायाधीश उसके लिये अलग-से दण्ड दे सकता है।

कहने का भाव यह है कि ग़लती करने के बाद उद्दण्डता, उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, विद्रोह, धमकी, न्यायाधीश की निन्दा इत्यादि के कुचक्र में फंसने से सदा बचना चाहिये। सज़ा से बचने की कोशिश करने की बजाये इन पूर्वोक्त ग़लतियों को करने और उसके परिणामस्वरूप और अधिक दण्ड का भागी बनने से बचने की कोशिश करनी चाहिये बर्ना ग़लती पर ग़लती होती चली जायेगी।

ग़लती करने वाले पर मज़ाक न करके उसे प्रेम से सुधारना

ग़लती के प्रसंग में एक बात और कथनीय है। वह यह कि हम और ग़लती तो नहीं करते परन्तु ग़लती करने वाले का मज़ाक उड़ाते हैं अथवा उसके प्रति ऐसा भाव बना लेते हैं जैसे कि वह पत्थर हो और कभी बदलने वाला ही न हो। निस्संदेह, कुछ लोग बहुत मुश्किल से और देर से बदलते हैं और कुछ अपने पुरुषार्थ से न बदलकर ठोकर खाकर बदलते हैं। परन्तु देखा गया है कि किसी-न-किसी तरीके से हर व्यक्ति कभी-न-कभी बदल जाता है। अगर वह नहीं भी बदलता तो शायद उसका एक कारण यह होता है कि हम बदलने का माहौल ही पैदा नहीं करते। न हम उसे अपने जीवन से प्रेरणा दे पाते हैं, न शक्तिशाली एवं प्रभावशाली रीति से उसे समझा पाते हैं और न उसे प्रेम की चाबी लगाकर उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया को चालू कर सकते हैं। या ऐसा भी हो सकता है कि सारा समाज ही इतना बिगड़ चुका हो और समाज की व्यवस्था ही इतनी प्रदूषित हो चुकी हो कि बदलना चाहने के बावजूद भी परिस्थितियाँ और वातावरण उस व्यक्ति को दिनों-दिन अधिकाधिक कट्टर अपराधी बना देते हैं। जब कोई व्यक्ति देखता है कि यह सारा समाज ही भ्रष्ट हो चुका है तो उसमें वह अपनी भ्रष्टता को भी बनाये रखता है। वह यह मान लेता है कि यह उसकी सुरक्षा का साधन है और जीवन जीने के लिये आवश्यक है। वह ग़लती तो नहीं करना चाहता लेकिन ऐसा मानता है कि वह मजबूर है। उसके सामने कोई चारा है, न इलाज और वह यह सोच लेता है कि जो परिणाम औरों का होगा

इन करोड़ों व्यक्तियों की लम्बी-चौड़ी सूची में यदि वह भी शामिल हो गया तो क्या फर्क पड़ता है। कहने का भाव यह है कि हम मज़ाक उड़ा कर, ताने लगाकर या उसकी दाढ़ी को छूकर न केवल उसकी रही-सही नैतिकता को चोट लगाते हैं और उसके अपराध के इरादे को पक्का करते हैं बल्कि स्वयं अपने लिये एक समस्या पैदा करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि हम गलती के अलावा यह ग़फ़लत भी करते हैं कि ग़लतियाँ तो हमसे भी होती हैं, तब हमें क्या अधिकार है कि हम उसका मज़ाक उड़ायें। हमारा कर्तव्य तो यह होता है कि हम स्वयं उसकी और अपनी ग़लतियों से बचकर रहें। परन्तु उन ग़लतियों से निकालने के लिये उस व्यक्ति से हमदर्दी करते हुए उसे भी छुटकारा पाने की विधि सुझायें और उसकी हिम्मत बढ़ायें। उसकी हिम्मत को ध्वस्त करना और उसे फटकार कर या लताड़ कर अपमानित करना तो जघन्य अपराध है। अच्छा तो यह है कि हम उसमें स्वमान की भावना को जगायें, उसकी चेतना को उर्ध्वमुखी बनायें और उसमें ऐसा उत्साह भर दें कि वह ग़लती रूपी पत्थर को चकनाचूर कर दे।

हाँ, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो बार-बार ग़लती करने पर और समझाये जाने पर भी निर्लज्ज बनकर ग़लती करते चले जाते हैं और हमारे लिये परेशानी का कारण बनते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है कि हमारे विचार में उसका ग़लती करने का रोग अभी असाध्य है या बहुत ही दु:साध्य है और वह फितनी और फसाद करता है, वह आदमी नहीं आदमसिंह है; तो फिर हमें समझाने और जतलाने के बाद, प्यार और पुचकार देने के बाद उसे उसके हाल पर छोड़ देना चाहिये या कोई ऐसी विधि-विधान-सम्मत युक्ति अपनानी चाहिये जिससे वो कम-से-कम हमारे सम्पर्क में उत्पात न मचाया करे।

क्षमाशीलता

हमारी वृत्ति अथवा हमारा स्वभाव वास्तव में ऐसा होना चाहिये कि हम ग़लती करने वाले को क्षमा प्रदान करें। इससे हमारा मन निर्मल रहेगा और हम किसी का वैर-विरोध भी मोल नहीं लेंगे और हमारा मन बोझिल नहीं होगा। परन्तु बार-बार क्षमा देने से अपराधी क्षमा को क्षमा नहीं समझते। वे उसे अपना अधिकार या हमारी कमज़ोरी या बेवकूफ़ी मान लेते हैं। वे यह मान लेते हैं कि न हम न्याय-प्रणाली समझते हैं, न प्रशासन कर सकते हैं, न अपराधी को अपराधी समझने की हिम्मत रखते हैं। क्षमा इस प्रयोजन से की जाती है कि अपराधी को सुधरने का अवसर मिल जाये। क्षमा इसलिये नहीं दी जाती कि अपराधी हद से ज़्यादा बढ़ जाये और बड़े अपराध करने लगे। कोई अपराध ऐसा होता है [illegible] न्याय की दृष्टि से [illegible] है और औचित्य की दृष्टि से [illegible] है। परन्तु यदि हम क्षमा देकर किसी को और अधिक अपराधी बनाते हैं तब न तो

अध्यात्म है, न न्याय। किसी अपराध के लिये क्षमा किया जा सकता है, अन्य किसी अपराध के लिये दण्ड कम किया जा सकता है, अर्थात् कुछ क्षमा किया जा सकता है, कुछ दण्ड। कुछ अपराध ऐसे होते हैं जो अक्षम्य होते हैं। उनके लिये यदि व्यक्ति को दण्डित न किया जाये, तब न तो समाज में आदर्श एवं मर्यादा बने रह सकते हैं और न प्रशासन कार्य ही चल सकते हैं। अत: जैसे कि कहा गया है कि –

''सीख तो दीजिए तां को, जां को सीख सुहाय;
सीख न दीजिये वानरो, बइये के घर जांये।''

वैसे ही यह कहा जा सकता है कि –
''क्षमा तां को दीजिये, जां को क्षमा सुहाये,
क्षमा ना दीजिये तां को, जो हमको खाने आये।''

यदि वास्तव में वह ग़लत ही न हो तो?

कई बार ऐसा भी होता है कि हमें ऐसे लगता है कि हमारे जिस कार्य को ग़लत बताया जा रहा है, वास्तव में वह ग़लत नहीं है। दूसरे शब्दों में जब लोग हममें कमी या ग़लती बताते हैं तो हमें ऐसा महसूस होता है कि यह ग़लती नहीं है बल्कि यह तो ठीक है। ऐसी परिस्थिति में हो सकता है कि हमारी ग़लती न हो बल्कि दूसरों को ग़लतफहमी हो। तब हमें चाहिये कि हम उस ग़लतफहमी को दूर करें। नम्रता और धीरज से, स्नेह और सज्जनता से हम यह स्पष्ट करने का यत्न करें कि वास्तव में जिस बात को ग़लत कहा जा रहा है वह ग़लती कैसे नहीं है? इसके बावजूद भी यदि कुछ वरिष्ठ, हितैषी एवं अनुभवी व्यक्ति निष्पक्ष भाव से, न्याय के लक्ष्य से, हमारे कल्याण को सामने रखते हुए यदि ऐसा ही समझते हैं कि हमारी ग़लती है तो हमें झुक जाना चाहिये और निवेदन करना चाहिये कि अगर वे यह मानते हैं कि हमारी ग़लती है तब वे ठीक कहते होंगे और शायद किसी कारण से हमें यह समझ में नहीं आ रहा होगा, परन्तु जो वे कह रहे हैं वह सत्य होगा। ऐसे अवसर पर उनके सम्मान को सामने रखते हुए हमें कहना चाहिये कि हम इस बात पर और ध्यान देंगे ताकि दुबारा यह बात न हो और कि हम गहराई में जाकर विचार करेंगे कि यह ''ग़लती'' कैसे है?

हमारा ऐसा सुझाव देने का कारण यह है कि कई बार भावावेश में आकर अथवा बात को मानने में अपने मान की हानि समझकर या किसी अन्य कारण से हम ग़लती को ग़लती के रूप में देख नहीं पाते अथवा पूरा ज्ञान या पूरी समझ न होने के कारण जिसे कोई ग़लती कह रहा है, हमें वह ग़लती नहीं मालूम होती। समय आने पर तथा और अधिक अनुभवी बनने पर हम समझ जाते हैं कि वह सचमुच ग़लती थी। इसलिये इस बात

को सिद्ध करने या इस बात की ज़िद्द करने की ज़रूरत नहीं है कि "जिसे गलती कहा जा रहा है वह गलती नहीं है, बल्कि वह तो ठीक है।" जिसे अधिक जानकार, अधिक समझदार मित्र-जन गलती कह रहे हैं उसे न समझने के कारण यदि हम तर्क करते चलें और यह सिद्ध करने में ही लगे रहें कि वह गलती नहीं है तो इसका अर्थ यह होता है कि हम उनसे ज्यादा समझदार हैं या उसका यह भाव निकलता है कि वे गलत अथवा झूठ बोल रहे हैं या अन्याय की बात कर रहे हैं। अतः अपनी बात को स्पष्ट रूप से रखने का तो हमारा अधिकार है परन्तु अड़े रहने अपने विचार से टस से मस न होने तथा बड़ों या मित्र-जनों की बात को गलत बताने का तो यह अर्थ निकलता है कि हम धृष्टता पर तुले हुए हैं अथवा अभिमानी हो चुके हैं। अथवा अब मित्रों को भी मित्र नहीं मानते। अपनी बात बताना अलग चीज़ है परन्तु दूसरों को उसे सत्य मनवाने की ज़िद्द करना अलग चीज़ है। एक तो हम मानते नहीं और दूसरे हम अपने से बड़ों को मनवा कर ही छोड़ना चाहते हैं। यह तो रूहानियत और रूहाब से परे की चीज़ है। गलती हुई या नहीं हुई — इसको लेकर आपसी सम्बन्धों को बिगाड़ लेना, स्नेह, सहानुभूति, परस्पर सम्मान को छोड़कर बड़ों के सामने डट जाना — यह न तो शालीनता है, न शिष्टता और न ही मित्रता या नम्रता। यह तो जीत-हार की वृत्ति तथा क्षत्रिय भाव को अपनाना है, जो कि ब्राह्मणों को शोभा नहीं देता। आगे चलकर इससे मन-मुटाव होता है, स्नेह टूटता है और एक-दूसरे के दिल से दूर हो जाते हैं। इसकी बजाय यदि हम यह मान लेते हैं कि हमसे यह गलती हुई होगी और कि हम इसके लिये क्षमा चाहते हैं और हम बड़ों का आशीर्वाद लेकर आगे बढ़ेंगे, तब वह गलती भी हल्की हो जाती है और बात भी समाप्त हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में हार मान लेने में भी हमारी जीत है क्योंकि बड़ों के आशीर्वाद में सदा जीत ही समाई हुई होती है। उनका सामना करने से हमारी जीत भी वास्तव में हार हो जाती है और इसमें नशा [illegible] हो जाता है और आगे के लिये एक-दूसरे से बात करने में भी रस नहीं आता। इसलिये ऐसी परिस्थिति में झुकना वास्तव में झुकना नहीं है क्योंकि [illegible] झुकना देखकर बड़े हमें मान लेते हैं, गले लगाते हैं और हमें ऊंचा उठाते हैं।

अध्यात्म है, न न्याय। किसी अपराध के लिये क्षमा किया जा सकता है, अन्य किसी अपराध के लिये दण्ड कम किया जा सकता है, अर्थात् कुछ क्षमा किया जा सकता है, कुछ दण्ड। कुछ अपराध ऐसे होते हैं जो अक्षम्य होते हैं। उनके लिये यदि व्यक्ति को दण्डित न किया जाये, तब न तो समाज में आदर्श एवं मर्यादा बने रह सकते हैं और न प्रशासन कार्य ही चल सकते हैं। अत: जैसे कि कहा गया है कि –

''सीख तो दीजिए तां को, जां को सीख सुहाय;
सीख न दीजिये वानरो, बइये के घर जांये।''

वैसे ही यह कहा जा सकता है कि –
''क्षमा तां को दीजिये, जां को क्षमा सुहाये,
क्षमा ना दीजिये तां को, जो हमको खाने आये।''

यदि वास्तव में वह ग़लत ही न हो तो?

कई बार ऐसा भी होता है कि हमें ऐसे लगता है कि हमारे जिस कार्य को ग़लत बताया जा रहा है, वास्तव में वह ग़लत नहीं है। दूसरे शब्दों में जब लोग हममें कमी या ग़लती बताते हैं तो हमें ऐसा महसूस होता है कि यह ग़लती नहीं है बल्कि यह तो ठीक है। ऐसी परिस्थिति में हो सकता है कि हमारी ग़लती न हो बल्कि दूसरों को ग़लतफहमी हो। तब हमें चाहिये कि हम उस ग़लतफहमी को दूर करें। नम्रता और धीरज से, स्नेह और सज्जनता से हम यह स्पष्ट करने का यत्न करें कि वास्तव में जिस बात को ग़लत कहा जा रहा है वह ग़लती कैसे नहीं है? इसके बावजूद भी यदि कुछ वरिष्ठ, हितैषी एवं अनुभवी व्यक्ति निष्पक्ष भाव से, न्याय के लक्ष्य से, हमारे कल्याण को सामने रखते हुए यदि ऐसा ही समझते हैं कि हमारी ग़लती है तो हमें झुक जाना चाहिये और निवेदन करना चाहिये कि अगर वे यह मानते हैं कि हमारी ग़लती है तब वे ठीक कहते होंगे और शायद किसी कारण से हमें यह समझ में नहीं आ रहा होगा, परन्तु जो वे कह रहे हैं वह सत्य होगा। ऐसे अवसर पर उनके सम्मान को सामने रखते हुए हमें कहना चाहिये कि हम इस बात पर और ध्यान देंगे ताकि दुबारा यह बात न हो और कि हम गहराई में जाकर विचार करेंगे कि यह ''ग़लती'' कैसे है?

हमारा ऐसा सुझाव देने का कारण यह है कि कई बार भावावेश में आकर अथवा बात को मानने में अपने मान की हानि समझकर या किसी अन्य कारण से हम ग़लती को ग़लती के रूप में देख नहीं पाते अथवा पूरा ज्ञान या पूरी समझ न होने के कारण जिसे कोई ग़लती कह रहा है, हमें वह ग़लती नहीं मालूम होती। समय आने पर तथा और अधिक अनुभवी बनने पर हम समझ जाते हैं कि वह सचमुच ग़लती थी। इसलिये इस बात

को सिद्ध करने या इस बात की ज़िद्द करने की ज़रूरत नहीं है कि "जिसे ग़लती कहा जा रहा है वह ग़लती नहीं है, बल्कि यह तो ठीक है।" जिसे अधिक जानकार, अधिक समझदार मित्र-जन ग़लती कह रहे हैं उसे न समझने के कारण यदि हम तर्क करते चलें और यह सिद्ध करने में ही लगे रहें कि वह ग़लती नहीं है तो इसका अर्थ यह होता है कि हम उनसे ज्यादा समझदार हैं या उसका यह भाव निकलता है कि वे ग़लत अथवा झूठ बोल रहे हैं या अन्याय की बात कर रहे हैं। अत: अपनी बात को स्पष्ट रूप से रखने का तो हमारा अधिकार है परन्तु अड़े रहने अपने विचार से टस से मस न होने तथा बड़ों या मित्र-जनों की बात को ग़लत बताने का तो यह अर्थ निकलता है कि हम धृष्टता पर तुले हुए हैं अथवा अभिमानी हो चुके हैं। अथवा अब मित्रों को भी मित्र नहीं मानते। अपनी बात बताना अलग चीज़ है परन्तु दूसरों को उसे सत्य मनवाने की ज़िद्द करना अलग चीज़ है। एक तो हम मानते नहीं और दूसरे हम अपने से बड़ों को मनवा कर ही छोड़ना चाहते हैं। यह तो रूहानियत और रूहाब से परे की चीज़ है। ग़लती हुई या नहीं हुई – इसको लेकर आपसी सम्बन्धों को बिगाड़ लेना, स्नेह, सहानुभूति, परस्पर सम्मान को छोड़कर बड़ों के सामने डट जाना – यह न तो शालीनता है, न शिष्टता और न ही मित्रता या नम्रता। यह तो जीत-हार की वृत्ति तथा क्षत्रिय भाव को अपनाना है, जो कि ब्राह्मणों को शोभा नहीं देता। आगे चलकर इससे मन-मुटाव होता है, स्नेह टूटता है और एक-दूसरे के दिल से दूर हो जाते हैं। इसकी बजाय यदि हम यह मान लेते हैं कि हमसे यह ग़लती हुई होगी और कि हम इसके लिये क्षमा चाहते हैं और हम बड़ों का आशीर्वाद लेकर आगे बढ़ेंगे, तब वह ग़लती भी हल्की हो जाती है और बात भी समाप्त हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में हार मान लेने में भी हमारी जीत है क्योंकि बड़ों के आशीर्वाद में सदा जीत ही समाई हुई होती है। उनका सामना करने से हमारी जीत भी वास्तव में हार हो जाती है और इसमें मज़ा किरकिरा हो जाता है और आगे के लिये एक-दूसरे से बात करने में वह रस नहीं आता। इसलिये ऐसी परिस्थिति में झुकना वास्तव में झुकना नहीं है क्योंकि हमें झुकता देखकर बड़े हमें थाम लेते हैं, गले लगाते हैं और हमें ऊंचा उठाते हैं।

ग़लती के बारे में और कई बातें कही जा सकती हैं। परन्तु स्थान की सीमा को सामने रखते हुए फिलहाल इसकी चर्चा यहीं समाप्त करते हैं। इसको पढ़ने से यदि किसी को कोई लाभ हुआ हो, किसी को कोई स्पष्टीकरण मिला हो तो वे भी हमें लिख सकते हैं और यदि किसी की कोई गुत्थी रह गई हो तो वे भी सूचित कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप हो सकता है कि शायद किसी बात को स्पष्ट किया जाये।



सादगी

इतिहास में ये पढ़ने को मिलता है कि पहले जब कोई शक्तिशाली राजा विजयी होता था तो वो युद्ध में पराजित सैनिकों को अथवा उस भू-खण्ड के कुछ लोगों को बन्दी बना लेता था। वे बन्दी गुलामी का जीवन व्यतीत करते थे। अपने स्वामी को छोड़कर जाने की उन्हें स्वतन्त्रता नहीं थी। उन्हें जैसी आज्ञा मिलती थी, वैसा ही उन्हें करना पड़ता था। कोई भी स्वामी अपने गुलाम को बेच भी सकता था और दूसरा कोई उन्हें खरीद भी सकता था। गोया उन गुलामों का अपना जीवन भी उनके अपने हाथ में नहीं था और वो अपने स्वामी के दिये हुए कपड़े-लत्ते और रोटी के टुकड़ों पर अपना जीवन गुजारते थे। वो मालिक की इच्छओं के गुलाम होते थे। अपने स्वामी की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए ही उनका जीवन होता था। आधुनिक इतिहास में ये बताया जाता है कि इस मध्यकालीन दास-प्रथा का अन्त कर दिया गया है और अब हर-एक मानव को अपने अधिकार प्राप्त हैं और वह पूर्णत: स्वतन्त्र है। इस बात को लेकर ये कहा जाता है कि आज का समाज एक सभ्य समाज है क्योंकि इसमें दासता या गुलामी नहीं है बल्कि इन्सान जैसा चाहे वैसा जीवन जी सकते हैं।

परन्तु हम देखते हैं कि गुलामी तो आज भी बनी हुई है, केवल उसका रूप बदला है और उसके परिवेश ही में परिवर्तन आया है। आज का मनुष्य यद्यपि उस अर्थ में प्राय: गुलाम नहीं है जिस अर्थ का ऊपर उल्लेख है परन्तु अपनी "इच्छाओं का गुलाम" तो वो अब भी है। उसकी एक इच्छा पूरी होती है तो उसके पीछे दस और इच्छाएं इन्तजार की पंक्ति में पहले ही से खड़ी होती हैं। संसार में दूसरी पंक्तियां चाहे वे कितनी भी बड़ी हों, समाप्त हो जाती हैं परन्तु इच्छाओं का क्यू (Queue) तो प्राय: असमाप्य मालूम होता है। उसका एक कारण शायद ये है कि मनुष्य अपने मन में ये माने रहता है कि फलां इच्छा पूरी हो जाने के बाद उसे कोई भी इच्छा आक्रान्त नहीं करेगी। परन्तु हम देखते हैं कि वास्तव में ऐसा होता नहीं है। बल्कि, जैसे राजा भरत हरि ने कहा है कि – "मनुष्य भले ही बूढ़ा हो जाता है, परन्तु उसकी इच्छाएं और तृष्णाएं और भी अधिक जवान हो जाती हैं" और मनुष्य "चाहिए-चाहिए, ये नहीं चाहिए परन्तु वो चाहिए" – इस प्रकार की रट लगाता ही रहता है। जैसे मकड़ी अपने मुख से सूक्ष्म धागे निकाल कर उसमें ही फंस जाती है। वैसे इच्छा भी मकड़ी के जाले के समान है जिसमें व्यक्ति अपने ही संकल्पों से चला जाता है और फिर इन झंझटों में फंस जाने के बाद उसे ख्याल आता है कि आखिर "चाहिए-चाहिए" की बीमारी अथवा जेल से छूटने का उपाय क्या है?

सादगी इच्छाओं को कम करने का एक साधन है

अनुभव के आधार पर मनीषियों ने कहा है कि इच्छा अविद्या की पुत्री है। इसलिये उन्होंने ये परामर्श दिया है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को भले ही पूरा करे परन्तु वह इच्छा को अविद्या मान कर उनसे मुक्त होने की चेष्टा करे। इसके लिये ज़रूरी है कि उसके जीवन में सादगी अथवा सरलता हो।

विश्लेषणात्मक विधि से देखा जाए तो जीवन को सादा तरीके से व्यतीत करना एक ऐसा उपाय है कि जिससे मनुष्य अपनी लौकिक इच्छाओं को यदि पूर्णत: शान्त नहीं भी कर सकते तो न्यूनतम करने में सफ़ल हो जाता है। सादगी मन का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिससे मनुष्य के कई अन्य गुणों का भी विकास होता है और उसे अनेकानेक लाभ होते हैं। ये भी जीवन की एक कला है और सोचने का एक तरीका है तथा काम करने की एक विधि है या यों कहिए कि समाज में कुशलतापूर्वक रहने की एक नीति है।

सादगी सौ उलझनों का हल

आम तौर पर ये तो समझा ही जाता है कि सादा व्यक्ति तड़क-भड़क और दम्भ तथा दिखावे से दूर रहता है। वो न 'शो' (Show) करता है न दूसरों के शो पसन्द करता है। शो करके वह दूसरों को ग़लतफहमी में नहीं डालना चाहता और उनकी आकांक्षा और अपेक्षाओं को नहीं बढ़ाना चाहता क्योंकि उसे मालूम है कि एक बार लोगों की अपेक्षाओं (Expectations) को भड़का देने से फिर आगे के लिए उसे स्वयं ही नतीजा भुगतना पड़ेगा। आज यदि आप किसी को दोपहर या रात्रि के भोजन में 36 प्रकार के व्यंजन खिला देंगे तो अगली बार फिर यही परिपाटी बनाई रखनी पड़ेगी। फिर वही चाकरी करनी पड़ेगी और दूसरों की तृष्णा भड़का कर उनके लिये दरवाजे खुले रखने पड़ेंगे और घर को एक अच्छे-खासे होटल का रूप देना पड़ेगा, बीबी को हलवाइन का रोल, बहुओं को बावर्ची का और स्वयं को एक खानसामा (Waiter) बनाए रखना पड़ेगा। गुलामी केवल आदमियों व इन्द्रियों की ही नहीं करनी पड़ेगी और आदत केवल दिखावे की ही नहीं होगी बल्कि लोगों पर किसी तरह रौब जमाए रखना और शान जमाए रखना अपना एक मिज़ाज बन जाएगा। न केवल 36 प्रकार के भोजन पेट को कुरुक्षेत्र का मैदान समझकर आपस में लड़ाई करेंगे बल्कि उनकी सुलह-सफाई के लिये अगले दिन डाक्टर साहब से दुआ-सलाम करनी पड़ेगी और फिर मेहनत मज़दूरी से लग जाना पड़ेगा ताकि पैसा कमाया जाए और दिखावा-तमाशा दिखाने के लिये और व्यंजनों की नुमायश के लिये फिर से पैसे का इन्तज़ाम किया जाये। तो बिना सादगी वाले व्यक्ति की तो यों ही कोल्हू के बैल की तरह उम्र कट जायेगी। केवल पैसे ही के पीछे नहीं भागना पड़ेगा बल्कि और

कमाई के लिये नये-नये तरीके निकालने पड़ेंगे और इस प्रकार चिन्ता की चक्की भी ग़ले में डालकर चलानी पड़ेगी। स्पष्ट है कि इन सब उलझनों से बचने का उपाय है – सादगी।

सादगी की शोभा निराली है

सादगी केवल भोजन ही की नहीं होती। कई लोग कपड़ों पर भी खूब खर्चा करते हैं। कई बूटों और जूतों के इतने जोड़े इकट्ठे कर लेते हैं कि उनका कमरा बाटा (Bata) की एक दूकान अथवा शो रूम मालूम होता है। अन्य कई नैक टाई (Neck-ties) के बीसों या सैंकड़ों नमूने अपने पास रखते हैं और कई शरीर की सजावट के भांति-भांति के कृत्रिम साधन अपने मेक-अप (Make-up) के लिये संग्रहीत कर उन्हें प्रयोग करते हैं। शरीर और वस्त्र साफ-सुथरे और भला लगने वाले तो होने ही चाहिये परन्तु सात्विकता और सादगी की जो आभा और शोभा है उसका कृत्रिमता से कोई मेल या मुकाबला नहीं है। सादा व्यक्ति से जो सूक्ष्म प्रकम्पन आते हैं, वे उसके मन की सरलता की ओर आकर्षित करते हैं। लगता है कि यह व्यक्ति मन में भी सीधा-सादा है; इस में दम्भ या दिखावा नहीं है। उसकी शान ही कुछ निराली होती है।

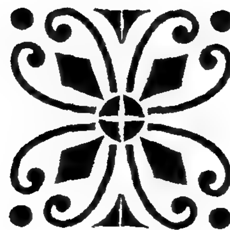
इस प्रकार सादगी मन की एक विशेष वृत्ति और मनुष्य की एक न्यारी प्रवृत्ति को सूचित करती है। यह प्राय: इस बात का प्रतीक है कि व्यक्ति प्रकृति के पीछे पागल नहीं है, यह विचारों की सूक्ष्मता का शौकिन है। जिस व्यक्ति की अपनी बहुत-सी कामनाएं रही हुई होंगी, वह दूसरों के प्रति क्या शुभ कामना करेगा? जो स्वयं ही सन्तुष्टता का अनुभव नहीं करता होगा, वह दूसरों को क्या शान्ति देगा? अत: सन्तुष्टता तथा निष्कामता योगी जीवन के दो चप्पू हैं जिन से वह पार उतरता है परन्तु यह चप्पू सादगी ही के हाथ में थमे रहते हैं। अत: जब कि अपनी मनोवृत्ति को तथा प्रवृत्ति को हमें सुधारना है तो उसके लिये सादगी का मार्ग ज़रूरी है।

सादगी की वृत्ति कम खर्च की वृत्ति है। जिस में सादगी नहीं, वह केवल पैसे ही फिजूल खर्च नहीं करता बल्कि समय तथा शक्ति को भी व्यर्थ गँवाता है। समय और शक्ति की भी बचत करना तथा विचारों को भी व्यर्थ न चलाना सादगी ही में शामिल है। ऐसी सादगी ही योगी की सादगी होती है वरना केवल कपड़ों की सादगी तो किन्हीं कंजूस लोगों की भी होती है और कमरों तथा बैठकों का श्मशानघर की तरह दिखाई देना तो किन्हीं मनहूस लोगों के यहाँ भी होता है। सादा व्यक्ति के लिये ही कहा गया है कि वह खर्च कम करता है परन्तु उसकी शोभा-आभा, स्थिति और शान ऊंची होती है – "कम खर्च बाला नशीन"। निश्चिन्त बने रहने, वृत्तियों का निरोध करने, लोभ के क्षोभ से मुक्त होने की दवा सादगी ही है जो अमृत धारा का काम करती है।

हाँ, आप उनमें परिवर्तन लाने का यत्न करेंगे, उनके हाव-भाव में भी दिव्यता भरने की कोशिश करेंगे। परन्तु यदि आप इसमें सफल नहीं हो पाते तो?

तब आप एक-साथ रास शायद नहीं करेंगे बल्कि साक्षी होकर देखेंगे। "न्यारे और न्यारेपन" की नीति आप अपनायेंगे और अपने मन ही मन में मौज मनायेंगे। आप यह समझेंगे कि कर्मों का कुछ हिसाब-किताब ही ऐसा है; संस्कारों और स्वभाव का कुछ अन्तर ही इतना है कि संस्वरात्मिकता से रास रचाना यदि असम्भव नहीं है तो अति दुस्साध्य अवश्य है।

अत: पहले परिवर्तन लाने का यत्न करने के बाद तालमेल को कठिन मानकर एक परमपिता परमात्मा ही से मन का तालमेल करना श्रेयस्कर है। परमात्मा ही एक ऐसी सर्व-कला विशेषज्ञ आत्मा हैं कि जिनके साथ कोई भी रास कर सकते हैं, तालमेल स्थापित कर सकते हैं। अत: ऐसी स्थिति में संस्वरात्मिकता का यही मात्र उपाय है। परमपिता परमात्मा से मन की लय मिलाकर, लवलीन होकर ही अपने में संस्वरात्मिकता बनाये रखने में कल्याण है।



अवधान तथा सावधान

इस ईश्वरीय विश्व-विद्यालय में हम जो विद्या और विज्ञान सीखते हैं, उसका लक्ष्य सरल शब्दों में तथा आम बोल-चाल की भाषा में तो यही है कि हम विकारजनित तथा विकारोत्पादक संस्कारों को मिटाते हुए अब निर्मल, निर्द्वन्द्व, निर्विकार तथा निर्लिप्त रहें और स्वरूप-स्थित होकर आनन्द एवं शान्ति तथा अपनी आदि और अनादि स्थिति को प्राप्त करें। इस लक्ष्य को सामने रख के जब इस ईश्वरीय विश्व-विद्यालय के विद्यार्थी और योगाभ्यासी पुरुषार्थ करते हैं तो उनके विकार-युक्त संस्कार मन्द पड़ना शुरू हो जाते हैं अथवा वे पुरुषार्थ के अनुसार क्षीण होने लगते हैं। "जैसा लक्ष्य वैसे लक्षण" की उक्ति के अनुसार पुरुषार्थी के जीवन में प्रवित्रता शान्ति और आनन्द का उदय होता है और वे दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक प्रकाशमान होने लगते हैं।

परन्तु ये भी देखा गया है कि चलते-चलते कोई-कोई संस्कार, अपने लिये अनुकूल वातावरण पाकर, फिर से प्रगट होने लगता है। जो क्रोध पहले शान्त होता हुआ मालूम होता था, अब किसी उत्तेजक परिस्थिति के आने पर पहले से भी ज्यादा विकराल स्थिति में व्यक्त होने लगता है। जिस मोह-ममता के बारे में किसी व्यक्ति ने सोच रखा था कि अब ये समाप्त हो गये हैं, अब वे एक मौका आने पर और भी अधिक विकराल रूप में सामने आते हैं। यही बात अन्य विकारों और संस्कारों के बारे में भी कही जा सकती है। इन विकारों और संस्कारों के प्रगट होने का एक परिणाम ये होता है कि पुरुषार्थी अपनी हिम्मत टूटते हुए, हौसला छूटते हुए, मन ऊबते हुए और लुटिया डूबते हुए महसूस करता है। वह हारा-हुआ और थका-हुआ, टूटा-हुआ और रूठा-हुआ महसूस करते-करते एक ओर बैठ जाने का संकल्प करने लगता है। लक्षणों को मन्द पड़ते देखकर लक्ष्य को ही छोड़ देने का इरादा कर लेने की बात सोचता है। उसे ये बात समझ में भी नहीं आती कि वास्तव में लक्ष्य ढीला होने से ही लक्षण ढीले होते हैं और लक्ष्य हट जाने से ही लक्षण मिटने लगते हैं। वह 'तर्क-दर्शन' को छोड़कर 'कुतर्क-दर्शन' को अपनाने लगता है, परन्तु अपने मन में ये समझता है कि वो ठीक निर्णय कर रहा है।

उलझन को सुलझायें कैसे?

अत: ये प्रश्न बार-बार सामने आता है कि मन के दुर्बल होने पर और दिलशिकस्त की तरह स्थिति आने पर व्यक्ति क्या करे? क्या वह किनारा कर के बैठ जाए? क्या वह शास्त्र-प्रसिद्ध अर्जुन की तरह से अपने धनुष-बाण को धरती पर रख दे और अपनी को हाथ पर टिका कर मायूसी में डूब जाए? आखिर वह क्या करे और क्या न

उलझन को वह कैसे सुलझाए? इस परिस्थिति को कैसे पार करे? मन की इस परीक्षा से कैसे पास हो? मायूसी और उदासी की फांसी के फन्दे से वह कैसे छूटे? आखिर इस रोग का कारण क्या है और निवारण क्या है? इस विषय में सबसे पहले समझने की बात तो ये है कि जिन विकारों और संस्कारों को हम मिटाने का यत्न करते हैं, वे एक ही प्रहार से क्षीण नहीं हो जाते। वे निस्सन्देह क्षीण अथवा निर्बल तो हो जाते हैं, परन्तु तुरन्त ही उनका बीज नाश नहीं होता। उनकी गहरी जड़ों को निकालने में समय लगता है। उनका अगर अंश भी रह जाए तो वंश की फिर से उत्पत्ति हो जाती है। अत: यदि दुश्मन भूमिगत (underground) हो जाता है, फरार (भगोड़ा) हो जाता है अथवा 'रूहपोष' (गुप्त वेशधारी) हो जाता है तो हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि उसकी अन्तिम मृत्यु हो गई है अथवा उसका सर्वनाश हो गया है। बल्कि हो सकता है कि वह अन्दर ही अन्दर पल रहा हो और बढ़ रहा हो और किसी दिन टाईम बाम्ब की तरह फूट कर हमारी धज्जियां उड़ा दे और दर्शकों में भी हलचल पैदा कर दे। अत: ये देखने की ज़रूरत है कि 'इन्सान', 'खानदान', और 'मैदान', दुश्मन से साफ है या नहीं या दुश्मन घुसपैठ कर के प्रगट होने की प्रतीक्षा में कहीं पनप रहा है। इसके लिये हम कहते हैं कि 'सावधानी' की आवश्यकता है। जहाँ भी कहीं खतरा हो या दुश्मन कहीं घात लगाए बैठा हो, किसी जंगली-जानवर की आशंका हो तो सदा यही कहा जाता है कि – "सावधान, होशियार, खबरदार (beware or takecare)"! जब भी किसी को कोई आवश्यक बात बताई या समझाई जा रही हो तो उसे कहा जाता है कि इसे 'ध्यान' (attention) से सुनो, जागते रहो, चौकन्ने (alert) होकर सुनो। अत: 'ध्यान' और 'सावधान' हमारे पुरुषार्थ के दो आवश्यक पहलू हैं। जीवन की नाव को उस ओर ले जाने के लिये ये हमारे नाव के दो चप्पू हैं। किसी ने कहा है –

"सौ दा नोट भुनादा तो गया,
मुन्डे दा व्याह कराया तो गया,
नौकर नू पड़ोसन नाल मिलाया तो गया।"

अब इस में एक लाईन और जोड़ दीजिए कि पुरुषार्थी ने अगर 'अवधान' और 'सावधानी' को गंवाया तो वो भी गया। इसलिये हमें बार-बार कहा गया है कि केयरफुल (Careful;सावधान) और चेयरफुल (Cheerful;खुशदिल) और उत्साहित बनो अथवा अलर्ट (alert;चौकन्ने) और एक्टिव (active;क्रियाशील अथवा कर्मठ) बनो।

ये हमें मालूम होना चाहिये कि हमारे पूर्व संस्कार, जिनसे हम सदा के लिये छूटना चाहते हैं। तभी उत्पन्न होते हैं जब हममें आलस्य और अलबेलापन आता है और हम

स्वयं को ठीक नहीं रखते हैं तथा आगे बढ़ने की अपनी 'ज़िम्मेदारी' (Responsibility) नहीं समझते तथा 'उत्साह' को गँवा बैठते हैं। अगर हमारा उत्साह बना रहे तो हममें रचनात्मक विचार आयेंगे और उससे हमारी उन्नति होगी और खुशी भी बढ़ेगी। जब किसी पुरुषार्थी में मानसिक रूप से आलस्य आता है और जब अपने को ठीक अथवा उन्नति के पथ पर बनाए रखने की अपनी ज़िम्मेवारी को भूल जाता है और दूसरों की गलती, कमज़ोरी को देख, उन्हें ज़िम्मेवार ठहराता है, उन्हें कसूरवार मानता है, तभी उसमें गिरावट शुरू होती है। जब कोई व्यक्ति अपनी उन्नति करते रहने के लिए स्वयं को ज़िम्मेवार मानता है और अपने लक्ष्य को सामने रखता है, तभी उसमें उमंग और उत्साह बना रहता है। लक्ष्य को नीचे करने से और अपने लिये अपनी ज़िम्मेवारी को हल्का करने से उत्साह और उमंग कम होते हैं और उनकी जगह अलबेलापन और आलस्य आ जाते हैं और उसमें परिणामस्वरूप मनुष्य कुछ उद्यम किये बिना ही थका हुआ अनुभव करता है अथवा ऊब जाता है और इस सबके कारण से ही पिछले निकृष्ट संस्कार मौका देखकर फिर से निकल आते हैं।

हमें अथाह ज्ञान मिला है, बहुत विशाल योग सिखाया गया है और अनेकानेक गुण धारण करने के लिये प्रेरित किया गया है। विश्व भर के नर-नारियों की तथा जल, थल, नभ, चर, अचर – यहाँ तक कि तत्वों आदि की भी सेवा करने का उद्देश्य हमें दिया गया है। तब यदि हम अपनी ज़िम्मेवारी समझें तो रुकने, ढीला चलने, ऊबने ('बोर' होने) इत्यादि की गुंजायश ही कहाँ है। हमें तो उठ खड़ा होने, चलने, तेज़ गति से दौड़ने, मंजिल की ओर लपकने तथा औरों को भी ले चलने इत्यादि का विशाल कार्य करना है; अनेक गुण धारण करने हैं; नित्य ज्ञान की गहराई में जाकर रत्न पाने हैं; योग की गुह्यता में बैठ कर अधिकाधिक आनन्द को अर्जित करना है – हमें फुर्सत कहाँ है? इसलिये, आलस्य, अलबेलापन तथा निरुत्साहित और गैर-ज़िम्मेवारी से सावधान! लक्ष्य को हल्का करने, ढीला करने, नीचा करने तथा छोड़ने की प्रवृत्ति से भी सावधान!

इसके साथ ज्ञान पर हमारे ध्यान, योग तथा दिव्य गुणों की धारणा पर भी हमारे ध्यान और विश्व की तपस्या एवं त्याग-युक्त वृत्ति से सेवा करने पर भी हमारा ध्यान ही योग है और ध्यान ही पुरुषार्थी को महान् बनाता है।



बढ़ना आयु का

इस परिवर्तनशील संसार का एक यह अपरिवर्तनीय नियम है कि हरेक चीज़ धीरे-धीरे या जल्दी-जल्दी पुरानी ज़रूर होती है। जैसे-जैसे आयु व्यतीत होती जाती है, वैसे-वैसे उसके कुछ चिह्न भी प्रकट होने लगते हैं। जन्म से लेकर मरण तक, जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, वैसे-वैसे बाल्यावस्था, तरुणावस्था अथवा किशोरावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था इत्यादि के प्रभाव और लक्षण प्रकट होते हैं। वृद्धावस्था में आखिर एक दिन ऐसा आता है जब शरीर जर्जर, अंग शिथिल, तन दुर्बल और मन उत्साहहीन हो जाता है। और अन्त में मनुष्य वृक्ष के एक ढूठ की तरह पड़ा होता है। किसी विरले ही का उत्साह बना रहता है, वर्ना प्राय: ये हाल बड़े-बड़े सेनापतियों का, अपने ज़माने के प्रसिद्ध पहलवानों का, शौहरत प्राप्त शूरवीरों का और हिमालय पर चढ़ने की हिम्मत वालों का भी होता है। संसार का परिवर्तन किसी को भी नहीं छोड़ता। उसकी गति को कोई मन्द तो कर सकता है परन्तु बन्द नहीं कर सकता और एक परिवर्तन के बाद फिर वो पहले वाली स्थिति इस काल-चक्र में फिर लौटकर नहीं आती। इसीलिए किसी ने कहा है कि –

जो जा के न आये वो जवानी देखी,
जो आ के न आये वो बुढ़ापा देखा।

जन्म-मरण के इस चक्र को तो प्राय: सभी जानते हैं। हाँ, जो जवानी के नशे में हैं, वे कम गम्भीरता से जानते हैं और जो बुढ़ापे के साये में हैं, वे इसके भुक्त-भोगी हैं और इसके अंजाम को जानते हैं। परन्तु ध्यान देने की एक बात यह है कि आयु का बढ़ना अपने साथ और बहुत-कुछ लेकर आता है। उसके लिये प्राय: लोग पहले-से ही तैयार नहीं होते हैं। उदाहरण के तौर से व्यक्ति की जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, या यों कहें कि जैसे-जैसे आयु ढलती है, वैसे-वैसे समाज में, सम्बन्धों में, परस्पर स्नेह-सौहार्द में तथा सम्मान और स्थिति में भी काफी फेर-बदल हो जाते हैं जिनका व्यक्ति को सामना करना पड़ता है, परन्तु सामना करने की सूझ और क्षमता उनमें नहीं होती। यहाँ हम उसके कुछ उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करना चाहेंगे।

मान लीजिये कि एक व्यक्ति 28 वर्ष का है और उसका एक बेटा 4 वर्ष का है। बेटा समझता है कि पिताजी तो मुझसे बहुत ही बड़े हैं; मेरा तो उनसे कोई भी मुकाबला नहीं है। मुझमें न शारीरिक सामर्थ्य है न धन का बल, न कुछ अनुभव और न कुछ धन्धा-दुकान करने की समझ। इधर पिताजी भी समझते हैं कि – "ये तो मेरा छोटा-सा बच्चा

है, बहुत लवली (Lovely) है।'' जब वह बच्चा हँसते हुये दाँत निकालता है तो पिताजी का चित्त गदगद हो उठता है। वे अपना सब-कुछ उस पर लुटाने को तैयार होते हैं। वे सोचते हैं कि – ''मैं भले ही मर जाऊं परन्तु यह मेरे नयनों का नूर न जाये।'' अब वही बच्चा जब 20 वर्ष का है तो पिताजी की आयु 44 वर्ष होती है। पहले पिताजी की आयु उससे 7 गुणा थी। अब लगभग दो-सवा दो गुणा ही रह जाती है। गोया अनुपात बहुत कम हो जाता है। पहले बच्चा दो फुट लम्बा था तो पिता जी बच्चे को अंगुली पकड़ कर ले जाते थे या जब वह छह मास का था तो उसे पीठ पर भी ले जाते थे और अब बच्चा पिताजी को स्कूटर पर पीछे बिठाकर ले जाता है। पहले बच्चे का चेहरा कद्दू की तरह साफ थे परन्तु अब तो वह दाढ़ी-मूंछों वाला हो गया है। तन और मस्तिष्क में काफी अन्तर आ गया है। पहले जब वह 4 वर्ष का था, तब तो कहा जा सकता था कि – ''तुम अभी बच्चे हो अक्ल और दाँत के कच्चे हो'', परन्तु अब नहीं कहा जा सकता। अब पिता जी की आयु ढलना शुरू होती है और बच्चे की आयु जोबन (यौवन) में आ रही होती है।

फिर जब पिता जी की आयु साठ वर्ष की होती है तो 4 वर्ष का बच्चा छत्तीस वर्ष का हो जाता है। अब तो अनुपात दुगुणा भी नहीं रहता। अब कोई-कोई पिताजी स्वयं ''दाँत के कच्चे'' हो जाते हैं और यदि उन्होंने दाँतों की ठीक देखभाल न की हो तो ''राम-राम'' की बजाय ''लाम-लाम'' कहने लगते हैं। जैसे कि वह बच्चा कभी एक वर्ष की आयु में कहा करता था। परन्तु यह बात तो अलग रही, ध्यान देने की बात तो यह है कि जब वह बच्चा 4 वर्ष का था तब बच्चे को पिताजी से बहुत अपेक्षाएं होती थीं कि वे बाज़ार से उसके लिये खिलौने लायेंगे, उसके जन्मदिन पर उसे गिफ्ट (gift) देंगे और प्यार, पुचकार व स्नेह से उसे अपने सीने से लगाकर उसे अपनी बांहों में भर लेंगे। परन्तु जब बच्चा बीस वर्ष या अधिक आयु का होता है तब पिता जी समझते हैं कि – ''अब यह बड़ा हो गया है, अब इसे चाहिये कि जल्दी-से अपने पैरों पर खड़ा होने का इन्तज़ाम करे। अब यह कोई छोटा थोड़े ही है कि हम इसे चूमते और थपथपाते रहें? अब तो इसे हमारे बोझ को सम्भालने की तैयारी करनी चाहिये। बस, अब यह जल्दी से पढ़कर धन्धे में लग जाये और अपनी ज़िम्मेवारियाँ सम्भाल ले।'' इस प्रकार अब पिताजी को बच्चे से अपेक्षाएं होती हैं।

इस प्रकार, आयु बढ़ने पर अब सम्बन्ध, स्नेह, दृष्टिकोण आदि में अन्तर आ जाता है। उस परिवर्तन के कारण कई बातें सामने आती हैं। अब बच्चा समझता है कि पिताजी तो ''पुरानी बातें'' करते हैं। यह उस ज़माने की मिसालें देते या घटनाएं बताते हैं जब

-मनुष्य हाथ से लिखता और कार्बन कापी (Corbon Copy) निकालते थे या चलो उसे टाईप ही करते थे परन्तु अब तो कम्प्यूटर्स (Computers) और फोटोग्राफी का ज़माना है। पहले किसी के पास नया साइकिल (bicycle) होता था तो वह भी अपनी बड़ी शान दिखाता था। अब तो "बेकार" आदमियों के पास भी कार है। मेरे पिताजी तब की गुज़री दास्तान बताकर, जब देखो तब राय देते हैं। वे बिना माँगे ही अपनी मश्वरा कम्पनी (Consultancy का दफ्तर) खोल देते हैं; परन्तु हमें इनकी एक भी बात फिट (fit, माफिक) नहीं बैठती। बच्चा यह नहीं समझता है कि यदि कोई बहुत पुराना है तो वह पुराण तो सुनायेगा ही। तो क्या हुआ? वह तो दिलचस्प बातें हैं। इधर पिताजी को इतना भी ध्यान नहीं रहता कि ज़माना बहुत बदल गया है और रेल-पेल और जेल इतने बढ़ गये हैं तथा इन्सान, स्थान और विमान इतने बढ़ गये हैं! वे यह भी नहीं सोचते कि 20 साल की मेरी आयु है; मुझे बालिग माना जाता है; मैं चाहूँ तो आज सरकार की नौकरी में मुझे ज़िम्मेवारी का स्थान मिल सकता है; वोट देने का मुझे अधिकार है; मैंने बी.ए. पास कर रखी है। मैंने कोई घास काटकर बी.ए. थोड़ी ही की है, परन्तु पिताजी ऐसी बातें करते हैं कि जैसे मैं किसी दूर-दराज के पिछड़े-से गाँव से आया हूँ। आखिर मेरी भी कुछ इज्ज़त है; मैंने भी कुछ तो दुनिया देखी है। अब इनकी वही की वही बातें सुन-सुन कर मैं तो बोर हो गया हूँ।

अब स्थिति-परिस्थिति में **ये सब अन्तर कैसे आया? आयु के बढ़ने से। इसलिये हमने शीर्षक दिया – "बढ़ना आयु का"।**

अब ज़रा देखिये कि पिताजी क्या कहते हैं। पिताजी का सदा यह उलाहना रहता है कि आजकल के बच्चे बहुत फ्रंट (front) अथवा मुँह-फट हो गये हैं; वे बुजुर्गों का कहा ही नहीं मानते। बुजुर्गों को तो वो "पुराने पंथी" (Outdated) समझते हैं जो कि पुराने ज़माने की (out-of-fashion) बातें करते हैं। इसलिये वे उनके अनुभव से, जीवन के तजुर्बे से लाभ नहीं उठाते। वे यह भूल जाते हैं कि पिताजी ने बाल धूप में सफेद नहीं किए, दुनिया उन्होंने भी खूब देखी है और छाँव भी देखी है, धूप भी देखी है। उन्होंने इन्सान की नियत बदलते देखी है, व्यक्ति की तबीयत को भी बदलते देखी है। उन्होंने कई मौसमों का मेवा खाया है और खाकर भी पछताया है! वे ज़माने के फेर बदल को काक-भुशुंडी की तरह देखते रहे हैं।

इधर पिता जी इस पीढ़ी के परिवर्तन को नहीं समझते। वे यह भूल जाते हैं कि अपने चरित्र से बच्चे को प्रभावित तो कर सकते हैं, अपने प्यार से बच्चे को अपना भी बनाये रख सकते हैं, परन्तु परिवर्तन को सामने रखते हुए, बच्चों को अब, जबकि वो बचपन

से युवावस्था में पहुँच गया है, तो किन्हीं बातों में उसे स्वतन्त्रता तो देनी ही होगी। थोड़ी स्वतन्त्रता देने से ही तो परस्पर सम्मान बना रहेगा। पिताजी को सोचना चाहिये कि जैसे उनकी अपनी आयु बढ़ी है और अनुभव भी बढ़ा है, वैसे ही बच्चे की भी तो आयु बढ़ी है और उसके अनुभव में भी तो वृद्धि हुई है। इसलिए किसी ने बहुत पहले ही कहा था कि –

"प्राप्ते तु षोड्षे वर्षे पुत्रं मित्र वदाचरेत"

अर्थात् जब बैटा 16 वर्ष का हो जाये, तब उसे अपना मित्र और साथी समझना चाहिए, तब उसे छोटे बच्चों की तरह नहीं चलाना चाहिए। ऐसे अन्तर तो आज के संसार में विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच भी होता है। प्राथमिक

स्कूल के बच्चों का अध्यापक के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह यूनिवर्सिटी के स्नातकोत्तर (Postgraduate) के विद्यार्थियों का अपने प्रोफेसर के साथ नहीं रहता। यह बात पिताजी को ध्यान में रखनी चाहिये। इसी प्रकार, बच्चे को भी ऐसा समझना चाहिये कि मेरे पिता "मेरे हितैषी" हैं। उन्होंने मुझसे ज्यादा ज़माना देखा है और इसलिए वो अपने अनुभव के आधार पर जो भी परामर्श मुझे फीस लिये बिना देते हैं, मुझे उसका मूल्य समझना चाहिये और उसे आदर देना चाहिये; उस पर गम्भीरता से विचार तो करना ही चाहिये। परन्तु दोनों आयु बढ़ने के परिणाम को नहीं सोचते।

सार संक्षेप में, जो बात हमने लौकिक प्रसंग में आयु बढ़ने के विषय में कही है, यह बात व्यक्तियों के अपने अलौकिक जीवन में तथा सेवा के क्षेत्र में भी थोड़ी-बहुत लागू होती है। जहाँ तक आध्यात्मिक अनुभव और अभ्यास की बात है, वहाँ तो निस्संदेह यही आशा की जाती है कि जिसने जितने अधिक वर्ष अभ्यास किया है, उसका अनुभव और उसकी सूझ-समझ की गहराई उतनी ही विशेष होगी। परन्तु यद्यपि हम आशा यही रखते हैं, तथापि हम देखते हैं कि सबके जीवन में अभ्यास-आयु बढ़ने पर भी हमें ऐसी उपलब्धि देखने को नहीं मिलती। अत: इसके ऐसे अपवाद (Exceptions) तो हो सकते हैं परन्तु सेवा के क्षेत्र में हम देखते हैं कि इस क्षेत्र में जो बाद में भी अपने पाँव रखते हैं, वे भी जल्दी-जल्दी अनुभवी होने लगते हैं। सेवा के नये तौर-तरीकों और रंग-ढंग को सोचकर वे भी नये प्रक़ार से कुशलतापूर्वक सेवा कर सकते हैं। वक्तृत्व कला (Art of Speech), लेखनकला, व्यवस्था कला, संचालन कला इत्यादि अलग-अलग सेवाविधियों में तो वे जल्दी-जल्दी निपुण अथवा कुशल हो ही सकते हैं। अत: जो "पुराने" हैं अर्थात् अभ्यास और सेवाक्षेत्र में जिनकी अवस्था बढ़ गई है, उन्हें चाहिये कि समय परिवर्तन के इस भेद को जानकर उन्हें सोलह वर्ष की आयु वाले को "बच्चा" न मानकर "मित्र"

मानते हुए उससे व्यवहार करें। बाद में आये पुरुषार्थियों के कला-कौशल को प्रोत्साहन देना चाहिये और उन्हें सेवा के लिये अधिक से अधिक अवसर देने चाहिये और उन्हें अपने अनुभव तथा परामर्श का लाभ देना चाहिये। उन्हें ये भी समझाना चाहिये कि आयु बढ़ने के कारण और समय-परिवर्तन के परिणामस्वरूप परस्पर सम्बन्ध, स्नेह, सह-अस्तित्व आदि में भी अनुपाततः अन्तर आ जाता है। पहले वाला समीकरण (Equation) नहीं बना रहता। यह सृष्टि नाटक ही ऐसा है; तब क्या करें? यहाँ इस बात को अधिक स्पष्ट करना ठीक होगा।

मान लीजिए कि जब हमें ईश्वरीय ज्ञान के लेन-देन में आये हुये 20 वर्ष हुये थे, तब किसी व्यक्ति को ज्ञान में आये केवल एक ही वर्ष हुआ था। तब उसका हमारे प्रति एक बहुत ही सम्मान और स्नेह का व्यवहार था क्योंकि वह समझता था कि हम उससे 20 गुणा बड़े हैं और अनुभवी हैं। परन्तु अब जब हमें सेवाक्षेत्र में 40 वर्ष हो गये हैं तो वह व्यक्ति सोचता होगा कि उसे भी तो अब 20 वर्ष हो गये हैं और अब वह भी तो काफी अनुभवी है। वह भी तो मिलना-जुलना, बातचीत करना जानता है। यह स्वाभाविक बात है कि 40 वर्ष सेवाक्षेत्र में आने के बाद अब जब हमारे शरीरिक आयु 64-65 वर्ष की हो चली है और हम बुढ़ापे की दहलीज़ में पाँव रख चुके हैं, तब वह व्यक्ति तो केवल 40-42 वर्ष का ही है। अब हमारे ज्ञान की तथा सेवा की आयु उससे 20 गुणा नहीं, केवल डेढ़-दो गुणा ही है और अब हमारे शरीर ढलने लगा है जबकि उसका शरीर कार्य करने की पूर्ण क्षमता में है। अतः अब हमारे जो उससे अपेक्षायें हैं और उसकी जो हमसे अपेक्षाएं हैं उनमें अन्तर तो पड़ेगा ही। संसार में बहुत थोड़े ही लोग हैं जो अनुभव होने या बढ़ने के बाद भी वरिष्ठजनों के प्रति विनम्र बने रहते हैं और उनके आशीर्वाद को महत्व देते हैं। अब किसी को ऐसा एहसास नहीं है तो क्या कीजियेगा? समय परिवर्तन और आयु बढ़ने का परिणाम समझ कर उसे चलाना ही ठीक होगा! हम सभी ईश्वरीय ज्ञान के विद्यार्थी हैं जो कि सर्व श्रेष्ठ ज्ञान है और जो हमारे व्यवहार को उत्कृष्ट बनाता है। अतः हमें अपने व्यवहार को ज्ञान-योग वा धारणा के द्वारा मधुर, नम्र, स्नेहयुक्त, सम्मान पूर्वक सहयोग रखते हुए, आयु बढ़ने के परिणामों को न भूलकर, आगे बढ़ते चलना चाहिए।

आयु बढ़ने का एक दूसरा परिणाम हमारे सामने और भी आता है। लौकिक जीवन में बच्चे समझते हैं कि अब पिताजी कुछ अधिक काम के नहीं रहे। वे जर्जरा को प्राप्त हैं, अस्वस्थ रहते हैं या पुरानी बातें करते हैं; इन्हें किसी से मिलाना भी ठीक नहीं और न ही इन्हें कुछ सूचना-समाचार देने की आवश्यकता है। परन्तु पिताजी समझते हैं कि उन्होंने अपने समय में खूब सेवा की है और उन्हें न बताना बेटे की कृतघ्नता है, ऐहसान-फरामोशी है, धृष्टता है और उद्दण्डता या हमाकत है। कुछ व्यक्ति तो इतने वयोवृद्ध हो

गये होते हैं कि उन्हें शायद ज्यादा मिलाना-जुलाना न भी ठीक हो परन्तु अधिकतर तो ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान क्षेत्र अथवा सेवा-क्षेत्र में कुछ वरिष्ठजन ऐसे हो सकते हैं जो यह सोचते हैं कि नैतिक अधिकार है कि उन्हें सम्बन्धित सूचना-समाचार मिलता रहे। और कुछ न सही तो उन्हें गुज़री दास्तान ही सुना दी जाया करे। आखिर वे भी तो अपने ज़माने के 'फ्रीडम फाईटर' हैं, वरिष्ठ नागरिक (Senior Citizen) हैं अथवा इमारत को तैयार करने में सेवा की ईंट लगाने वाले हैं।

हाँ यह सब तो ठीक है परन्तु अधिकार और अपेक्षाएं भी कोई टिकाऊ चीज़ नहीं है। इन्हें भी तो छोड़ना होगा। अत: "इच्छा मात्रं अविद्या" ही की नीति सर्वश्रेष्ठ है। यह "नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी" की बातें शायद पाश्चात्य सभ्यता की देन है। परन्तु शायद ऐसा भी नहीं है; "ऐसे बूढ़े बैल को कौन बैठे भूस दे?" – यह तो भारत में ही कुछ शताब्दियों से बात कही चली आ रही है। हाँ, प्राचीन काल में भारत में तो सभी घुल-मिलकर, खीर-खांड की तरह एक-दूसरे में समा जाने की संस्कृति का जीवन जीते थे। अब तो बहुत अधिक स्वार्थ-सिद्धी ही की रीति-नीति प्रचलित है। परन्तु ऐसा हो या न हो, जीवन में दिव्यता लाने का पुरुषार्थ जिसका लक्ष्य है, उसे चाहिए कि औरों की भद्दी बातों का अनुयायी न बनकर स्वयं सम्मान की नीति अपनाये। यह ठीक है कि आज समाज में जहाँ-तहाँ सम्मान पैसे और पद वाले, या सत्ता और साख वाले को ही मिलता है, परन्तु अध्यात्म में महावीर वह है जो हरेक को सम्मान दे। एक-जैसा न सही, कम-से-कम अपमान तो न करे। या अगर भूल से अपमान भी कर बैठता है तो प्रायश्चित तो करे। यह सोचने, समझने और व्यवहार-दर्शन की बातें हैं। इसी का नाम शालीनता (Royalty) है। इनको कोई विरला, कोई धीर ही समझता है। इन्हें जो समझे, वही अर्जुन है।

जब राजा पोरस को राजा सिकन्दर के सामने लाया गया तो सिकन्दर ने पूछा – "बताओ, आपके साथ कैसा सलूक (व्यवहार) किया जाय?" तब पोरस ने उत्तर में कहा – "जो एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।" तब सिकन्दर ने कहा – "इन्हें छोड़ दिया जाय, आज़ाद कर दिया जाय और इनका राज्य भी इन्हें वापस दे दिया जाय।" ऐसे ही माता-पिता तो अपने हर बच्चे को कहते हैं –"आओ, राजा इधर आओ; आओ राजा खाना खाओ।" भगवान्, जो हमारे परमपिता हैं उनकी दृष्टि में भी हम सब राजा हैं। तो जाओ आज से लेकर, सभी के साथ वैसा व्यवहार करना जो एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है। विजेता और पराजित, छोटे और बड़े, सीनियर और जूनियर की बात, अपनी जगह किसी समय ठीक होती होगी **परन्तु व्यवहार की गंगा को गंदला मत करो; उसे सदा निर्मल ही रहने दो।**



व्यावहारिक व्यवहार और पालनीय परमार्थ

हम किसी व्यक्ति से जब कोई व्यवहार करते हैं तो व्यवहार के समय हमारे मन में उस सम्बन्ध की भी स्मृति होती है जो हमारे उस व्यक्ति से है। यदि उस व्यक्ति से हमारे सम्बन्ध घनिष्ठ हैं, मधुर हैं और स्नेहयुक्त हैं तो हमारे व्यवहार उसके अनुरूप ही होता है; यदि उससे हमारे सम्बन्ध कटु हैं और हम दोनों के बीच कोई मानसिक दूरी है, तब हमारे व्यवहार भी तदनुसार ही होता है। किसी के साथ हमारे सम्बन्ध खट्टे हैं, फीके हैं या नीरस हैं तो वो भी हमारे व्यवहार को वैसा ही प्रभावित करते हैं। इस प्रकार, सम्बन्धों की स्मृति और उनके साथ-साथ मधुर कटु आदि अनुभूति भी निश्चय ही होती है और ये दोनों (सम्बन्ध-स्मृति और सम्बन्ध-अनुभूति) हमारे व्यवहार की प्रेरक, निर्देशक, नियन्त्रक या बाधक होते हैं। उदाहरण के तौर पर एक महिला अपने घर के घेरे में एक गृहणी के रूप से जब घर-परिवार के सदस्यों से व्यवहार करती है तो उसके व्यवहार के समय ये चेतना बनी रहती है कि जिसके साथ वो व्यवहार कर रही है वो उसकी पुत्रवधु है, सास है, जैठानी या देवरानी है या कौन है और उसके साथ उसके सम्बन्ध अच्छे हैं या बिगड़े हुए हैं। वो उन सम्बन्धों को और उसमें समाई हुई भावनाओं या अनुभूतियों को किसी भी क्षण पूर्णतः भूल कर कोई कर्म नहीं कर सकते। ये सम्बन्ध और उनकी मधुर या कटु अनुभूति उसकी प्रवृत्ति के मूल में बनी ही रहती है। परन्तु हाँ, ये बदल भी सकते हैं और गहरे भी हो सकते हैं। मनुष्य के कर्मों को सुखद या दुःखद बनाने में भी इनका विशेष पार्ट होता है।

जब हम किसी व्यक्ति से व्यवहार करते हैं तो उसके साथ जो हमारे सम्बन्ध हैं, उसके अलावा हमें उस व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव व्यक्तित्व अथवा समाज में उसके स्थान, पद, अधिकार इत्यादि भी याद आते हैं अथवा उन पर भी हमारे ध्यान जाता है। उदाहरण के तौर पर जब कोई व्यक्ति दफ्तर में कार्य करता है तो वहाँ किसी अन्य कार्यकर्त्ता के साथ व्यवहार करते समय उसका ध्यान इस बात की ओर भी जाता ही है कि वो व्यक्ति उसका समकक्ष है, उसका वरिष्ठ अधिकारी है या उससे निम्न स्तर के किसी पद पर है और उसका स्वभाव मिलनसार, चिड़चिड़ा या तेज-तर्रार है। इसी प्रकार, जब कोई व्यक्ति किसी ऐसे पुलिस अधिकारी से बात कर रहा होता है जो कि जोशीला और भड़कीला है तो उसे इस बात का भी ध्यान रहता है कि वो पुलिस का अफ्सर है, मिथ्याभिमानी है, उत्तेजनाशील है, गर्म-मिज़ाज है तथा ज़ल्दी आपे से बाहर हो जाने

वाला है।

इन छह बातों को ध्यान में रखते हुए हमें क्या करना चाहिए?

अत: जबकि (१) इस संसार में हमें रहना है तथा (२) कार्य और कर्म भी हमें करने हैं, (३) दूसरों के साथ व्यवहार में भी हमें आना है और (४) यह भी स्वाभाविक है कि उनके साथ जो हमारे सम्बन्ध हैं उनकी स्मृति भी हमें आयेगी और (५) सम्बन्धों के साथ जुड़े हुए हमारे मधुर या कटु अनुभव भी हमें याद आयेंगे तथा (६) व्यक्ति या उनके स्वभाव-संस्कार, पद-प्रतिष्ठा पर भी हमारा ध्यान जाएगा, तो फिर अपने कर्मों को श्रेष्ठ करने के लिए हमें क्या करना चाहिए? यदि हम उनके स्वभाव-संस्कार को ही देखते रहें और उनके साथ व्यवहार में आने के परिणाम-स्वरूप पहले हुए अनुभवों को ही याद करते रहें तो फिर हम तो उसी दलदल में ही फंसे रहेंगे। उसी मँझदार या भंवर में हम पड़े रहेंगे। यदि हमारे सम्बन्ध में आने वाले व्यक्तियों के स्वभाव-संस्कार बदलेंगे नहीं और उनके व्यवहार में हमें प्रेम, मधुरता, न्यायशीलता, नैतिकता इत्यादि दिखाई देंगे ही नहीं, तब हम भी उनकी वही कटुता, अमर्यादा, अन्याय और अनैतिकता ही देखते रह जायेंगे और इसी में ही हमारा तो जीवन ही समाप्त हो जायेगा। तब हमारे सुख-दु:ख की अनुभूति उनके स्वभाव-संस्कार पर ही आधारित हो जायेगी और हमारी अपनी तो कोई स्वतन्त्रता भी रहेगी नहीं। वह तो अपनी आदतों के गुलाम हैं ही, हम भी उनकी आदतों के कारण हुए हमारे कटु अनुभवों के गुलाम हो जायेंगे। हमारे समय और हमारे शक्ति तो उन लोगों की बुराइयों को देख-देख कर ही समाप्त हो जायेंगे। जबकि इस प्रकार के परिणाम हमें पसन्द नहीं हैं, तब हमें क्या करना चाहिए?

शिवबाबा द्वारा बताई हुई कुछ युक्तियाँ –

१. सम्बन्ध 'आत्मिक' भी याद रखो

इसके लिए परमपिता शिव ने हमें कुछ युक्तियाँ समझाई हैं। उन्होंने एक तो यह कहा है कि देह के सम्बन्धों को भूलकर आत्मिक नाते को याद रखो। अगर व्यवहार में भाई, भतीजा, पुत्र, पिता या सास, बहू, जैठानी, देवरानी इत्यादि नातों का ध्यान रखना ही पड़ता है तो उसके साथ में यह याद रखों कि ये सभी तो देह पर आधारित सम्बन्ध हैं जो कि इस विश्व-नाटक में अपने पार्ट (Role) अदा करने के लिए हैं, परन्तु वास्तव में तो हम सभी 'आत्माएं' ही हैं, अत: हमारे अनादि, अविनाशी और मौलिक सम्बन्ध तो इनसे न्यारा, 'आत्मिक' ही है।

२. दोष अपने कर्म-खाते का है

दूसरे, यह याद रखो कि इन देहधारी आत्माओं के साथ हम कई जन्मों में व्यवहार में आये और हमारे पिछले कर्मों के परिणामस्वरूप ही अब हमें उनके साथ जुटे सम्बन्धों के मधुर या कटु अनुभव होते हैं। यह कर्म-खाता चुकता होने के बाद ये अनुभव भी नहीं रहेंगे। अत: उनके व्यवहार की अनैतिकता, अमर्यादा और अभद्रता को देखकर उनके प्रति कटु भाव रखने की बजाए अपने ही कर्म-खाते को दोषी ठहराओ। यदि बात पिछले कर्म-खाते की नहीं है बल्कि वर्तमान समय के उनके दूषित व्यवहार की है, तब उसे यह सोचकर सहन करना होगा कि हमें अपने व्यवहार और कर्मों को ठीक रखना है। उन व्यक्तियों को सुधारना या उनके व्यवहार को मधुर बनाना तो शायद हमारे लिए सम्भव नहीं भी होगा क्योंकि उसके लिये तो जब तक वे स्वयं पुरुषार्थ न करें और अपने संस्कारों को न बदलें तब तक स्थिति बदल ही नहीं सकते और इस कारण हमें उनके ही पुरुषार्थ पर निर्भर रहना पड़ेगा। अत: जबकि उनका परिवर्तन हमारे हाथ में नहीं है, तब हम तो अपने ही कर्म-खाते को समाप्त करने की ज़िम्मेवारी ले सकते हैं। अत: उनकी बुराइयों को देखने की बाह्य नीति को छोड़कर हमें अपने ही कर्मों के हिसाब-किताब को समाप्त करने की अन्तर्मुखता की नीति अपनानी चाहिए।

३. अधिकारी तो शिवबाबा की विरासत के हैं और आदि तथा अनादि स्वभाव पवित्रता और शान्ति है

तीसरी बात यह है कि इस समय कोई व्यक्ति मज़दूर है तो कोई मालिक। ये तो उनके वर्तमान समय के नाटकीय पार्ट हैं। ये तो बदलते रहे हैं और बदलते रहेंगे। आज जो रंक हैं, कल वे राव और आज जो फकीर हैं, कल वे अमीर भी बन सकते हैं। इस प्रकार, किसी के वर्तमान समय के पद-प्रतिष्ठा या पोज़ीशन को ध्यान में रखते हुए भी हमें यह याद रखना चाहिए कि अपने *आदि* और *अनादि* स्वरूप में सभी आत्माएं शिव बाबा के बच्चे हैं और इस प्रकार आत्मिक नाते से हमारे भाई ही हैं। अपने आदि और अनादि स्वभाव तथा स्वरूप की दृष्टि से भी सभी पवित्र तथा शान्त ही हैं। यदि कोई व्यक्ति अब पुलिस अधिकारी है और ग़रम मिज़ाज या उत्तेजनाशील है तो उसका यह स्वभाव तो बाद में विकृत होने के पश्चात् हुआ है और यदि कोई पुलिस अधिकारी है तो उसका यह अधिकारी पद भी वर्तमान समय का ही है। अपने वास्तविक स्वरूप में तो वह भी एक आत्मा है जिसका निजी आदि स्वरूप शान्ति है और वह तथा अन्य सभी भी [illegible] की सन्तान होने के नाते उसकी ईश्वरीय सम्पत्ति के अधिकारी हैं।

४. "जो है, जैसा है"

हम ऊपर व्यवहार और सम्बन्धों की चर्चा करते हुए कह आये हैं कि जो लोग व्यवहार में हमारे सम्पर्क में आते हैं, उनके अलग-अलग गुण, कर्म और संस्कार हैं। इस विषय में भी शिवबाबा ने हमें समझाया है कि "जो है, जैसा है", उसको समझकर उससे व्यवहार करो। संसार में एक-दूसरे के सम्पर्क में तो आना ही पड़ता है और व्यवहार भी करना ही पड़ता है। कोई गृहस्थी अकेला कब तक और कैसे रह सकता है? ईश्वरीय सेवा के क्षेत्र में भी कोई जब तब और कैसे अलग-थलग हो सकता है? हाँ, गृहस्थ-व्यवहार में हो या ईश्वरीय सेवा में हो, टेढ़े लोगों के साथ व्यवहार को न्यूनतम किया जा सकता है। परन्तु अपने जीवन को सफल करने के लिए तथा अपनी शक्ति और समय का भी सदुपयोग करने के लिए कोई कार्य या कुछ सेवा तो करनी ही होती है और उस कारण परस्पर सम्पर्क में भी आना ही पड़ता है। तो उस सम्बन्ध और सम्पर्क में आने वालों के साथ "जो है, जैसा है" – यह जानकर ही हमें चलना चाहिए।

५. देखते हुए भी न देखो

केवल इन युक्तियों को अपनाना काफी नहीं है बल्कि शिवबाबा ने हमें कहा है कि किसी की बुराइयों को देखते हुए भी न देखो, किसी के बुरे संस्कार और व्यवहार को देखते हुए भी उसे 'अनदेखा' कर दो। यदि कोई व्यक्ति अपने विकृत संस्कारों के कारण किसी अन्य से दुर्व्यवहार करता है और हम उसके आघातों से बचे हुए हैं, तब तो हम देखते हुए भी अनदेखा कर सकते हैं। हमारे साथ भी यदि कोई सहने-योग्य या कभी-कभी बहुत अधिक दुर्व्यवहार भी करता है, तब भी हम देखते हुए उसे अनदेखा कर सकते हैं। हम उसे भुला सकते हैं और क्षमा भी दे सकते हैं। परन्तु यदि वह बार-बार और चिरकाल से हमसे बुरा व्यवहार करता है, तब हम ऐसा कैसे कर सकते हैं? वह व्यक्ति हम पर आघात कर रहा है, हमें ही आक्रमण का निशाना बनाकर घाव पहुँचा रहा है, तब हम देखे को अनदेखा कैसे कर दें? यदि उसके कुछ कर्म निकृष्ट हैं परन्तु उनसे हमें वह चोट नहीं मारता तब तो हम उसकी निकृष्टता को देखते हुए भी अनदेखा कर सकते हैं परन्तु यदि वह हमारे ही सिर पर लाठी मारने आ रहा है तो हम कबूतर की इस नीति का कि 'बिल्ली आ ही नहीं रही", कैसे अपना सकते हैं? तब तो आंखें बन्द करना गोया अपनी गर्दन बिल्ली के मुँह में देना होगा। जब सांप भी देखता है कि उसका सिर कुचला जाएगा तो वह बिल में घुस जाता है, जब चींटी या मकोड़ा देखता है कि रास्ते में पानी आ रहा है तो वह भी मुड़ जाता है; जब कौआ भी देखता है कि उस पर पत्थर फेंका जा रहा

है तो वह भी उड़ जाता है; जब छोटा बच्चा भी देखता है कि चील उसकी दही के कटोरे पर झपटा मार रही है तो वह भी झुक कर और दबक कर बैठ जाता है। अपना बचाव का तो सभी उपाय करते हैं। खाहमखाह तो कोई भी बिन आई मौत नहीं मरना चाहता। अत: यदि आप ही से कोई व्यक्ति वर्षों तक अन्याय एवं अनैतिकतापूर्ण व्यवहार करता आया है और जाने-अनजाने क्षति पहुँचाता आया है या अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए भी आपसे केवल निर्दयता तथा अभद्रता का व्यवहार ही नहीं करता रहा बल्कि भावनाओं को ठेस लगाता आया है तो क्या आप उसे देखते हुए भी नहीं देखेंगे? आप अपने बचाव का कोई भी उपाय नहीं करेंगे?

यदि आपमें इतनी सामर्थ्य है तब तो ओखली में सिर डाल दो, या स्वयं को चन्दन की तरह घिस जाने दो, या धनिए की तरह स्वयं को सिल-बट्टे के बीच में पिस जाने दो और साबुत दाल बने रहने की बजाए 'बड़े' (भल्ले), साबत धनिया बने रहने की बजाए 'न्यारे और प्यारे' बन जाओ। और, यदि आपमें इतना साहस तथा इतनी क्षमता नहीं है या आप समझते हैं कि आप तो यों झपटों में ही मारे जायेंगे, अर्थात् आपका समय और शक्ति नष्ट हो जायेंगे तो फिर अपनी सुरक्षा की बात सोचो। आक्रमणकारी को आक्रमण का अवसर देने की भी सीमा होनी चाहिए। राजा पृथ्वीराज ने आक्रमणकारी मुहम्मद गौरी के कई आक्रमण होने पर भी उसे छूट दे दी, तो परिणाम यह हुआ कि उसे एक दिन अत्याचारी के हाथों स्वयं तो अपना जीवन गंवाना ही पड़ा परन्तु उसके कारण भारत देश भी परतन्त्र हो गया। अत: अनैतिकता और दुर्व्यवहार करने वाले को सुधार नहीं सकते और क्षमा तथा सहनशील से भी उसमें परिवर्तन नहीं ला सकते और अपने अधिकारों की भी रक्षा नहीं कर सकते तो कम-से-कम अपनी सुरक्षा का कोई अपाय तो कर लो। अपनी शक्तियों का व्यर्थ क्षय और योग्यताओं का नाश तथा समय की बर्बादी तो न होने दो।

आदर्श व्यवहार तो यही है कि कोई कुछ भी करता रहे परन्तु आप अपनी स्थिति को अचल, एकरस और साक्षी बनाये रखें। आप 'बे-परवाह बादशाह' (निश्चिन्त राजा) बनें परन्तु बादशाह भी तूफान आने पर कहीं ओट तो ले ही लेता है, अर्थात् इतनी 'परवाह' (विचार या ध्यान) तो वह भी करता है कि अपनी सुरक्षा कर ले। अत: व्यावहारिक (practicable) व्यवहार यह है कि बचाव कर लिया जाये और पालनीय (practicable) परमार्थ को भी सामने रखा जाए।

सुरक्षा अपनी अवस्था की

संसार में बहुत-से जीव ऐसे हैं कि जब वे देखते हैं कि ऋतु में इतना बड़ा परिवर्तन

आया है कि उसका सामना वे नहीं कर सकेंगे तो वे एक विलक्षण प्रकार की युक्ति अपनाते हैं। वे ऐसी रीति से सिकुड़ कर बैठ या लेट जाते हैं जैसे कि वे मरे पड़े हों, यद्यपि होते वे जीवित हैं। इसे 'हाइबरनेशन' (Hibernation) कहा जाता है। आक्रमण होने पर कई बार मनुष्य भी ऐसा करते हैं कि वो पृथ्वी पर निष्क्रिय होकर ऐसे लेट जाते हैं कि आक्रमणकारी समझता है कि यह व्यक्ति मरा पड़ा है, परन्तु वास्तव में उस लेटे हुये व्यक्ति की केवल यह अपने बचाव की युक्ति ही होती है। अत: योगाभ्यासी को चाहिए कि अन्तर्मुखी होकर, 'जीते-जी मरकर', मौन स्थिति में टिक कर अपनी सुरक्षा करे। हम पर आक्रमण तो माया ही करती है परन्तु आक्रमण के लिए निराकार माया भी कोई साकार रूप लेती है। वह किसी के द्वारा ही हमला करती है। अत: आप उस व्यक्ति या उस आत्मा के प्रति सद्भावना बनाये रखते हुए उस द्वारा होने वाले माया के आघातों से तो स्वयं को बचाओ। उसके लिए योग ही कवच, बंकर (bunker) ढ़ाल या सुरक्षा है। आजकल सुरक्षा के सिपाही भी अपने आगे रेत की बोरियों की दीवार बनाकर उसके पीछे खड़े होते हैं ताकि उग्रवादियों (Extremists) के वार से बच सकें। हमारे बचाव की बोरियां दिव्य गुण तथा योग ही हैं।

अत: उचित अवसर उपलब्ध होने पर सेवा करो, परन्तु अपनी सुरक्षा का पहले (Safety first) इन्तज़ाम करो ताकि अपने दिव्यीकरण की प्रक्रिया में गतिरोध न आये। कार्य-व्यवहार के क्षेत्र में सक्रिय रहो परन्तु जब हवाई जहाज़ हमला कर रहे हैं तो ओट ले लो या बंकर अथवा शैल्टर में चले जाओ। योग के अभ्यास को प्राथमिकता दो वरना हा-हल्ले में ही आयु बीत जायेगी।

प्रायश्चित तथा क्षमा-याचना

उपरोक्त सभी बातों पर ध्यान देने के बावजूद भी सम्भव है कि हमारे या दूसरों के संस्कारों के कारण, या परिस्थितियों पर हमारा काबू न होने के कारण, या हमारी अल्पज्ञता अथवा असमर्थता के कारण, हमसे कई बार भूल-चूक भी हो जाती है। ऐसी स्थिति में यदि उस भूल-चूक के लिए खेद, पश्चाताप अथवा प्रायश्चित भाव प्रकट करते हैं तो भी सम्बन्धों के कुछ ठीक बने रहने की सम्भावना होती है।

परन्तु प्राय: देखा गया है कि लोग किसी बात को लेकर उसे निजी मान का विषय (Prestige issue) बना लेते हैं और अपनी भूल के लिये अपने मुख से ये दो शब्द – क्षमा कीजिये यह कहने को भी तैयार नहीं होते। अपने ऐसे व्यवहार के लिये वे ये तर्क पेश करते हैं कि दूसरे को ये कहने से वो आगे के लिये सिर पर चढ़ जायेगा जबकि बात

वास्तव में ये होती है कि वे इन शब्दों का प्रयोग करने में अपने मान की हानि अनुभव करते हैं। उन्हें इस बात का एहसास ही नहीं होता कि ग़लती करने के बाद अपनी ग़लती को न मानना और दूसरे को ठेस पहुँचाने और चोट लगाने या उसकी क्षति करने के बाद भी उसे राहत पहुँचाने वाले दो शब्द न बोलना, ये एक दूसरी भूल करना है। ये उद्दण्डता का प्रतीक है, निर्दयता का सूचक है और अपने अमानुषीय व्यक्तित्व का प्रकटीकरण है। किसी को दु:ख देने के बाद तो मनुष्य को चाहिये कि हाथ जोड़कर और अपनी गर्दन नीची करके, नम्रता-भरे स्वर से, एहसास के साथ उससे क्षमा याचना करे। परन्तु यदि किसी व्यक्ति में इतनी गिरावट या इतनी कमज़ोरी आ गई है कि स्पष्ट शब्दों में और इस प्रकार झुककर क्षमा याचना करने में उसकी असमर्थता है तो कम-से-कम औपचारिक नाते से और एक सभ्य नागरिक होने के नाते से ही सही, वो इतना तो कह दे कि "मुझे खेद है" (I am sorry)। वरना यदि हम कलियुगी सभ्यता की सीमा भी उलांघ जाते हैं और औपचारिकता को भी छोड़ देते हैं तब इससे तो हमारी अपनी ही छवि धूमिल होती है और हम अपनी ही नैतिक प्रगति को ऐसे गर्त में डाल देते हैं कि जहाँ से हमें कोई निकाल भी नहीं सकता।

हमारी बड़ाई उद्दण्डता में नहीं, नम्रता में है; अभिमान में नहीं, सम्मान में है

जो व्यक्ति आयु में, पद में, स्थान में, अनुभव में, यश में, धन-दौलत में या विद्वता इत्यादि में बड़े हैं, प्राय: वे ही "क्षमा कीजिये" शब्दों को कहने में कुछ हिचकिचाहट अनुभव करते होंगे परन्तु जिनमें नैतिकता है, आध्यात्मिकता है, प्रौढ़ता है या शालीनता है, वे तो प्राय: सत्ता, सम्मान, सम्पत्ति इत्यादि के होने के बावजूद भी किसी छोटे-से-छोटे कहे जाने वाले या समझे जाने वाले व्यक्ति के सम्मुख भी अपनी ग़लती को शब्दों में या हाव-भाव से स्वीकार करके खेद प्रकट करते हैं क्योंकि उनके मन में ये भाव बना रहता है कि हमारी 'बड़ाई' नम्रता में है, उद्दण्डता में नहीं और कि हर-एक व्यक्ति में महानता के गुण हैं और कोई व्यक्ति कभी भी ऊंचा उठकर इन उपलब्धियों का मालिक हो सकता है। आज का फकीर कल का अमीर, आज का रंक कल का राव, आज राजमिस्त्री और कल का राजा, आज डाकू और कल महात्मा बन सकता हैं। अत: हमें हरेक से अभिमान से नहीं बल्कि सम्मान से व्यवहार करना चाहिए।

इसलिए हमारे व्यवहार की दिशा निश्चित करने वाला किसी को ठोकर न लगाये, किसी के मन को ठेस न पहुँचाये, किसी का अपमान करके उसकी भावनाओं पर आघात

न करें और किसी को क्षति पहुँचाने की कुचेष्टा न करें। बार-बार किसी को ठूँसा लगाना, तुनका देना (taunt;करना) उसे मज़ाक का विषय बनाना, उसे बेवकूफ साबित करना या नीचा दिखाना अत्यन्त निकृष्ट लोगों का ही काम हो सकता है और इस पर भी यदि कोई अपनी भूल मानने की बजाय अपने नशे में चूर रहता है, तो निश्चित ही वह मनुष्यता के स्तर के नीचे का व्यक्ति है।

हम जो योगाभ्यास करने वाले लोग हैं, उनके व्यवहार और स्वभाव में तो विशेष रूप से दूसरों के प्रति आदर-भाव और सेवा-भाव होना चाहिए। स्वयं हमारे मन को जब कोई ठेस लगाता है या हमें क्षति पहुँचाता है तो हमें उस व्यक्ति को बिना मांगे ही क्षमा दे देनी चाहिए, परन्तु यदि बार-बार ही कोई दुर्व्यहार करता है और हम उसमें परिवर्तन लाने के सक्षम नहीं हैं, तो बार-बार अपने को चोट मरवाने की बजाय और उसे भी पाप का भागी बनाने की बजाय, हमें उसका रास्ता छोड़ अपने पुरुषार्थ से अपनी स्थिति को ऊंचा बनाने का यत्न करना चाहिये। इससे ही हम व्यवहार में चल सकेंगे और परमार्थ में लगे रह सकेंगे। वरना व्यवहार में मार खाते रहने से परमार्थ छूट जायेगा या परमार्थ में ही पड़ जाने से व्यवहार छूट जायेगा। व्यवहारिक (practicable) व्यवहार और पालनीय (practicabale) परमार्थ का तो उपरोक्त ही तरीका मालूम होता है। हम पूर्णत: अहिंसक भी बने रहें और अपने साथ हिंसा भी न होने दें, उसकी यही नीति सामने आती है। कई लोग जो इस प्रकार की समस्या का सामना करते हैं, उनके लिये यही हल मालूम होता है।



उत्तम अवस्था से उत्तम व्यवस्था

यों संसार में व्यवस्था की कुछ-एक पद्धतियां बहुत श्रेष्ठ मानी जाती हैं। इनमें भी अमरिका और जापान की पद्धतियां विशेष हैं। परन्तु इस ईश्वरीय विश्वविद्यालय में इस बात को विशेष महत्व दिया जाता है कि व्यवस्था ऐसी हो जो न केवल सुचारु रूप से चले और सफ़लता तक पहुँचाये बल्कि उसमें रूहानियत भी हो। दूसरे शब्दों में भाव यह है कि उस व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करने वाले व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास भी साथ-साथ होता रहे और वो कार्य उन्हें बोझ (Burden) ना महसूस होकर सुमंगल और खुशी को बढ़ाने वाला साधन (Blessings) और दबाव (Presure) न महसूस होकर Pleasure महसूस हो। आजकल व्यवस्था के बारे में यह भी पुरुषार्थ किया जाता है कि एनर्जी कम खर्च हो, प्रदूषण भी न हो और उत्पादन (Creativity) अथवा कार्य अधिक मात्रा में (More in output and productivity) तथा तीव्र गति से (Efficiently) और सुचारु रूप से (Smoothly) तथा शोर (Noise) के बिना हो। यह भी ध्यान रखा जाता है कि कार्य करने वालों को भी कोई चोट या अस्वस्था न हो और उनकी भलाई (Welfare) भी हो। अत: हमें यह भी कोशिश करनी है कि कार्य शान्ति-पूर्वक मन के प्रदूषण के बिना, कम शक्ति खर्च करके तीव्र गति से हो और उसमें कार्य करने वालों की भलाई तथा उन्नति हो। उसके लिये निम्नलिखित सुझाव हैं –

१. रूहानी लक्ष्य को सामने रखना

व्यवस्था करने वालों को चाहिए कि सेवा में जो भी उनके सहयोगी हैं अथवा उनके निर्देश के अन्तर्गत कार्य करते हैं, उन्हें वे समय पर निम्नलिखित प्रकार के वाक्यों से प्रेरणा अथवा प्रोत्साहन देते रहें। सेवा में लगे बहन-भाइयों को भी चाहिए कि वे सेवा को केवल सेवा न समझकर निम्नलिखित में से कोई-न-कोई रूहानी लक्ष्य भी अपने सामने रखें –

(i) ये जो सेवा हम कर रहे हैं, ये आत्माओं को माया की दलदल से निकालने की सेवा है।

(ii) जो आत्मायें शान्ति के लिए त्राहि-त्राहि कर रही हैं, उनकी शान्ति की प्यास तृप्त करने के लिये ही ये सेवा है।

(iii) हम बड़े खुशनसीब हैं कि हमें प्यारे बापदादा का सहयोगी बनने का ये श्रेष्ठ अवसर मिला है।

(iv)हम इस कार्य को इतनी लगन और तत्परता से करेंगे कि इसकी सम्पूर्णता को

देखकर इस द्वारा बाबा की प्रत्यक्षता होगी।

(v) ये कार्य हम नई सृष्टि की अथवा नई राजधानी की स्थापना के लिये कर रहे हैं। अहा हा! इसमें तो सुखों के मौसमेबहार के दिन आयेंगे और स्वर्ग के स्नेह का वातावरण फिर से निर्मित होगा।

(vi) हम रहमदिल और वरदानी बाबा की सन्तान हैं। दु:खी आत्माओं पर रहम आना स्वाभाविक ही तो है। हम भी वरदानी बनकर अनेक आत्माओं को वरदान देंगे। यह अवसर हमें इसलिये ही मिला है।

(vii) पर-हित करने जैसा सुख और किसमें हैं? इस कार्य के लिये तो हम अपना आराम भी छोड़ देंगे क्योंकि नींद से तो उसमें ज्यादा आराम है।

(viii) इसे केवल सेवा ही क्यों कहें? ये तो हमें अपने ही सौभाग्य बनाने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

(ix) यह विश्व हमारा वृहद परिवार है और सभी आत्मिक रूप से हमारे भाई हैं, उनकी सेवा करना हमारा कर्त्तव्य है। ये तो भ्रातृत्व के स्नेह का सूचक है।

(x) बाबा कहते हैं – "बच्चे, आप मेरी भुजायें हो।" तो भगवान की भुजाओं को क्या करना होगा? वही तो करने की हम कोशिश कर रहे हैं।

(xi) हमारा लक्ष्य केवल स्व-परवर्तन नहीं, बल्कि स्वपरिवर्तन द्वारा विश्व-परिवर्तन भी है। अत: हम परिवर्तन करके दिखलायेंगे।

(xii) हमने केवल अपना ही सौभाग्य नहीं बनाना, भाग्य विधाता के बच्चे होने के नाते हम दूसरों का भी श्रेष्ठ सौभाग्य बनाने की सेवा में सदा खुशी महसूस करेंगे।

(xiii) शिवबाबा ने हमें यह ज़िम्मेवारी दी है। ये सेवा क्या है? ये उत्तरदायित्व निभाने का अवसर है। ये ऋण को तनिक चुकाने का मौका है।

(xiv) यह बापदादा ने कहा है कि आप सभी विशेष आत्मा हैं। आप अपनी विशेषता को पहचानों और उसे लोक-सेवा में लगाओ। उस द्वारा आप कमाल करके दिखा सकते हो। अत: सेवा क्या है? यह लोक-सेवा तो अपनी विशेषता का प्रयोग करके कमाल (Change) है।

(xv) मुझे केवल कर्म ही नहीं करने हैं बल्कि श्रेष्ठ कर्म करने हैं। और इससे श्रेष्ठ कर्म क्या हो सकता है कि जिस द्वारा आत्माओं को 21 जन्म के लिए सदा सुखकारी राज्य-भाग्य मिले?

(xvi) ये कार्य या सेवा क्या है? ये तो कर्मयोग है। ये तो तकदीर की लकीर खींचना है।

(xvii) जो कार्य मुझे मिला है, ये मुझे अपने तन-मन-धन, श्वांस, संकल्प, शक्ति, समय जीवन को सफ़ल करने का परम सौभाग्य मिला है जो कि मेरे लिये गद्‌गद् होने का अवसर है।

ऊपर जो कई प्रकार के लक्ष्य सामने रखने के लिये कहा गया है इनमें से कुछ एक-जैसे महसूस होंगे परन्तु वास्तव में इनमें सूक्ष्म अन्तर है। इनमें से जो लक्ष्य हम सामने रखेंगे उसके अनुरूप ही हममें सद्‌गुण विकसित होंगे। उदाहरण के रूप में यदि हम ये सोचेंगे कि शिवबाबा रहमदिल है और हमें भी दु:खी आत्माओं पर रहम करना है तो हममें रहम अथवा करुणा का संस्कार प्रकट (Emerge) होगा। यदि हम कहेंगे कि आत्माओं की शान्ति की प्यास पूरी तृप्त करनी है तो हमारा ध्यान शान्ति पर केन्द्रित होगा। इसी प्रकार यदि हम पर-हित या विश्व-परिवर्तन की बात सोचेंगे तो हमारे मन में पर-हित अथवा विश्व-परिर्तन का ही भाव मुख्यत: लिये हुए होगा। इसलिये समय-समय पर इन लक्ष्यों को सामने लाते रहना ज़रूरी है। इस तरह के और लक्ष्य भी सामने लाने चाहिए।

इस तरह का लक्ष्य सामने रखने से अपनी अवस्था भी रूहानी बनी रहेगी और मन में हर्ष का स्थायित्व होगा और थकावट भी कम महसूस होगी।

इस प्रकार के लक्ष्य सामने रखने से कार्य केवल कार्य ही नहीं रहेगा बल्कि वह अपनी उन्नति का भी साधन बन जायेगा और उसके साथ-साथ अपने सद्‌गुणों का भी विकास होता चला जायेगा।

२. सहयोगियों के प्रति हमारे व्यवहार का आधारभूत दृष्टिकोण

जो व्यवस्था करने वाले हैं उन्हें चाहिए कि जो कार्य में सहयोगी हैं वे अपने लिये उन्नति का वातावरण महसूस करें। हरेक यहाँ के वातावरण से और पारस्परिक मेल-मिलाप से सन्तुष्ट हों। उसके लिये सबसे पहले यह ज़रूरी है कि व्यवस्था करने वाले अपने सहयोगियों के बारे में निम्नलिखित में से काई भाव बनाये रखें –

(i) ये सब बाबा की रचना हैं। उस श्रेष्ठ बाबा की रचना भी तो श्रेष्ठ ही होगी। अवश्य ही बाबा के मन में इनके लिये कुछ प्लैन (Plan) हैं।

(ii) ये दुनिया की तकदीर जगाने वाले हैं।

(iii) अवश्य ही इनका भविष्य ऊंचा है। तभी तो बाबा इनको चुन कर लाये हैं। ये "करोड़ों में से कोई" हैं और "विशेष आत्मा" हैं। इसीलिये मुझे इनकी विशेषता को है और उस अनुसार ही उनको कार्य के निमित्त बनाना है।

(iv) मैं ट्रस्टी तो हूँ ही, मेरा सब-कुछ बाबा का ही है परन्तु बाबा ने मुझे इनका ट्रस्टी बनाया है। इसीलिये अगर बाबा ने इनको मेरे पास भेजा है तो मेरी ये ज़िम्मेवारी है कि मैं उनकी श्रेष्ठताओं को देखूँ और इनको आगे बढ़ने में सहयोग दूँ।

(v) ये ईश्वरीय बगीचे के फूल हैं, कोई कोमल कलियां हैं, कोई खुशबूदार फूल हैं। मुझे शिवबाबा के इस बगीचे की रखवाली करनी है और इन फूलों को सींचने का कार्य करना है और इन द्वारा संसार को हरा-भरा और खुशनुमा बनाना है।

(vi) हम सब विद्यार्थी हैं, हमारा शिक्षक और सद्गुरु एक है, हमें आपस में मिलजुल कर पढ़ाई पढ़नी है और इस पढ़ाई में सहयोगी बन सबको पास विद् ऑनर होना है। बाबा ने इनकी कुछ ज़िम्मेवारी हमें दी है। अपने उनमें से किसी को भी फेल नहीं होने देना है।

(vii) जो हमारे बताए हुए कार्य को करने वाले हैं वो 'हैन्ड्स'' हैं, इनमें से जो ज़िम्मेवारी लेने वाले हैं वो "कन्धा'' हैं, जो हमारी तरफ से कार्य करने के लिये कहीं जाने वाले हैं वो हमारे "पांव'', या हमारी "जंघा'' हैं, जो हमारा सन्देश किसी तक पहुँचाने वाले हैं वे हमारा "मुख'' हैं, जिन्होंने दिल में वावा को विठाया हुआ है वे हमारा "हार्ट'' हैं। इन सबका जो मुखड़ा है ये बाबा को प्रत्यक्ष करने वाली चैतन्य मूर्ति हैं। ये सब जो वावा के ज्ञान को सुनने वाले हैं ये हमारे "कान'' हैं। इस प्रकार का भाव मन में रखते हुए हमें अपने सहयोगियों को वावा के हैन्ड्स, बावा के कंधे अथवा हमारे हाथ, हमारे कंधे इत्यादि समझना चाहिए। जैसे हम अपने शरीर के किसी भाग को पीड़ा नहीं देते, वैसे ही हमें भी इनमें से किसी को पीड़ा नहीं देनी चाहिए। जैसे हम अपने अनुभवों को स्वस्थ, सुदृढ़ और सुडौल रखते हैं वैसे हमें भी उनको उन्नति अवस्था में रखना है।

(vii) हमें ये सदा ख्याल रहना चाहिए कि हर कोई उन्नति करें, आगे वढ़ें – ये हमारी ज़िम्मेवारी है क्योंकि वे हमारे पास आये हैं और किसी अंश में हन पर भरोसा करके चल रहे हैं। परन्तु वावा ने हमें इसमें निमित्त बनाया है।

(ix) हमने न केवल इन द्वारा विश्व की सेवा करानी है वल्कि हमें स्वयं इनकी भी सेवा करनी है। इससे ये और अच्छी सेवा कर पायेंगे।

(x) इनमें से कई वारिस वनेंगे, कुछ हमारे मित्र-सम्बन्धी होंगे, कुछ प्रजा में आयेंगे। अतः हम जो सुखमय सृष्टि की स्थापना के निमित्त हैं, हमें इनमें से किसी को भी दुःख का लेशमात्र भी नहीं देना है क्योंकि यों भी हमारे लिये कोई पराजन (पराया) तो है नहीं परन्तु ये तो हमारे स्व-जन हैं ही।

यदि सहकारी या सहयोगी में से किसी के संस्कार ऐसे हैं कि उनसे हमारे

मिलता और वे रुकावट या समस्या बन जाते हैं तो हमें ये समझना चाहिये कि इनमें वो आत्मायें भी हैं जो हमारे साथ अपना हिसाब-किताब चुक्ता करने के लिये आई हैं। अत: हमारे मन में पहली भावना यही होनी चाहिए कि – "भले पधारे"!! बाद में यदि स्थिति ठीक न हो तब उसके उपाय सोचने होंगे।

३. अवस्था का व्यवस्था में सम्बन्ध

जैसे वृत्ति का वातावरण पर प्रभाव पड़ता है और कहावत है कि संकल्प से सृष्टि रची जाती है अथवा यह भी कहा गया है कि जैसा रचयिता हो वैसी रचना होती है, ठीक उसी प्रकार जैसी हमारी अवस्था होगी वैसी ही हमारी व्यवस्था भी होगी। व्यवस्था को दिव्य, सुन्दर, सफ़ल और सहज बनाने के लिये हमारी अवस्था का ठीक होना आवश्यक है और उसके लिये ये ज़रूरी है कि जो विधि और व्यवहार हम अपनायें उसमें विशेषतया निम्नलिखित गुण हों –

(i) **स्नेह हो** – स्नेह से एकता बनी रहती है। टीम स्पिरिट (Team Spirit) कार्य करती है और उस संगठन में बल आता है तथा कार्य करने में रुचि बनी रहती है और थकावट कम महसूस होती है। स्नेह टॉनिक (Tonic) का काम करता है और चुम्बक का भी तथा चाश्नी का भी।

(ii) **न्याय हो** – अन्याय के वातावरण में मनुष्य अन्दर से विद्रोह की भावना अनुभव करता है और अलग होने की सोचता है। इस प्रकार अन्याय से एकता टूटती है। भले ही किसी में त्याग की भावना हो परन्तु लगातार अन्याय का वातावरण देखकर मन में भी दूरी आने लगती है। न्याय ईश्वरीय गुण है और ईश्वर की सन्तान होने के नाते हमें भी अपने व्यवहार और व्यवस्था में इसे लाना चाहिए। इससे हम स्वयं भी निर्भय बनते हैं और निश्चिन्त होते हैं।

(iii) **सद्भावना हो** – सद्भावना के जल से सींचने से ही आत्माओं का विकास होता है। हमारी सद्भावना दूसरों के लिये कवच अथवा औषधि का काम क़रती है। इससे ईर्ष्या का बीज मिट जाता है और वातावरण में हर्षोल्लास आता है और काम करने वालों की क्षमता बढ़ती है।

(iv) **सहयोग हो** – जहाँ किसी का कार्य रुक गया हो वहाँ उसे बुरा-भला कहने की बजाय उसे सहयोग देकर कार्य को संवारना ही अच्छी व्यवस्था का चिह्न है। आलोचना (Criticize) करने की बजाय अपनी अंगुली (Co-operation) देना ही योगी का लक्षण । इससे ही हम एक-दूसरे के नज़दीक आते हैं और ईश्वरीय सेवा के लिये न्योछावर होने

को तैयार हो जाते हैं।

(v) **दिव्यता हो** – जिनके साथ हम कार्य करतें हैं उनके साथ हमारे व्यवहार में दिव्यता और शिष्टता का सम्बन्ध होना चाहिये क्योंकि वे सभी शिवबाबा के साहेबज़ादे और भविष्य के शहज़ादे हैं।

(vi) **नम्रता हो** – जो निमित्त होते हैं उन्हें नम्रता से काम लेना होता है। सतयुग के राजा-महाराजा भी पिता के समान होते हैं। अतः हुकूमत (Bossism) नहीं बल्कि एक-मत (विधि) से चलना ही अच्छी व्यवस्था करना है। आजकल की भाषा में लोग अपने साथ कार्य करने वालों को "सहकारी" (Colleages) कहते हैं और कम्युनिष्ट देशों में कामरेड (Comrades), परन्तु यहाँ यह मर्यादा है कि हम सबको "बहन-भाई" समझते हैं। हाँ, बड़ों के लिये सम्मान और छोटों के लिये स्नेह तो रखते ही हैं परन्तु दोनों के प्रति मान-मर्यादा से चलते हैं।

(vii) **पारिवारिक अनुभूति हो** – जिनके साथ हम कार्य करते हैं, भले ही उनमें से कोई कराने वाले और कोई करने वाले हैं परन्तु सभी में यह अनुभूति होनी चाहिए कि हमारा ये अपना एक रूहानी परिवार है, जिसके हम सब सदस्य हैं। काम की जगह काम हो और इन्तजाम भी हो परन्तु हमारे मन में पारिवारिक अनुभूति हो और वो अनुभूति होते हुए भी हम में न्यारापन हो। इससे ही ये झलक मिलेगी कि नये विश्व में भ्रातृत्व और पारिवारिक भावना कैसी होगी? मधुबन की व्यवस्था से बहुत से लोग यही अनुभव करके जाते हैं कि हर कोई अपना कार्य कर रहा है परन्तु ये किसके कहने से कर रहे हैं – यह उन्हें देखने में नहीं आता। इसको देखकर वे कहते हैं कि "हमें भी यहाँ रख लो; ये तो स्वर्ग है।" गोया स्वर्ग की ये एक निशानी है जो हमें समझानी नहीं पड़ती।

४. संस्कारों का अवस्था और व्यवस्था पर प्रभाव

पहले यह बताया जा चुका है कि व्यवस्था का अवस्था से सम्बन्ध है। परन्तु अनुभव से ये स्पष्ट होता है कि अवस्था संस्कारों से भी प्रभावित होती है। जो व्यवस्था करने वाले हैं और जिनके लिये जो व्यवस्था की जाती है, उन दोनों के संस्कारों से, अवस्था का व्यवस्था से, व्यवस्था का अवस्था से सम्बन्ध है। मुख्य रूप से निम्नलिखित नकारात्मक संस्कार व स्वभाव व्यवस्था में प्रदूषण लाते हैं –

(१) लगाव का संस्कार

जिनकी 'लगाव' और 'झुकाव' वाली अवस्था है, वे कुछ-एक से पक्षपात करते हैं और दूसरे किसी से मनमुटाव। एक के बारे में सोचते हैं कि यह मेरा हैन्ड है

मेरेपन की भावना होती है और दूसरे की अवहेलना (Neglect) या उसे रद्द करना (Reject) या उसके अच्छे कार्योपर भी ध्यान न देना (Overlook करना) अथवा उनसे अन्याय करना उन्हें कठिन और अधिक कार्य सौंपना, उनके आराम इत्यादि पर ध्यान न देना तथा उनसे घटिया व्यवहार करना। इससे कार्य करने वालों में परस्पर मनमुटाव शुरु हो जाता है और यह आवाज सुनी जाती है कि फलाना उसका मंजूरेनज़र (Favourite) है और कि यहाँ न्याय नहीं होता है।

किसी के प्रति ये लगाव और झुकाव कई कारणों से हो सकता है। एक कारण ये हो सकता है कि वह व्यक्ति हमारी प्रशंसा करता है अथवा जो लोग हमारी निन्दा करते हैं, उनका समाचार हमें आकर सुनाता है अथवा हमारी व्यक्तिगत सेवा करता है।

जिस व्यक्ति में अधिक गुण हों, जो कार्य में अधिक सक्षम हो, जो ज़िम्मेवारी से काम निभाता हो, जो विश्वसनीय हो और वफादार हो उसके प्रति हमारा अधिक स्नेह होना स्वाभाविक है और उसे "राइट हैण्ड" समझना भी स्वाभाविक है जो व्यक्ति इसके विपरीत गुण वाला हो उसस काम लेने-देने में अन्तर मासूस होना भी स्वाभाविक है। परन्तु दूसरों के प्रति भी हमारा स्नेह, उनसे हमदर्दी, उन्हें आगे बढ़ाने की भावना बनी रहनी चाहिए और यह सोचकर कि सभी में परिवर्तन हो रहा है, उनमें भी परिवर्तन लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) स्वार्थ एवं आसक्ति

जिनमें स्वार्थ एवं आसक्ति होगी, उनकी अवस्था ऐसी बनेगी की सेवा में प्राप्त हुई चीज़ों को अपने ही प्रयोग के लिये इकट्ठे करने लगेंगे। त्यागी, दानी और वरदानी बनने की बजाय, वे वस्तुओं और साधनों में आसक्ति का व्यवहार करेंगे। इससे व्यवस्था का सारा ढांचा बिगड़ने (Corrupt nesves) की सम्भावना है। और त्याग तथा ट्रस्टीपन की भावना की बजाए आसक्ति और अनुरक्ति का वातावरण बनने की सम्भावना है। भाव तो यह रहना चाहिये कि मेरा कुछ भी नहीं, जो कुछ है बाबा का है, यज्ञ भगवान का है और अमानत है। जब मेरा ही सब-कुछ बाबा का हो चुका तो दूसरों का दिया हुआ 'मेरा' कैसे हो सकता? उसे अपने लिये आसक्ति से स्वीकार करना तो एक प्रकार से अमानत में ख्यानत है और इस कारण सद्गुण के गुण के विरुद्ध है। आसक्ति और स्वार्थ होने का अर्थ है — 'नियत खराब होना।' इससे तो व्यवस्था दुर्व्यवस्था हो जायेगी जैसे कि दूर्योधन

और दु:शासन का शासन कुशासन बन गया था।

(३) प्रभुत्व का संस्कार अथवा स्वभाव (Dominant)

इसके निम्नलिखित लक्षण होंगे –

(i) हुकूमत चलाना अर्थात् सदा ऑर्डर करते रहना।

(ii) किसी को अपने से आगे (Senior) या अच्छा न समझना और आगे न बढ़ने देना।

(iii) सभी को दबाकर रखना। उन्हें कार्य की थोड़ी भी स्वतन्त्रता न देना।

(iv) कार्य की सफ़लता का सारा यश स्वयं लेना।

(४) गफ़लत अथवा अलबेलेपन का स्वभाव व संस्कार

ये संस्कार भी व्यवस्था में बहुत विघ्न उपस्थित करता है। व्यवस्था करने वालों को काफी ज़िम्मेवारी महसूस करनी पड़ती है परन्तु अलबेलेपन का संस्कार व्यवस्था को बिगाड़ता है। इसके निम्नलिखित मुख्य चिह्न हैं–

(i) क्या हो रहा है – उस पर ध्यान न देना (Lack of Supervision)

(ii) प्रोग्राम का समय नज़दीक आ गया है तो भी योजना न बनाना और इसके परिणामस्वरूप आखिरी समय पर खलबली मचाना और सबको तनाव में लाना।

(iii) कोई मन से ठीक नहीं है तो भी उसकी परवाह न करना। उसकी बात सुनकर, उसको स्नेह देकर, उत्साह में लाकर, उसकी मलहम पट्टी न करना।

(iv) सहयोगियों ने खाया या न खाया, आराम किया या न किया, उनकी तबियत ठीक है या उन्हें कोई कठिनाई है इसकी परवाह न करना और पता भी न करना।

इन सबके परिणामस्वरूप इस व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करने वाले कुछ समय के बाद असन्तुष्ट रहने लगते हैं और कार्य में भी बाधा या विघ्न उपस्थित करते हैं।

(५) अस्थिर विचार और समय पर निर्णय न लेने की आदत (Indecision and Instability)

इनकी निम्नलिखित मुख्य अभिव्यक्तियां होती हैं–

(i) अपने विचार अस्थिर होने के कारण योजना को बार-बार बदलना। जिन्हें जो कार्य (Duties) दिये हुए हैं उन्हें बदलना। इस प्रकार सभी को हलचल में लाना और अपसेट

(Upset) करना। अभी उन्होंने कार्य सम्भाला ही होता है, शुरू करने का माहौल बनाया ही होता है और कुछ शुरू भी किया होता है और ऐसी स्थिति में उन्हें वहाँ से बार-बार उखाड़ने से उनका मन ही अखड़ जाता है और उत्साह कम हो जाता है और मन में सदा यह भाव रहता है कि अभी जो ड्यूटी दी गई या योजना बनी है, पता नहीं वह भी फाइनल है या नहीं? इस प्रकार वह व्यवस्थापक को एक कुशल व्यवस्थापक न मानकर उसे बदलूराम या 'लुढ़कने वाला लोटा' समझते हैं।

(ii) निर्णय न ले करके आगे पर टाल देना (Postpone)। इससे भी लोग धीरज खो बैठते हैं और कहने लगते हैं कि यहाँ फैसला तो होता नहीं। या तो वे यह कहकर अपनी-अपनी करने लगते हैं कि आखिर कब तक रुके रहेंगे या बाद में फैसला होने पर जब उन्हें ज़ल्दी-ज़ल्दी करने को कहा जाता है तो वे मन में या वचन से कहते हैं कि पहले तो सोये रहें, अब जल्दी लगी है। अब हम भी धीरे-धीरे करेंगे। इस प्रकार अनुशासन में कमी आने कारण वातावरण बन जाता है।

(६) संवेदनशीलता (Sensitivity) का संस्कार इसके निम्नलिखित मुख्य चिह्न होते हैं–

(i) झट से किसी बात को महसूस कर लेना। व्यवस्था करने वाले को हरेक की बात सुननी पड़ती है। कई लोग योजना में नुक्स निकालते हैं, अन्य कई कार्य पद्धति को ठीक नहीं समझते, कई ईर्षा के कारण विरोध करते हैं, अत: वे कुछ टीका-टिप्पणी करते हैं। उनकी बात को स्वयं में समाना ज़रूरी होता है। वरना परस्पर द्वेष और असहयोग या कहा सुनी का वातावरण बन जाता है। जिससे सेवा छूट जाती है और सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। उनकी बात सुनकर उन पर विचार करना, ठीक बात पर विचार करना और ग़लत बातों के बारे में अपने विचारों को गम्भीरता और नम्रता से रखना और निराश न होकर अपने कार्य में लगे रहना ज़रूरी होता है।

(ii) अपनी इज्ज़त और मान-शान का अधिक ख्याल होना। संवेदनशीलता (Sensitivity) और अभिमान (Ego) के कारण ही हर-एक बात को प्रतिष्ठा का प्रश्न (Prestige Issue) बना लेना ठीक नहीं होता। रायल्टी से तो चलना ही चाहिये परन्तु सदा सबसे केवल मान-शान की कामना करना भी एक बहुत बड़ी कामना (Demand) है। संसार में कई लोग अंगुली उठाते हैं, हमें उनको न देखकर शिवबाबा को सामने रख और इज्जत की लज्जत का भोगी नहीं बनना बल्कि मान-अपमान से ऊपर उठकर योगी बनना है।

(iii) संवेदनशीलता के कारण ही थोडी-सी बात को ज्यादा और हल्की बात को

भारी बना देना है और इस प्रकार से ग़लती करने वाले को ज्यादा कष्ट देते हैं। इसमें भी आपस में मन की दूरी हो जाती है और चाहे कारण ठीक भी हो परन्तु परिस्थिति बिगड़ जाती है। वास्तव में बात को समा लेना व परिस्थिति को सम्भाल लेना और इसके लिये झुक जाना, किसी-किसी बात को चला लेना व्यवस्थापक के लिये ज़रूरी है।

(७) जल्दी से घबराने या मायूस (Nervous) होने का संस्कार

इसकी निम्नलिखित मुख्य अभिव्यक्तियां होती हैं –

(i) सफ़लता में थोड़ी देर या कमी हुई तो मायूस हो जाना, उदास हो जाना, चेहरा उतर जाना, मूड सीरियस हो जाना और काम करने से मन हट जाना।

(ii) कार्य में कुछ विघ्न उपस्थित हुए, कोई कठिनाई आई, कोई प्रगति रुक गई तो घबराहट मासूस होना, चिन्ता लग जाना, हाथ-पांव ढीले हो जाना, छोड़कर बैठ जाना, अपने को ही अयोग्य समझ आत्म-विश्वास खो बैठना और आगे के लिये कार्य की ज़िम्मेवारी लेने में ही आनाकानी करना।

इस तरह के संस्कार से कोई भी बड़ा कार्य नहीं हो सकता। बाबा ने तो 'विघ्न-विनाशक' बनने के लिये कहा है और विघ्नों को योग-बल से समाप्त करने का मार्ग दिखाया है। अत: योग को अधिक पावरफुल बनाने की बजाय और शिवबाबा को अपना साथी समझने की बजाय स्वयं को एक निमित्त मानकर हार-जीत में समान भाव धारण करने की बजाय उतार-चढ़ाव वाली अवस्था धारण करना तो गोया विपरीत मार्ग अपनाना है। ये विघ्न ही तो हमारी अवस्था की कसौटी है। इनको पार करने के लिये ही तो हमें योग का प्रयोग करना है। अटल, अखण्ड और निर्विघ्न राज्य स्थापन करने के लिये तो इन विघ्नों को टालना और इनको मूलाच्छेदन करना ही तो हमारा पुरुषार्थ है।

(८) जल्दीबाजी का संस्कार

इसके निम्नलिखित लक्षण होते हैं–

(i) दूसरों की रफ्तार का ध्यान न रखकर उनकी क्षमता से अधिक तेज़ होने के लिये उन्हें बार-बार नोक-झोंक करके परेशान करना।

(ii) जल्दीबाजी में काम बिगाड़ देना और फिर मायूस हो जाना।

(iii) धीरज और सन्तुलन से काम न करना।

कार्य करने और कराने की गति तो तीव्र होनी ही चाहिए परन्तु जैसे रेलगाड़ियों की स्पीड अलग-अलग होती है और हरेक मशीन की क्षमता अलग होती है, वैसे ही हर-

एक मनुष्य की भी क्षमता अलग होती है। उससे अधिक तीव्र गति की अपेक्षा करना गोया अपने हाथ से अपने सहयोगियों को गँवाना और तीव्रता की बजाय माथे पर तेवड़िया देखने का उपाय करना है।

(९) फ़ज़ूलखर्ची का संस्कार

जहाँ कम खर्च करने से काम चल सकता है वहाँ अपनी लापरवाही या फ़ज़ूलखर्ची की आदत से महंगाई से काम करना या ज़रूरत के बिना चीजें इकट्ठी करना गोया अपने सिर पर कर्ज का बोझ उठाना है। फ़ज़ूलखर्ची का सहयोगियों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है और या तो वे स्वयं भी फ़ज़ूलखर्ची करने लगते हैं और या व्यवस्थापक की ये कमी उन्हें बड़ी खलती है। उत्तम व्यवस्था के लिये ये ज़रूरी है कि "कम खर्च बाला नशीन" की उक्ति के अनुसार कार्य किया जाये।

(१०) कंजूसी का संस्कार

जहाँ खर्च करना चाहिए वहाँ न करना – ये भी एक ऐसा संस्कार है जिससे कार्य का स्तर घटिया हो जाता है और साथ में कार्य करने वाले भी तंग आ जाते हैं। जहाँ तक हो सके हमें किफायत से अर्थात् कम खर्च करके कार्य करना ही चाहिये परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'सस्ता रोये बार-बार' वाली नीति को अपनायें और ऐसा कार्य करें जो प्रभावशाली और स्थाई तथा टिकाऊ न हो।

(११) स्वयं जो हैं उससे ज्यादा समझना
(Over-estimation of the self)

यदि व्यवस्था का कार्य करने वाला कोई व्यक्ति अपनी शक्ति या क्षमता को न पहचान अपने को अधिक मानकर अधिक कार्य अपने ज़िम्मे ले लेता है अथवा दूसरों को उनकी सामर्थ्य से अधिक कार्य दे देता है तो वह अपनी इस आदत के परिणामस्वरूप कार्य को ठीक रीति नहीं कर पाता।

(१२) स्वयं को कम समझना
(Under-estimation of the self)

कई व्यक्ति अपने गुणों और अपनी शक्तियों की ओर ध्यान न देकर केवल अपनी कमियों को ही देखते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनमें कार्य करने की पूरी क्षमता का प्रयोग नहीं हो पाता और वे अपने सद्‌गुणों का प्रयोग नहीं कर पाते।

इस प्रकार अपने वारे में दीन भाव भी हानिकर है। इस तरह के स्वभाव को नोट करके लोग प्रायः ऐसे व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार नहीं करते जो स्वयं वहुत-कुछ (Too-much) या असमर्थ मानता हो। इसीलिये वास्तव में अपने आपको सही समझना भी व्यवस्था के लिये ज़रूरी है। तभी कार्य की मात्रा का, सहयोग देने वाले मनुष्यों का और उपलब्ध साधनों का ठीक मूल्यांकन हो सकेगा।

(१३) दूसरों का अधिक आधार लेने की आदत (Over-dependence on others)

इस संस्कार से भी कार्य तथा व्यवस्था में बाधा उपस्थित होती है। यदि किसी के व्यक्तित्व में दूसरों पर निर्भर करने की ज्यादा आदत है तो वे उस कार्य में उस व्यक्ति के उपस्थित न होने पर अथवा सहयोग न देने पर कार्य को ही छोड़कर वैठ जाते हैं। कुछ लोगों का आश्रय लिये बिना वे कार्य को शुरु ही नहीं करते। वास्तव में यह संस्कार भी दुःखदायी है क्योंकि अगर ऐसे संस्कार वाला व्यक्ति सहारा देने वालों के लिये रुकता है तो कार्य खराब होते हैं और अगर वह रुकता नहीं तो उसका कार्य ठीक होता नहीं।

(१४) शंका करने का संस्कार अथवा वहम की आदत

यदि व्यवस्था करने वाले अपने सहयोगियों की हरेक वात पर शंका करते हैं अथवा "कार्य समय पर पूरा होगा या नहीं" — इस वारे में शंका करेंगे तो वह जल्दी से अपने साथियों-सहयोगियों की सहानुभूति को खो वैठेंगे। कहा गया है कि 'वहम का कोई इलाज नहीं'। सदा शंकालू बने रहने की बजाय थोड़ी सावधानी से ही कार्य निकाल लेना चाहिए। साथ-साथ काम करने वालों में भी विश्वास करने से वे लोग भी व्यवस्था करने वालों में आस्था बनाये रखते हैं।

(१५) जल्दी विश्वास करने का संस्कार

जहाँ अधिक शंका करने का संस्कार ठीक नहीं, वहाँ जल्दी से एकाएक किसी पर विश्वास कर लेना भी खतरे से खाली नहीं। अतः सम्भालकर पांव रखना ज़रूरी है।

आ पहुँचा है' तो हमें साकार बाबा के समय-पालन (punctuality) करने की आदत का अनुसरण करना चाहिए।

(१७) ज़बान पर तीन तरह के कन्ट्रोल की कमी

(i) कुछ लोग ऐसे होते हैं जो समय से पहले ही दूसरों को बात बता देते हैं या बिना संयम के मन में जो आये कह डालते हैं, चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो। यह अपरिपक्वता (Immaturity) का चिह्न है।

(ii) दूसरे वे भी होते हैं जो मधुर न बोलकर कटु बोलते हैं और धीरे से न बोलकर, डांट-डपट कर या हल्ला-गुल्ला करके करते हैं। इससे भी काम करने वाले सहयोगी बिगड़ जाते हैं और अपमानित महसूस करते हैं।

(iii) तीसरे वे होते हैं जो हर थोड़ी देर के बाद कुछ-न-कुछ आलोचना (Comment) करते रहते हैं, तुनका लगाते रहते हैं या फब्तियां कसते रहते हैं। इससे वे अपनों को ही बेगाना बना देते हैं और काम को करना चाहने वाले भी अपनी इज़्ज़त बचाने के लिये काम को छोड़कर चले जाते हैं। अत: व्यवस्था वालों को अपनी जबान पर बड़ा कन्ट्रोल चाहिये। वरना थोड़ी जबानदाराज़ी (Talkativeness) से अथवा वाचाल या बातूनीपन की आदत से बिना पेट्रोल के आग भड़क उठती है और गड़े हुए मुर्दे भी बाहर आकर भूत बन जाते हैं।

(१८) ग़लती करके भी अकड़ने का संस्कार

कुछ-एक की यह आदत होती है कि वे ग़लती करके भी कभी उसके लिये अफसोस (Sorry) नहीं करते। यह सोच करके कि वे बड़े हैं, वे अपने हाव-भाव से, अपने चेहरे से, अपने लहजे से किसी तरीके से भी यह प्रकट नहीं करते कि वे मानते हैं कि उन्होंने ग़लती नहीं की। इससे न केवल उनके साथ कार्य करने वाले उन्हें अभिमानी और अहंकारी मानने लगते हैं वल्कि वे स्वयं भी उद्दण्डता अथवा अकड़पन को अपना लेते हैं। वे भी ग़लती होने पर 'सॉरी' (Sorry) नहीं करते। इससे व्यक्तियों को सुधारना और कार्य को संवारना कठिन हो जाता है और ग़लती वाले से ग़लती मनवाना मुश्किल हो जाता है। अत: कम-से-कम हंसते हुए ही यह कह दिया जाए कि "मैं यह क्या कर बैठा!" अथवा "पता नहीं कि यह भूल मुझसे कैसे हो गई!" अथवा "यह क्या हो गया!" अथवा "ऐसा तो होना नहीं चाहिये था" अथवा "यह तो ठीक नहीं हुआ" या कम-से-कम चेहरे से हंसी प्रकट कर दी जाए कि यह किसी तरह से हो गया है परन्तु दुरुस्त नहीं है। इस

कथन से कहने वाले की इज़्ज़त कम नहीं होती बल्कि लोग उसकी महिमा में वृद्धि करते हुए कहते हैं कि – 'देखो जी ये इतने बड़े व्यक्ति हैं फिर भी कितने विनम्र हैं, दिल के साफ हैं, झुक कर बात करते हैं, इनमें अभिमान नहीं है'' इत्यादि। और इससे उनमें भी आदत आती है कि वे भी अपनी ग़लती मान लेते हैं।

(१९) इधर-उधर दिल का हाल लेने की आदत

कुछ-एक का यह संस्कार होता है कि वे अपने स्तर के या अन्य किसी स्तर के किसी भी व्यक्ति को निष्प्रयोजन ही दिल का हाल देते रहते हैं, भेद की बात बताते रहते हैं या दूसरे व्यक्तियों के बारे में चर्चा करते रहते हैं या परिस्थितियों का परिचय देते रहते हैं अथवा अपनी चिन्ताएं व्यक्त करते रहते हैं या बीती बातों का बस्ता खोल बैठते हैं। इससे भी व्यवस्था में अड़चनें आती हैं। कई लोग उसका नाज़ायज़ फायदा उठाते और वे एक-न-एक दिन अपनी ग़लती करने पर कह बैठते हैं कि "आप से भी तो ऐसा कई बार हुआ है।" और जब उन्हें टोका जाता है या उनसे पूछा जाता है कि कौन कहता है तो वे उत्तर देते हैं कि "आप ने स्वयं ही तो बताया था।"

(२०) बात-बात में धमकी देना

कुछ लोगों का यह संस्कार होता है कि वे बात-बात में धमकी देते हैं। जिन्हें धमकियां दी जाए वे साथ नहीं देते, सहयोगी नहीं बनते, उनका स्नेह-भाव टूट जाता है ओर वे सेवा को छोड़ देते हैं। यदि बार-बार किसी को डांट-डपट कर यह धमकी दी जाए कि 'हम आपको यहाँ से निकाल देंगे', 'आपको कोई काम नहीं देंगे' अथवा ' हम सब लोगों को आपकी यह कमी बता देंगे', इत्यादि-इत्यादि तो वह व्यक्ति धमकी देने वाले से पहले ही उसकी कमियों को नोट करके लोगों को बताने लगता है और धमकी देता है कि – "अच्छा हम भी आपको देखेंगे" अथवा "आपको ऐसा मज़ा चखायेंगे कि आप भी याद रखेंगे।" अत: धमकी देना तो बने-बनाये संगठन अथवा काम को बिगाड़ने वाली बात है। सेवा में ज्ञान का धमाका करने की बजाय सहयोगियों को धमकी देना तो ग़लत कदम है।

(२१) सनकीपन इत्यादि का संस्कार

कुछ लोग स्वभाव से सनकी (Impulsive) है। अन्य कुछ अपनी आदत से (Complsive) अर्थात् आदत के गुलाम होते हैं और अपने उच्च उद्देश्यों, [illegible] और मर्यादाओं के विरुद्ध कार्य कर देते हैं जिनसे व्यवस्था में विघ्न आता है.

भंग होता है, संगठन में अनीति फैलती है।

अन्य कुछ लोग कार्य तो अच्छा करते हैं परन्तु उनकी विधि अथवा उनका व्यक्तित्व ऐसा होता है कि वह दूसरों को दूर करने वाला (Repulsive) होता है। उनमें चुम्बकीय आकर्षण न होकर विकर्षण होता है। क्योंकि वो कार्य करने के तरीके ही ऐसे अपनाता है। अन्य कुछ लोग अनाप-शनाप बोलने वाले (Abusive) होते हैं और दूसरों को झट से 'बेवकूफ' आदि शब्द कह देते हैं।

कुछ ऐसे भी होते हैं जो सब स्वयं ही करना चाहते हैं और सारा यश स्वयं ही बटोरना चाहते हैं। दूसरे यदि उसमें शामिल होना चाहें तो वे उन्हें शामिल होने ही नहीं देते। इससे टीम नहीं बनती। कार्य में सबकी आहुति नहीं पड़ती, सबकी आशीर्वाद, सबकी शुभ कामना शामिल नहीं होती ये लोग दूसरों को छोड़ देने वाले (Exclusive) होते हैं।

५. व्यवस्था में सफ़लता के लिये ध्यान देने योग्य बातें

(i) विचारों और योजना का स्पष्ट होना – सबसे पहले यह ध्यान रखने की ज़रूरत है कि हमारे अपने मन में लक्ष्य और योजना स्पष्ट हो और उसको प्राप्त करने के लिये मार्ग तथा साधन भी स्पष्ट हो और उसके लिये हम सहयोगियों को निर्देश भी स्पष्ट दें। यदि हमारे अपने स्वयं विचार लक्ष्य आदि उलझे हुए (Confused) होंगे तो सारी व्यवस्था में भी गड़बड़ी और उलझने रहेंगी।

(ii) सारे कार्य को ठीक रीति से सौंपना – जो कार्य जिसको दिया जाये वह उसकी योग्यताओं और उसकी क्षमता के अनुकुल हो और उसको उतनी ही मात्रा में दिया जाये और उनके कर्त्तव्यों और साधनों इत्यादि को स्पष्ट कर दिया जाए तथा जिस-जिस के साथ उसका लिंक (Link) या सम्बन्ध है और जिन्हें उसे सूचित करना है वह भी स्पष्ट कर दिये जायें परन्तु जिनमें जो योग्यता नहीं है, उसमें वह योग्यता लाने के लिये भी व्यवस्था होनी चाहिये। ताकि समय पर हमें दूसरे भी सहयोगी मिल सकें।

(iii) व्यवस्था ऐसी हो कि **हरेक कार्यकर्ता को उन्नति का वातावरण और अवसर मिले** और सबको अपना भविष्य (Prospectus) स्पष्ट हो।

(iv) स्वयं साधनों और साधना का बैलेन्स रखना – यदि स्वयं हमारी कार्य पद्धति में साधनों का बाहुल्य होगा और साधना को गौण रखा जायेगा तो अन्य भी साधना पर कम ध्यान देंगे।

(v) किसी को भी यदि उसकी ग़लती बतानी हो तो मर्यादित भाषा में बताई जायें। वह व्यक्ति यह महसूस न करे कि उसका अपमान किया जा रहा है।

(vi) राय करना और मिल सकने (Approachability) का सम्भव बनाना- यदि किसी को कार्य में कोई कठिनाई हो तो उसके लिये ये सम्भव हो कि वह उच्चस्तरीय व्यक्ति से मिलकर राय कर सके और उसके लिये वहाँ तक पहुँचना सम्भव हो यद्यपि उसके लिये कायदा बना हो।

(vii) छोटी-मोटी ग़लती को बर्दाश्त करना – यदि किसी से कोई छोटी-मोटी ग़लती हो तो चिल्लाने की बजाय इशारे से काम लिया जाय और उसकी परिस्थितियां पर विचार किया जाये और बरदाश्त भी किया जाये।

(viii) सफ़लता और असफ़लता में भागीदार – यदि लोग सफ़लता के लिये प्रशंसा करे तो यह स्पष्ट किया जाये कि यह सारा टीम वर्क है या सबके सहयोग से ही यह फल निकला है। ऐसा न हो कि सफ़लता का श्रेय स्वयं स्वीकार किया जाये और असफ़लता और कमी होने पर दूसरे को दोषी ठहराया जाये। यदि कोई दोषी है तो यह बात भी अपने परिवार में ही सीमित रहे और किसी अन्य को स्पष्ट करते समय कोशिश यह रखी जाये कि कमी बताई जाये लेकिन जहाँ तक सम्भव हो दोषी का नाम प्रसिद्ध न किया जाये।

(ix) लक्ष्य और साधन दोनों की नैतिकता पर बल – न केवल लक्ष्य ऊंचा रखा जाये बल्कि उसको प्राप्त करने के लिये साधनों की भी नैतिकता को भी बनाये रखें।

(x) स्नेह और अनुशासन का सन्तुलन – जिनके साथ मिलकर हम कार्य करते हों उनके साथ हमारा स्नेह भी हो परन्तु हम अनुशासन का उल्लंघन न करें। नज़दीक भी आएं परन्तु थोड़ा न्यारापन भी रखें।

(xi) सम्मान के लिये आज्ञा या मांग करने के बजाय सम्मान के योग्य बनना- सम्मान के लिये सदा मांग (Demand) करने की बजाय यदि हम स्वयं उसके योग्य बनेंगे तो अन्य स्वत: ही सम्मान देंगे। इसके लिये आवश्यक है कि हमारी अवस्था ज्ञानयुक्त योगयुक्त और धारणायुक्त हो।

(xii) मेहनत करना – हम स्वयं जितना मेहनत करेंगे, हमें देख दूसरे भी उतना ही परिश्रम करेंगे। इसलिए करके दिखाना तथा संयम तथा एकाग्रचित्त बनना ज़रूरी है।

(xiii) ''त्याग से भाग्य'' के फार्मुले को याद रखना – हम अपने जीवन में जितना मान-शान का और सांसारिकता का त्याग करेंगे उतना ही स्वतः हमें सर्व प्राप्तियां होंगी, मांगना नहीं पड़ेगा बल्कि प्रकृति स्वयं दासी होगी।

(xiv) व्यवस्था में वर्णन, प्रेरणा और हस्तक्षेप के महत्व पर ध्यान देना – [illegible]

जितना हम मन को हल्का रखेंगे और बाबा की याद में रहेंगे उतना ही हमें बाबा की टचिंग मिलेगी, अच्छे-अच्छे विचार हमारे मन में आयेंगे और लोग हमारे सहयोगी बनते जायेंगे। अत: निश्चिन्त होकर हम मन को खाली रखें ताकि बाबा की प्रेरणाओं को पकड़ सकें।

(xv) निमित्त भाव – जितना हम शिवबाबा को मालिक मानकर स्वयं को निमित्त समझेंगे उतना ही कार्य सहज हो जायेगा।

(xvi) निश्चय और निशाना – जितना हमारे मन में यह निश्चय होगा कि सफ़लता तो हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है अथवा सफ़लता का तिलक तो बाबा ने लगा ही दिया है उतना ही अपनी अवस्था में बल भरेगा। जितना हम सोचें कि हम "विजयी रत्न" हैं या कि "हमें क्या चिन्ता करनी है, बाबा बैठे हैं", "हम तो बाबा की छत्रछाया में है", उतना ही सफलता होगी और यदि कोई कठिनाई आयेगी तो ऐसे ही दूर हो जायेगी जैसे "मक्खन से बाल सहज ही निकल जाता है"।

(xvii) व्यवस्था में हम सभी के उमंग और उत्साह – को बढ़ाते रहे और इस प्रकार सेवा करने वालों की भी सेवा करते रहें।

(xviii) सहयोगी बनना और बनाना – जब हम किसी को सहयोग देने से वंचित करते हैं तो उनके मन के प्रकम्पन्न वातावरण को बिगाड़ते हैं! अत: वृत्ति और वातावरण को ठीक बनाने के लिये तन से, मन से, धन से, योगबल से हरेक को सहयोगी बनाए और सबकी राय से राय मिलाकर, लय से लय, ताल से ताल मिलाकर चलें।

(xix) दूसरों की खुशी पर ध्यान देना – सहयोग देने वालों की जितनी स्थिति ऊंची होगी, उतना ही परिणाम भी ऊंचा निकलेगा। इसलिए कार्य के साथ-साथ हम उनकी स्थिति भी ऊंची बनाए। पहला स्थान स्थिति को दें और दूसरा कार्य को।

(xx) कुछ नवीन करने के लिये प्रोत्साहन देना – यदि कोई व्यक्ति नया सुझाव दे तो उस पर विचार कर हम उसे अवसर दें और सहयोग दें अथवा साथ दें।

(xxi) सेवा करने वालों में मनमुटाव मिटाना और एकता बनाए रखना – यदि सेवा करते-करते कुछ-एक का आपस में मनमुटाव हो जाता है या उनसे लगाव, झुकाव, तनाव पैदा होता है तो हमें चाहिये कि ध्यान देकर उसे ठीक करें और ईर्ष्या, द्वेष, नफ़रत को समाप्त करें और इस प्रकार एकता बनाए रखें।

(xxii) दिनचर्या पर ध्यान – सेवा करने वालों को मुरली, अमृतवेले का योग इत्यादि न छुड़वाएं जब तक कि अत्यन्त मज़बूरी न हो। यदि कुछ समय तक उनकी दिनचर्या बिगड़ गई तो उससे उनकी अवस्था ठीक नहीं होगी फिर व्यवस्था में भी गड़बड़ी होगी ... समस्यायें पैदा होगी।

(xxiii) जहाँ अनेकों का कनेक्शन हो वहाँ मीटिंग करना, ताकि सबको वो ज़रूरी जानकारी मिल जाए और सबकी राय ले ली जाए। वैसे भी यदि कभी कोई राय देता है तो उसे सुनना चाहिए ताकि सब स्वयं को इस व्यवस्था का हिस्सा (Participants) समझें।

(xxiv) समस्या नहीं, समाधान बनो – हमारे कार्य करने का और व्यवस्था का तरीका ऐसा हो जो हम भी दूसरों के लिये समस्या न बनें और दूसरे भी हमारे लिये समस्या न बनें और समस्याओं का समाधान होता जाए। इसके लिये हमें अपने जीवन और व्यवहार पर खास ध्यान देने की ज़रूरत है।

(xxv) स्नेह को समाप्त न होने देना – जैसे मशीन को सुचारु रूप से चलाने के लिये तेल (Oiling) की आवश्यकता है और सफाई की भी, वैसे ही यदि हमारा मन साफ होगा और इस स्नेह को नहीं टूटने देंगे तो सारी व्यवस्था ठीक चलेगी अथवा एक आटोमेटिक मशीनरी की तरह से चलेगी जिसमें रगड़ या चीं-चीं क्रीं-क्रीं नहीं होगी बल्कि शान्तिपूर्वक कार्य चलेगा।

(xxvi) सुमधुर और संस्मरणीय अनुभव – जिनके पास हम कार्य करें उन सबके लिये हमारे कार्य करने के वो दिन संस्मरणीय और मधुर स्मृतियां दिलाने वाले हो जाएं और उसका वर्णन करते समय उनके मुख खिल उठें। और जैसे बाबा के लिये सब गीत गाते हैं कि "तुम्हारे साथ का अनुभव निराला है", वैसे ही भाव उनके मन में उठें।

(xxvii) शिवबाबा से मोहब्बत और उसको साथी बनाये रखना – सफलता का सबसे बड़ा साधन तो ये है कि हम शिवबाबा को सदा साथी बनाएं रहें और साक्षी होकर कार्य करें और अपनी स्थिति से दूसरों के मन को जीतें। शिवबाबा से जितनी हमारी मोहब्बत होगी उतना ही हमें मेहनत कम करनी पड़ेगी और सफलता अधिक होगी और हमारे विघ्न कम होंगे। इसके लिए बाबा से इस प्रकार मन ही मन बातें करते रहें –

१) बताओ क्या करना है?

२) अगर बड़ों ने बताया है – कैसे करना है?

३) जब करने लगें तो चलो करते हैं। आप केवल आर्शीवाद करना है।

४) यह कठिनाई – कैसे ठीक करना है?

५) बाबा हम आ गये।

६) बाबा हमने कर लिया, पास हो गये न?

७) बाबा हम करेंगे, आप मदद करना।

व्यवस्था

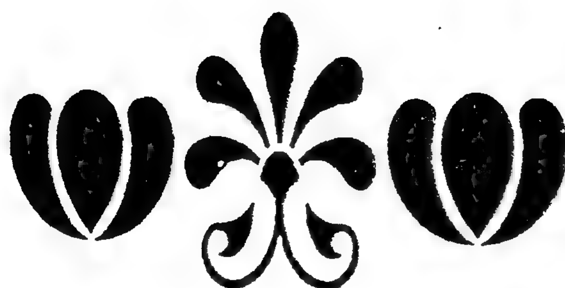
१) व्यवस्था प्रशासन कार्य – Duties hands की। (General Administrater)
२) व्यवस्था दिनचर्या की – हरेक की भी duties की Time-Management
३) व्यवस्था क्लास की।
४) व्यवस्था जिज्ञासु-सेवा की
५) व्यवस्था सेवा-योजना की
६) व्यवस्था कार्यक्रमों की (Programme Management)
७) व्यवस्था त्योहारों की। (रक्षाबन्धन आदि)
८) व्यवस्था आतिथ्य की।
९) व्यवस्था जिज्ञासुओं, संस्थाओं, V.I.Ps. इत्यादि के सम्पर्क की।
१०) व्यवस्था आबू यात्रा की
११) व्यवस्था भोग की।
१२) व्यवस्था बाजार से खरीद की
१३) व्यवस्था औषधि-उपचार की
१४) व्यवस्था यातायात की।
१५) व्यवस्था बिल्डिंग की देखभाल आदि की।
१६) व्यवस्था टेलीफोन, बिजली आदि के बिल की।
१७) व्यवस्था लिट्रेचर के हिसाब-किताब आवंटन (Supply) की।
१८) व्यवस्था लिखाई और छपाई की।
१९) व्यवस्था कुल हिसाब-किताब, भण्डारी और बजेट की।
२०) व्यवस्था जनरल धुलाई-सफाई आदि की।
२१) व्यवस्था यातायात, आरक्षण आदि की।

६. अनुशासनात्मक कार्यवाही

यदि संगठन में कार्य करने वाले किसी की अवस्था ठीक नहीं रहती और कोशिश करने के बाद भी बात नहीं सुधरती तथा ग़लतियां और नुकसान होते रहते हैं और दूसरों के साथ भी उनकी मानसिक दुर्घटनायें घटित होती रहती हैं तो ऐसा मासूस होता है कि न चाहते हुए भी कुछ कदम उठाये जाये और सबका समय व्यर्थ गंवाने की बजाय समस्या का कुछ समाधान दिया जाये। तो ऐसी स्थिति में परस्पर सम्मान (Dignity) का व्यवहार करते हुए और एक-दूसरे की कमी-कठिनाई की समझ (Understanding) देते हुए

उचित एवं न्यायपूर्ण कदम उठाया जाये ताकि न उनके विकर्म बढ़ते रहें और न परस्पर संघर्ष बढ़े। सबके भले की भावना को सामने रखते हुए जिस वरिष्ठ व्यक्ति का इस मामले से सम्बन्ध हो वह उसमें प्रशासनात्मिक (Administrative) अथवा अनुशासनात्मिक (Disciplinary) या पारिवारिक कदम उठाए और इस बात को आपस में सीमित रखते हुए जिस व्यक्ति को कोई ज़िम्मेवारी दी गई है, उससे उसे मुक्त कर दिया जाए। अगर उचित और ज़रूरी समझा जाए तो उसे अन्य और कई कार्य दे दिया जाए वरना नकारात्मक सम्बन्ध पर बिन्दु लगाया जाए।

अवस्था और व्यवस्था के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है कि एक प्रकार से 'सेवा-निर्देशिका' (Service Manual) अथवा सेवा मार्गदर्शिनी। (Guideliness of Service) अथवा 'सेवा संहिता' (Service Code) का एक भाग है। इसके दूसरे भाग, दूसरी बातों पर प्रकाश डालते हैं।



एक बल, एक भरोसे, की युक्ति – महावाक्यों के प्रसंग को जानना ज़रूरी

इस वर्ष 18 जनवरी को ब्रह्मा बाबा को अव्यक्त हुए 27 वर्ष हो जायेंगे। जैसे ब्रह्मा बाबा ने साकार रूप में सूक्ष्म-ग्राह्य अथवा अप्रत्यक्ष (Incognito) पार्ट बजाया था, कुछ वैसे ही उनका इन 27 वर्षों में भी ऐन्द्रिय रीति से अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म बुद्धि से ज्ञातव्य पार्ट चला है। इस विधि के पार्ट से हज़ारों आत्माओं को अपने बुद्धि के बल से पुरुषार्थ को सूक्ष्मता से जानने तथा करने का अवसर तो मिलता है, परन्तु कुछ-कुछ लोग, जिनकी बुद्धि लगाव, झुकाव, और मुटाव से मुक्त नहीं है या सूक्ष्म भाव को पकड़ने में असमर्थ है, उन्हें बाबा की गहन बातों की गहराई को समझने में कठिनाई भी होती है। इसलिये उन्हें जितना लाभ प्राप्त होना चाहिये, उतना वे नहीं कर पाते। इन महावाक्यों में दिव्यता, शक्ति तथा आनन्द का अधिकाधिक लाभ लेने के लिये आवश्यक यह है कि मुरली को सुनने या पढ़ने के अतिरिक्त वे उस पर एकाग्रता से मनन-चिन्तन करें। मनन-चिन्तन करने के लिये भी यह आवश्यक है कि उनकी बुद्धि उलझनों से फ़ारिग हो और उनका ध्यान एक बाबा ही की बात के गहन अर्थ को जानने में लगा हो। वे एक-एक महावाक्य रूपी रत्न का जब मूल्यांकन करेंगे और उसके मूल्य को अनमोल बना देंगे। इसके लिये पहले योगाभ्यास द्वारा अपने मन-बुद्धि की स्थिति को समतल करना ज़रूरी है। फिर भी अगर अच्छे स्तर का योग नहीं लगता है और मन में हलचल है अथवा कोई समस्या सामने है और उसके हल की खोज है, तो भी कम-से-कम इतना तो किया ही जा सकता है कि बुद्धि का ध्यान अव्यक्त धाम में बाबा की ओर ले जाकर ऐसा सोचा जाय कि प्रियतम बाबा इन अनमोल महावाक्यों का उच्चारण कर रहे हैं और इनसे मुझे हल मिलेगा। इस विधि द्वारा उन महावाक्यों से स्वयं में बल भरना ज़रूरी है। उस बल से और शिव बाबा पर अटल-अटूट भरोसे से सब समस्यायें सहज ही हल हो सकती ं जैसे योग का प्रयोग करना आवश्यक पुरुषार्थ है, वैसे ही इन महावाक्यों से मिलने वा बल का प्रयोग करना भी एक आवश्यक पुरुषार्थ है।

एक बल, एक भरोसा

साकार बाबा के जीवन में सभी ने सतत्-निरन्तर ये बात निरअपवाद रूप से देखी कि बाबा का समूचा जीवन 'एक बल, एक भरोसे' पर ही टिका था। शारीरिक बल, धन का बल, कानून का बल, सिफारिश का बल इत्यादि – ये अनेक बल बहुत बार कठिनाई

के समय काम नहीं भी आते।

मित्र-सम्बन्धी, संगठन, सभी पर भरोसा करके मनुष्य अपने जीवन को चलाता तो है परन्तु अन्त तक जो अमोघ बल काम में आता है वह नैतिकता का बल, चरित्र का बल, रूहानियत का बल, आत्म-विश्वास का बल और कर्म की महानता का बल ही होता है। दूसरे बल कई बार मनुष्य में अभिमान पैदा करते हैं और अभिमान से हानि अथवा असफ़लता भी होती है, परन्तु पूर्वोक्त रूहानी बल के प्रयोग से अगर कहीं हानि अथवा असफ़लता अथवा पराजय भी दिखाई दे, तो उसे भी सफ़लता, लाभ अथवा विजय ही मानना चाहिये। उस से उज्ज्वल भविष्य की नींव तो पड़ ही जाती है। भले ही सफ़लता रूपी इमारत अभी दिखाई न देती हो, परन्तु आगे चलकर वह सामने आती है। ऐसे ही एक शिवबाबा का ही भरोसा ऐसा है, जो मनुष्य को गिरने से बचाए रखता है। जो उस सर्व-समर्थ पर पूरा भरोसा करता है, उसके सिर पर लदा हुआ भार उसके सिर से उठ जाता है और उस भरोसे से ही उसकी भलाई होती है। ऐसा भरोसा करने वाला यदि सजग हो तो उसे सदा ईश्वरीय सहायता मिलती ही है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि समय पर बल और बचाव की बजाय उसे धोखा मिले। इसे आज़मा कर देखें। साकार बाबा के जीवन की सफ़लता का भी यह एक अचूक शस्त्र था। 'एक बल और एक भरोसा' — इन दो पतवारों से ही जीवन नैया को पार करने की विधि तथा सिद्धि उन्होंने अपने प्रैक्टिकल उदाहरण से सिखाई। किसी के ईश्वरीय सेवा के कार्य-क्षेत्र में यदि विघ्न आयें या व्यक्तिगत जीवन में कोई संघर्ष आ उपस्थित हो तो सादगी, सत्यता, सरलता, स्नेह, नैतिकता से जीवन व्यतीत करते हुए "**एक बल और एक भरोसा**" — यह फार्मूला अपनायें तो अवश्य सफ़लता मिलेगी।

प्रसंग को समझना ज़रूरी

यूँ बाबा के जीवन के विधि-विधानों से अनगनित प्रेरणायें मिलती हैं, परन्तु हम पहले ही बता आये हैं कि साधारण रूप द्वारा गुह्य भाषा में महावाक्य होने के कारण बहुत लोग उन महावाक्यों का मर्म समझ नहीं पाते। उसका एक कारण कई बार यह भी होता है कि उन्हें बाबा के किसी महावाक्य का प्रसंग (Context) ज्ञात नहीं होता। आख़िर जब-कभी कोई बात कही जाती है, तब वो किसी प्रसंग में ही तो कही जाती है। यदि वह प्रसंग ही न मालूम हो तो अलग-अलग लोग उसका अलग-अलग अभिप्राय अथवा अलग-अलग अर्थ निकालेंगे। वे अर्थ नहीं, अटकलें होंगी, तुक्का होगा इससे मर्म समझने की बात तो एक ओर रही, सुनने या पढ़ने वाले को भ्रांति भी हो सकती है और वो मार्ग से ...क

भी सकता है। अत: प्रसंग को जानना बहुत ही आवश्यक है। कोई बात किस अवसर पर, किन परिस्थितियों में, किन गुण-कर्म-स्वभाव वालों को, किस लक्ष्य से कही गयी – यह बोध ज़रूरी है। अत: यदि बाबा की वाणियों को पढ़ने से किसी के मन में कुछ ऐसे प्रश्न या ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं जो कि उसके मन को नहीं सुहाते या ज्ञान के प्रति उसके मन में अरुचि अथवा अमान्यता पैदा करते हैं, उसे ईश्वरीय विश्वविद्यालय से हटकर किसी दूसरी दिशा में जाने की उकसाहट पैदा करते है, तो उन्हें चाहिये कि वे पहले किसी वरिष्ठ बहन या भाई से उसके प्रसंग को जानने की कोशिश करें और उसके बाद ही ऐसा-वैसा नकारात्मक संकल्प करें। आज भी कई व्यक्ति प्रसंग को जाने बिना ग़लत अर्थ करके स्वयं भी सत्यता से वंचित होते और दूसरों को भी भ्रमित करते हैं। जो लोग बाबा के साथ रहे हैं, जिन्होंने सम्मुख मुरली सुनी हैं, जिन्हें सही प्रसंग ज्ञात है या जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है और जो नि:स्वार्थ और निर्मल जीवन वाले योगी हैं, सत्यान्वेषी पहले निष्पक्ष भाव से उन द्वारा प्रसंग को जान तो लें – यही प्रीति की रीति है। अपने मन के या किसी अन्य के बहकावे में आने से अपना बचाव करना भी तो आना चाहिये। जो बहकाता हो उसे भी सामने लाना चाहिये ताकि वह भी प्रसंग को जानकर भ्रान्ति से निकल सके। जनवरी के मास में हम प्यारे ब्रह्मा बाबा के श्री-मुख द्वारा विनि:सृत ज्ञानामृत का पान कर और अव्यक्त अनमोल महावाक्यों का अविनाशी धन ग्रहण कर स्वयं को धन्य-धन्य करने का पुरुषार्थ तीव्र करें और इसके लिये सही प्रसंग को जानें। बाबा के प्रति हमारे यही श्रद्धा-सुमन हैं। हमें जो भ्रान्त करता हो उसे बड़ों के सामने लाकर उसका भी भला करें। यही वफ़ादारी है। अटल निश्चय की यही निशानी है।

